
5-2

5.2



जपसंहिता।

अर्थात्

जपजी।

संस्कृतभाषा-हिन्दीभाषानुवादसहिता, तथा
हिन्दीभाषाभाष्योपबृंहिता।

अनुवादकर्ता, तथा भाष्यकर्ता—
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-उदासीनवर्य-निखिलशास्त्रनिष्णात-
पण्डितस्वामिहरिप्रसादवैदिकमुनिः।

मुद्रापयिता

मैनेजर—महेशौषधालय,

पापड़मण्डी, लाहौर।

मुद्रयिता
मैनेजर शान्तिप्रिय-बी०ए०, बाम्बे-मैशीन-प्रेसमोहनलाल-रोड, लाहौर
ने
स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनिजी के लिये छापा।

संवत् १९९० विक्रमी, सन् १९३३ ईस्वी।

प्रति १०००]　　मूल्यं　　[द्वितीयावृत्तिः

"प्राक्कथन"।

अरदास *।

"असतो मा सद् गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर् माऽमृतं गमय" (बृ० उ० १।३।२८)।

अर्थ—हे ईश्वर ! मुझे असत् से सत् में ले-जा अर्थात् सत् ईश्वर में निष्ठावाला कर। मुझे अन्धकार से प्रकाश में ले-जा अर्थात् सर्वात्म-दर्शी बना। मुझे मृत्यु से अमृत में ले-जा अर्थात् स्वाधीन जीवन दे।।२८।।

(१) "क्षात्रिय" ।

अष्टाध्यायी के कर्ता पाणिनि मुनि ने क्षत्रिय नाम का मूल शब्द 'क्षत्र' माना है। क्षत्र-शब्द का मुख्य अर्थ बल है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने ऋक्संहिता के अनेक मन्त्रों में उसका (क्षत्रशब्द का) प्रयोग बलके अर्थ में किया है। उनमें से नीचे लिखे कुछ मन्त्र उदाहरण के योग्य हैं—

"असमं क्षत्रम्, असमा मनीषा" = हे इन्द्र ! तेरा बल अतुल, तेरी बुद्धि अतुल (ऋ० १।५४।८)। "अथो ह क्षत्रम् अधिधत्थः उग्रा !" = और हे महातेजस्वियो ! निश्चय आप दोनों उसको बल देते हैं (ऋ०१।१५७।६)। "क्षत्रं द्यावापृथिवी ! धासथो बृहत्" = हे द्यौ और पृथिवी अर्थात् हे सब चराचर जगत् के पिता और माता ! आप हमें बड़ा बल दें (ऋ० ।१।१६०।५)। "क्षत्रं देवासो अदधुः सजोषाः" = हे मित्र और वरुण!आप दोनों में,परस्पर समान प्रीति वाले हुए(आपस में एक-मत हुए) सब देवताओं ने बल को रखा है (ऋ० ६।६७।५)। "ता हि क्षत्रं धारयेथे अनुद्यून" = वे आप निश्चय प्रतिदिन (सदा) बल को धारण करते हैं (ऋ० ६।६७।६)। "दूणाशं क्षत्रं अजरं दुवोयुः"- हे मरुतो ! परिचर्या (सेवा) की नित्य इच्छावाले राजा सुदास् में, न कभी नष्ट होने वाला और न जीर्ण (शिथिल) होने वाला बल हो (ऋ० ७।१८।२५)। "धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रम् आशतुः"=दृढ़ नियमों वाले,

---

* अरद+आस। षष्ठीतत्पुरुष। याचक की (याचक के मन की) स्थिति अर्थात् याञ्चा, प्रार्थना।

अथवा निश्चित कर्मों वाले, दोनों (मित्र और वरुण) क्षत्रिय, बल को व्यापे हुए अर्थात् सब बलों वाले हैं (ऋ० ८।२५।८)।

बल मुख्य दो हैं—एक ज्ञानबल और दूसरा क्रियाबल। ईश्वर से ले कर प्रकृति और प्रकृति के कार्यों तक सब पदार्थों (वस्तुओं) के ठीक ठीक जानने की शक्ति का नाम "ज्ञानबल" और सृष्टि, रक्षा, शासन, संहार आदि अनेक प्रकार (तरह) के कर्मों के करने की शक्ति का नाम "क्रियाबल" है। जो इन दोनों बलों से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् जिसमें ज्ञानबल और क्रियाबल, दोनों औत्पत्तिक (जन्म-सिद्ध) हैं, अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति (जन्म) से ही दोनों बलों वाला है, वह "क्षत्रिय" है। सायणाचार्य ने ऋक्संहिताके मन्त्रों(५।६९।१)(७।१०४। १३) (ऋ० ८।२५।८)(१०।६६।८)के भाष्य में क्षत्रिय नाम का यही अर्थ किया है और यही अर्थ ठीक है। जिस ज्ञानबल से कोई ज्ञानबल अधिक नहीं, जिस क्रियाबल से कोई क्रियाबल अधिक नहीं, अथवा यों कहो कि जो ज्ञानबल, सब ज्ञानबलों से अधिक है, जो क्रियाबल, सब क्रियाबलों से अधिक है, उसको निरतिशय ज्ञानबल, तथा निरतिशय क्रियाबल कहते हैं। 'निर्' का अर्थ 'न' और अतिशय का अर्थ अधिक है। न अधिक वाला अर्थात् जिससे कोई अधिक नहीं, यह निरतिशय शब्द का अक्षरार्थ है। और जो अधिक-वाला है अर्थात् जिससे कोई अधिक है, उसको सातिशय कहते हैं। ईश्वर में ज्ञानबल और क्रियाबल, दोनों निरतिशय और क्षत्रिय में दोनों सातिशय हैं, बस ईश्वर और क्षत्रिय, दोनों में इतना ही भेद है, दूसरा कोई भेद नहीं। इसी लिये शतपथब्राह्मण के श्रुतिवाक्य में क्षत्रिय को प्रत्यक्षतम ईश्वर कहा है। श्रुतिवाक्य यह है—

"एष वै प्रजापतिः प्रत्यक्षतमां, यद् राजन्यः। तस्माद् एकः सन् बहूनाम् ईष्टे" (शत० ५।१।५।१४)।

अर्थ—निःसन्देह यह साक्षात् ईश्वर है, जो क्षत्रिय है। इसी से एक होता हुआ बहुतों पर शासन करता है ॥१४॥

वैश्य, शूद्र और अन्त्यज, तीनों में ज्ञानबल तथा क्रियाबल,

बहुत अल्प और ब्राह्मण में केवल एक ज्ञानबल है । इसी लिये ब्राह्मण, वैश्य,शूद्र और अन्त्यज,चारों से क्षत्रिय उत्कृष्ट अर्थात् ऊंचा (श्रेष्ठ) है । इस का प्रतिपादन (जनाना) बृहदारण्यकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य (१।४।११) में इस प्रकार किया है—

"क्षत्रात् परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् अधस्ताद् उपास्ते राजसूये" अर्थात् क्षत्रिय से ऊंचा (श्रेष्ठ) कोई दूसरा नहीं है। इसी लिये राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे बैठता है ॥११॥

जिस में ज्ञानबल और क्रियाबल, दोनों हैं, वही राज्य के अर्थात् राजा होने के योग्य है,वही समस्त प्रजा को सब प्रकार के प्रजापीड़कों से बचा सकता है और वही सनातनधर्म को सुव्यवस्थित रख सकता है । ज्ञानबल और क्रियाबल, दोनों क्षत्रिय में हैं । इसलिये क्षत्रिय ही राज्य के योग्य है, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, अथवा अन्त्यज, राज्य के योग्य नहीं,यह शतपथब्राह्मण के श्रुतिवाक्य से स्पष्ट है । श्रुतिवाक यह है—

"न वै ब्राह्मणो राज्याय अलम्" अर्थात् ब्राह्मण निश्चय राज्य के (राजा होने के) योग्य नहीं है (शत० ५।११।१२) । ब्राह्मण के निषेध से वैश्य शूद्र और अन्त्यज,तीनों का निषेध अर्थ से प्राप्त(आर्थिक) है । जब ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं है,तब वैश्य,शूद्र और अन्त्यज,सुतरां राज्य के योग्य नहीं हैं, यह आर्थिक अर्थ है । क्षत्रिय ही राज्यके योग्य अर्थात् धर्म और प्रजा, दोनों का शासक होने के योग्य है, इसका स्पष्टीकरण ऋक्संहिता के मन्त्र में स्वयं क्षत्रिय के मुख से इसप्रकार कराया गया है "मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य" अर्थात् मुझ क्षत्रिय का ही धर्म और प्रजा,दोनों पर राज्य है, यानी मैं क्षत्रिय ही जन्म से धर्म और प्रजा, दोनों का राजा हूं (ऋ० ४।४।२।१) । क्षत्रिय, क्रियाबल से समस्त प्रजा का शासक और ज्ञानबल से सब प्रकार के सनातनधर्म का संस्थापक है । जब किसी विशेष-कारण के उपस्थित हो जाने से उसका ज्ञानबल और क्रियाबल दब जाता है, अथवा यों कहो कि क्षत्रिय, क्षत्रिय नहीं रहता, तब संस्थापक और अनुकूल शासक के न रहने से असहाय हुआ सनातन धर्म निर्बल हो जाता है और उस का आसन अधर्म या विपरीत-धर्म ले लेता है । फिर प्रतिदिन उसकी हानि और अधर्म की

वृद्धि होने लगती है। प्रजामें सुख कम हो जाता और दुःख बढ़ जाता है। चारों ओर हाहाकार मच जाती और त्राहि मां,त्राहि मां की पुकार होने लगती है। जगत्पति विष्णु को यह पसन्द नहीं,वह निश्चय अपनी प्रजा के इस दारुण दुःख के समय क्षत्रियके रूपमें प्रकट होता है। और उस के दुःसह दुःख को दूर कर के फिर से धर्म की स्थापना करता और सुखके दिन सामने लाता है। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने गीताके चौथे अध्याय में अर्जुन से ऐसा ही कहा है। भगवान् का कथन यह है—

"यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्" ॥७॥

अर्थ—हे भारत ! जब जब निश्चय धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं अपने आपको उत्पन्न (प्रकट) करता हूं ॥७॥

"परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" ॥ ८ ॥

अर्थ –भलों की रक्षा के लिये और दुष्टों के नाश के लिये और धर्म की स्थापना के लिये, मैं समय समय पर उत्पन्न होता हूं ॥ ८ ॥

---

(२) "खत्री" ।

भारत में प्रायः क्षत्रिय नाम का उच्चारण दो प्रकार से होता है– एक छत्री और दूसरा खत्री। विहार, अवध, संयुक्त-प्रांत आदि सब प्रदेशों में छत्री और पञ्जाब में नियम से खत्री उच्चारण होता है। इस समय पञ्जाब में जितने भी खत्री हैं,या यों कहो कि पंजाब में अब जिन क्षत्रियों को खत्री कहते हैं, वे सब सूर्यवंशी हैं और पंजाब-देश ही, जिसका मन्त्रकालीन नाम"सप्तसिंधु"(ऋ०८ २४।२७) और सिन्धु तथा सतावीं सरस्वती नदी(ऋ० ७।३६।६)के अलग हो जाने से आधुनिक नाम "पंचनद"(अष्टा०भा०४।१।८८) अथवा पंचाब् यद्-वा पंजाब है, मन्त्रकाल से उन सब खत्रियों(क्षत्रियों) की जन्मभूमि है। ऋक्संहिता के पढ़ने से विदित होता है कि मन्त्रकाल में पंजाब-प्रान्त के खत्री बड़े प्रतापी और शूरवीर थे, उनका साम्राज्य पश्चिम में रसा नदी (टैग्रस)

तक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नद तक सर्वत्र भारतवर्ष में फैला हुआ था और वे सच्चे शासक तथा न्यायशील होने से भली भांति प्रजाप्रिय थे। यहां पञ्जाब-प्रान्त के सूर्यवंशी खत्रियों के सम्बन्ध में ऋक्संहिता का निम्न मन्त्र स्मरण रखने योग्य है—

"त्यान् नु क्षत्रियान् अवः, आदित्यान् याचिषामहे।
सुमृडीकान् अभिष्टये" (ऋ० ८। ६७। १)।

अर्थ—हम सब प्रजा, निश्चय उन आदित्य (सूर्य) के पुत्रों अर्थात् सूर्यवंशी खत्रियों (क्षत्रियों) से रक्षा की भिक्षा मांगते हैं, जो सब के अभीष्ट अर्थात् हित के लिये हैं और अच्छे सुख के दाता हैं ॥१॥
इतना ही नहीं, वे साम्राज्य-श्री के साथ साथ वेदमन्त्रों के द्रष्टा भी थे। ऋक्संहिता के सब मन्त्र, संख्या में दस हजार १०००० से कुछ ऊपर माने जाते हैं, उन सब मन्त्रों के द्रष्टा जितने ऋषि हैं, उनमें से 'वसिष्ठ जमदग्नि, गोतम तथा उनके वंशजों को और कुछ वैश्यों तथा दासीपुत्रों को छोड़कर शेष सभी खत्री हैं। अधिक क्या, जिस गायत्री सावित्री मन्त्र का यथाविधि उपदेश लेने से ब्राह्मण ब्राह्मण होता खत्री खत्री होता तथा वैश्य वैश्य होता है,उसका द्रष्टा विश्वामित्र ऋषि भी खत्री है। इन सब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का जन्मस्थान तथा निवासस्थान प्रायः सप्तसिन्धु अर्थात् पञ्जाब है। ऋक्संहिता के सातवें मण्डल के द्रष्टा "वसिष्ठ" ऋषि का आश्रम, पञ्जाब देश में व्यास (विपासा) नदी के किनारे, दूसरे मण्डल के द्रष्टा गृत्समद ऋषि का, तीसरे मण्डल के द्रष्टा विश्वामित्र ऋषि का और छीवें मण्डल के द्रष्टा भरद्वाज ऋषि का शुभ आश्रम पञ्जाब देश में सरस्वती नदी के किनारे था, यह गोपथब्राह्मण (पू० २। ८) निरुक्त (निरु० ९।२६) और ऋक्संहिता के (ऋ० २।४१।१६) मन्त्रों से स्पष्ट है, दूसरा कोई प्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। शेष सब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के आश्रम, पञ्जाब में कहां और किस नदीके किनारे थे, यह ठीक ठीक जानने के लिये "वेदसर्वस्व" का दूसरा भाग पढ़ना चाहिये।

उपनिषदों के पढ़ने से व्यक्त है कि मन्त्रकाल से लेकर उपनिषदों के समय तक खत्रियों का ही विद्या, धर्म और प्रजा तीनों पर अधिकार

था। गोतमवंशी अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक को पञ्चाग्नि विद्या का उपदेश करते हुए जीवल के पुत्र प्रवाहण खत्री ने इस का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार किया है—

"यथा इयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति, तस्माद् उ सर्वेषु लोकेषु क्षत्रियस्य एव प्रशासनम् अभूत्"।

अर्थ–जिसलिये पूर्वकाल में अर्थात् मन्त्रकाल से लेकर आज तक, यह विद्या तुझ से पहले ब्राह्मणों को न प्राप्त थी इसलिये निश्चय सब लोकों पर अर्थात् विद्या, धर्म और प्रजा, तीनों पर खत्रियों का हि अप्रतिहत शासन अर्थात् जबरदस्त हुकम था (५।३।७)। उपनिषदों के समय तक खत्री, वेद, वेदांगादि समस्त विद्याओं तथा कलाओं के पारंगत अद्वितीय पण्डित होते थे, वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था और समस्त प्रजा का शासन, पूर्णरूप से उनके हाथ में था, दूर से दूर देशों के ब्राह्मण, उनके समीप आ आ कर यथाविधि ब्रह्मचर्यवास करते और यथोचित विनीतभाव से विद्या ग्रहण (हासिल) करते थे। पंचाल-देश (कन्नौजप्रान्त) के राजा जैवलि प्रवाहण खत्री से गोतम-वंशी उद्दालक ब्राह्मण का पञ्चाग्निविद्या (छां० उ०५।३ ७) और पंजाब देश के विख्यात राजा अश्वपति कैकेय ककड़) खत्री से प्राचीनशाल आदि अनेक ब्राह्मणों का वैश्वानरविद्या (छां०उ०५।११।४) यथाविधि पढ़ना, इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। उपनिषत्काल से पीछे प्रायः खत्रियों में आलस्य आ गया, वे विद्या, धर्म और शासन-कर्म, तीनों में प्रमाद करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुतसी प्रजा उनके शासन से निकल गई और ब्राह्मणों ने सर्वथा स्वतन्त्र हो कर धर्म की व्यवस्था अपने हाथ में लेली और उसे सदा के लिये अपने ही अधिकार में रखने के उद्देश से वेदादि सभी विद्याओं का द्वार (दरवाजा) दूसरों के लिये बन्द कर दिया। इससे हिन्दुजाति बहुत निर्बल होगई, उसे धन, जन की बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी, साम्राज्य-श्री ने भी खत्रियों का साथ हमेशा के लिये छोड़ दिया। वे अब पञ्जाब में प्रायः आपद्धर्म से अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

(३) "वेदिवंश"।

पंजाब के खत्रियों के अनेक वंश हैं, जो इस समय भी बड़े प्रतिष्ठित और गौरवान्वित हैं और बड़े से बड़े राजकार्यों पर नियुक्त हैं।

उनमें से एक वंश का नाम "वेदी" है, जो पंजाब देश में बड़ा प्रसिद्ध और माननीय है। उसके पुरोहितों का कथन है कि इस वंश के मुख्य पुरुष अपने पूर्वजों की नाईं देशके अधिपति होने पर भी वेद-विद्या के पूर्ण ज्ञाता और वेदोक्त यज्ञादि कर्मों के यथाविधि अनुष्ठाता थे। इसलिये इस वंश का नाम वेदी है। "नानकचन्द्रोदय" में उनके कथन का आनुवादक श्लोक इस प्रकार पढ़ा गया है—

"कलावपि ध्वस्तसमस्तधर्मे, न वेदमार्गात् प्रचलन्ति किञ्चित् ।
ते क्षत्रियास्तेन गताः प्रसिद्धिं, स्वकर्मणा वेदिन इत्युदाराम्"॥१॥

अर्थ—नष्ट हो गये हैं सब धर्म जिस में अर्थात् सब धर्मों को नष्ट करने-वाले कलियुग में भी जो (खत्री) वेदमार्ग से अर्थात् वेद के पढ़ने और वेदोक्त कर्मों के करने से कुछ भी नहीं विचलित (विमुख) हुए हैं। वे खत्री उस अपने न विचलित होने रूपी कर्म से, "वेदी,"इस ऊंची अर्थात् श्रेष्ठ प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥१॥

(४) काल और लाल।

लाहौर से तीस ३० कोस पश्चिम दिशा में एक 'तलवंडी' नाम का ग्राम था, जो बड़ा समृद्ध था और जिस में प्रायः सभी जाति के प्रतिष्ठित हिन्दू और मुसलमान रहते थे। आजकल उस ग्राम को "नानकाना" कहते हैं। उस में एक प्रतिष्ठित घर वेदी खत्रियों का था। उस घर में मुख्य पुरुष दो सहोदर भ्राता थे। उन में से एक का नाम काल और दूसरे का नाम लाल था। काल, बड़ा और लाल, छोटा था। काल, ग्रामाधिपति राय 'बोलार' का मुख्य कार्यकर्ता और लाल अपने घर की सम्पत्ति का प्रबन्धकर्ता था। कालवर्मा की धर्मपत्नी का नाम श्रीमती "तृप्ता" था। दोनों धर्मिष्ठ और ईश्वरभक्त थे। श्रीमती 'तृप्ता' साक्षात् महारानी 'कौसल्या' थीं और कालवर्मा साक्षात् महाराजा दशरथ था। कालवर्मा एक पत्नीव्रत में दृढ़ था, महाराज दशरथ दृढ़ नहीं था, बस दोनों में यही एक भेद है!

(५) "श्री-गुरु-नानकदेव"।

"स्वस्ति श्रीगुरुनानको विजयते, वन्दे गुरुं नानकं, गोप्योऽहं गुरुनानकेन संततं, श्रीनानकाय ओं नमः। नान्यो मे गुरुनानकाद्

गुरुवरः श्रीनानकस्यास्म्यहं, दासः श्रीगुरुनानके मम रतिः त्रायस्व मां नानक ! ॥१॥ (गुरुपीयूषलहरी-टीका)

अर्थ—मंगलरूप, श्रीमान् (ज्ञान, वैराग्य आदि छे ६ प्रकार के ऐश्वर्य वाला) गुरु नानक, उत्कर्ष (ऊंचाई) को प्राप्त अर्थात् सब से ऊंचा है, मैं उस सब से ऊंचे श्रीगुरु नानक को प्रणाम करता हूं, मैं सदा श्रीगुरुनानक से रक्षा के योग्य हूं अर्थात् श्रीगुरुनानक सदा मेरे रक्षक हों, मेरा सब के रक्षक श्रीगुरु नानक को बार बार नमस्कार है। मेरी समझ में श्रीगुरुनानक से भिन्न दूसरा कोई श्रेष्ठ गुरु नहीं है, मैं श्रीगुरु-नानक का सेवक हूं श्रीगुरुनानक में सदा मेरी अचल प्रीति अर्थात् भक्ति हो, हे श्रीगुरुनानक !मुझे तीनों दुःखों से बचा ॥१॥

संवत-पन्द्रह सौ छब्बीस १५२६ विक्रमीय के कार्तिक-मास में पूर्णमासी की रात्रि के शेष भाग ब्राह्म मुहूर्त्त में कालवर्मा के हां माता तृप्ता जी से श्रीगुरु नानकदेव जी का जन्म हुआ। कुलपुरोहित पण्डित हरिदयालु जी ने लग्न का संशोधन कर के जन्मपत्र बनाया और कालवर्मा के पूछने पर यह कहा "महता जी ! आपके हां जो पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं, आप साक्षात् विष्णु* है, समस्त प्रजा के दुःखों को दूर करने के लिए प्रकट हुआ है। जैसे महाराजा दशरथ के हां जन्म लेकर रामने समस्त रघुकुल को पवित्र किया है,जैसे वसुदेव के हां जन्म लेकर कृष्ण ने सारे यदुकुल को पावन किया है, वैसे आपका पुत्र आपकी सारी वेदिकुल को पवित्र और ऊंचा करेगा।" कालवर्मा सुन कर

---

* श्री गुरु नानकदेव जी के सम्बन्ध में श्री–गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज का श्रीमुखवाक्य यह है—

सूरज कुल में रघु भया, रघुकुल में श्रीराम।
रामचन्द्र के दोय सुत, लव कुश ताके नाम ॥१॥
एह हमारे बड़े हैं, जिह जस जग-विस्तार।
इन ही के घर ऊपजे, नानक कलु अवतार ॥२॥

बड़ा प्रसन्न हुआ, पंडित जी को बहुत-सा, धन धान्य दान में दिया और अनाथों तथा साधुओं को बड़े प्रेमसे अनेक प्रकारका भोजन खलाया। ग्यारवें दिन नामकरण संस्कार हुआ और पण्डित जी की अनुमति से कालवर्मा ने अपने पुत्र का नाम "नानक" रखा। वेदविद्या के पारंगत पण्डित नानक-नाम का अर्थ यह करते हैं—

"यः करोति प्रजाः नाना गिरा वेदपथानुगाः।
तं गुरुं नानकं प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः"॥१॥ (स्वाध्यायसंहिता)

अर्थ—जो नाना वर्णोंकी प्रजाको केवल वाणीसे वेदमार्ग पर चलनेवाली करता है। वेदविद्याके पारंगत मुनि उस जगद्गुरुको नानक कहते हैं॥१॥

जैसे महामुनि कपिल, जन्म से ज्ञानसिद्ध थे (श्वे० ३० ५ । २), (ऋ० १० । २७ । १६) (गी० १० । २६), जैसे राजर्षि वामदेव जन्म से ज्ञानसिद्ध थे (ऋ० ४ । २६ । १), वैसे श्रीगुरु नानकदेव जी जन्म से ज्ञानसिद्ध थे। उन्हें महामुनि कपिल और राजर्षि वामदेव की नाईं किसी दूसरे से ज्ञान लेने की आवश्यकता न थी, सम्पूर्ण वेदमन्त्र सदा आपके सामने उपस्थित थे, वे जब जब जो जो वाणी उच्चारण करते थे, वह सब वेदमन्त्रों का सार होती थी। ऋक्संहिता के मन्त्रों का सार तो आपकी वाणी में आदि से अन्त तक भरा हुआ है। जो गुरुबाणी और वेदबाणी, दोनों वाणियों के पूर्णतया पण्डित हैं, वे ही इस तथ्य को जान सकते हैं, दूसरे नहीं जान सकते। जब श्री-गुरु नानकदेव जी की आयु का आठवां बरस आरम्भ हुआ, तब कुल की रीति के अनुसार कुलपुरोहित पण्डित हरिदयालु जी ने आपका उपनयन-संस्कार किया और गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया। जब श्रीगुरु जी ने गायत्री मन्त्र के अर्थ, देवता और ऋषि के सम्बन्ध में प्रश्न किया और अर्थसहित शिरोमन्त्र पूछा, तब पण्डित जी एकदम चुप हो गये और पूछने पर कालवर्मा से कहा—" महता जी आपका पुत्र साक्षात् विष्णु है, समस्त वेद उसकी वाणी है, जिस के अनुग्रह से ऋषियों को वेदमन्त्र प्राप्त हुए हैं, उसे दूसरा कौन वेदमन्त्रों का उपदेश दे सकता और उनका अर्थ बतला सकता है। यह तो केवल इनकी लीला है, जो मैं और आप, दोनों कर रहे हैं। निःसन्देह

आपका पुत्र जगद्गुरु* है और सदा सब से नमस्कार के योग्य है"। कालवर्मा ने पण्डित हरिदयालु जी के कहने का रहस्य न समझा और गोपाल पण्डित को संस्कृत भाषा पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। वह एक दिन आया और 'ओम्'पर बातचीत में परास्त होकर चला गया, फिर दूसरे दिन न आया। कालवर्मा ने मौलवी मुहम्मद हुसेनको फारसी भाषा पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। वह भी श्रीगुरु-नानकदेव जी के सूक्ष्म प्रश्नों का उत्तर न दे सका और कालवर्मा से यह कह कर चला गया कि "आप का पुत्र वलियों का वली है, साक्षात् नबी है, सब कुछ पढ़ा हुआ है, मेरे जैसा साधारण (मामूली) मनुष्य, उसे नहीं पढ़ा सकता, मेरा उसे सलाम (प्रमाण) है"।

(६) "श्रीगुरु नानकदेव जी का साधुसमागम।

यहां आपके सम्बन्ध में "नानकचन्द्रोदय" का मङ्गल-श्लोक सदा स्मरण रखने योग्य है—

"कलिमलिनमतीनां शोधयन् मानसानि, स्वयमुदयमुपेतः शास्त्रयोनिः स्वयम्भूः। अकिरदंविषमां यो ज्ञानवैराग्यधारां, जयति स करुणाब्धिर्, नानको योगिवर्यः" ॥१॥

अर्थ—कलियुग में मलिनवुद्धि अर्थात् शास्त्रीय संस्कारों से शून्यबुद्धि, मनुष्यों की बुद्धियों को निर्मल (शुद्ध) करने वाला अर्थात् शास्त्रीय संस्कारों से युक्त करने की इच्छा वाला, हुआ, आप वेदरूपी शास्त्र के आविर्भाव का कारण (ऋषियों के हृदय में वेदमन्त्रों की स्फूर्ति का कर्ता) स्वयम्भू (स्वतःसिद्ध) सूर्यात्मा ईश्वर, उदयाचलरूपी कालवर्मा के घर में उदय को प्राप्त हुआ अर्थात् नानक रूपसे प्रकट हुआ। जिस ने प्रकट होते ही ज्ञान तथा वैराग्य (अनासक्ति)की धारा को अर्थात् अन्तरात्मा के ज्ञान और अनासक्ति-पूर्वक बुद्धि से कर्मों के करने के उपदेशामृत-प्रवाह को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज, सब के लिये एक जैसा बहाया, वह दया का समुद्र, कर्मयोगियों में श्रेष्ठ अर्थात् कर्मयोगियों का ईश्वर (महायोगी श्रीगुरु नानक) उत्कर्ष (जय) को प्राप्त अर्थात् सब से ऊंचे स्थान पर विराजमान है ॥१॥

श्रीगुरु नानकदेव जी को साधुओं से मिलने और उनसे बातचीत करने का बड़ा उत्साह(चाव)था। जहां कहीं कोई योग्य साधु-व्यक्ति आया सुनते, वहां चले जाते और उससे उसके मन्तव्य के सम्बन्ध में अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में बात-चीत करते। जब आप बारह १२बरस के हुए, तब कालवर्मा ने आप की लोक-व्यवहार-सम्बन्धी योग्यता जानने के उद्देश्य से बीस २०) रुपया और "बाला" नाम के सेवक को साथ देकर बाहरसे लवण (नमक) लाने के लिये कहा। आप बाला को साथ लेकर जब 'चूड़काना' गांव के समीप पहुंचे, तो वहां आप को एक तपसी साधुओं की मण्डली उतरी हुई देख पड़ी। बस आप आगे जाना छोड़कर उस मण्डलीके महन्त* के सामने जा बैठे और साधारण बात-चीत के पश्चात् बड़ी मृदु तथा मधुर वाणी से पूछा-महन्त जी! आप एक-ईश्वरवादी हैं, अथवा प्रकृति-पुरुषवादी ? । महन्त जी ने

---

* श्रीगुरु नानकदेव जी की पहली जन्मसाखी (जन्मकथा) पंजाबी भाषा में लिखी गई है । पंजाबी जनता, स्वभाव से हर एक व्यक्ति के नाम को आधा बोलती और हर एक साधु को सन्त (सन्त्य) कहती है। इसलिये उस जन्मसाखी में महन्त जी का नाम 'रेणुदास' न लिख कर केवल "रेणु" और साधु होने से "सन्त, रेणु" लिखा है। महन्त जी सम्प्रदाय में रामानन्दी वैष्णव साधु (वैरागी साधु) थे। वैष्णव साधुओं में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों (ऋ० १०। ८६) की तथा परशुराम जी की माता की दृष्टि से रेणुदास, रेणुकादास, आदि नामोंके रखने की प्रथा(रिवाज आरम्भ से प्रचलित है और आजकल भी बहुतेरे वैष्णव साधुओं के नाम इसी प्रकार के पाये जाते हैं। जपसंहिता की प्रथमावृत्ति के "प्राक्कथन" में अच्छी तरह पूरी पूरी छानबीन किये बिना ही केवल एक उदासीन साधुके लेखके आधार पर, महन्तजी को उदासीन साधु और उनकी सम्प्रदायको उदासीन-सम्प्रदाय लिखा गया था। पीछे अच्छी तरह पूरी पूरी छानबीन करने से निश्चित हुआ कि वह लेख आरम्भ से अन्त तक मिथ्या और सर्वथा मनोघड़न्त होने से अप्रामाणिक है। इसलिये उसके आधार पर महन्त जी तथा उनकी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखी गई सब बातोंको अनुचित समझ कर "प्राक्कथन" से निकाल दिया है।

कहा–जिन साधुओं की सम्प्रदाय का मूलपुरुष भगवान् विष्णु है,वे सब एक ईश्वरवादी होते हैं और जिन साधुओं की सम्प्रदाय का मूलपुरुष महामुनि कपिल है,वे प्रकृतिपुरुषवादी होते हैं । हमारी सम्प्रदाय का मूलपुरुष भगवान् विष्णु है, इसलिए हम सब एक ईश्वरवादी हैं, प्रकृतिपुरुषवादी नहीं । गुरुजी ने पूछा–महामुनि कपिल की सम्प्रदाय के साधू अब हैं ?। महन्तजी ने कहा–हां हैं,पर अब वे सब दशनाम में सम्मिलित हैं । गुरुजी ने पूछा–दशनाम का मुख्य आचार्य कौन है ?। महन्तजी ने कहा–दशनाम एक सम्प्रदाय नहीं है,वह अनेक संन्यासी सम्प्रदायों का सम्मिश्रण है इसलिये उसके मुख्य आचार्य अनेक हैं और वे सब अलग अलग अपने अपने अखाड़े में आज तक बराबर यथासमय यथाविधि पूजे जाते ह । उन सब खण्डों में से जूना (प्राचीन)अखाड़ा, निर्वाणी और निरञ्जनी अखाड़ा के आचार्य विशेषरूप से जानने तथा स्मरण रखने योग्य हैं । उनके नाम हैं–दत्त,कपिल और स्कन्द । गुरु जी ने कहा—स्कन्द तो ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार का नाम है । महन्त जी ने कहा–हां उसी का नाम है,परन्तु वह ब्रह्मा का औरस पुत्र नहीं, किन्तु मानस पुत्र है । गुरुजी ने पूछा–मानस-पुत्र किस को कहते हैं ?। महन्त जी ने कहा—जो वास्तव में पुत्र नहीं है, केवल अपने मन से पुत्र मान लिया गया है, उसको मानस-पुत्र कहते हैं । गुरु जी ने पूछा—यदि सनत्कुमार का असली पिता ब्रह्मा नहीं है, तो उस के असली माता पिता का नाम क्या है ?। महन्त जी ने कहा–सनत्कुमार के पिता का नाम "धर्म" जननी का नाम "अहिंसा" और धात्री का नाम"कृत्तिका"है । इसीलिये सनत्कुमार का स्कन्द की नाईं एक नाम "कार्त्तिकेय"भी है । गुरु जी ने कहा—कार्तिकेय (स्कन्द) तो शिव जी का पुत्र है । महन्त जी ने कहा—ब्रह्माजी का जैसा पुत्र सनत्कुमार है, शिवजी का वैसा पुत्र कार्तिकेय(स्कन्द)है,वह पार्वती के गर्भसे उत्पन्न हुआ शिवजी का पुत्र नहीं है । अनेक यह भी मानते हैं कि सनत्कुमार ब्रह्माका दत्तक पुत्र और शिवजी का पुष्य पुत्र है,ब्रह्मा उसे सनत्कुमार नाम से बुलाता और शिव उसे स्कन्द नाम से पुकारता था । कई एक तो यह कहते हैं कि ब्रह्मा के कोप से भयभीत हुए सनत्कुमार ने अपना पहला शरीर त्याग दिया और दूसरा नया शरीर ग्रहण कर लिया । पहले जन्म का नाम सनत्कुमार और दूसरे जन्म का नाम "स्कन्द"

है। इसमें कुछभी सन्देह नहीं कि जो व्यक्ति सनत्कुमार है,वही व्यक्ति स्कन्द है और वही कार्तिकेय है। दशनामी संन्यासियों के इन तीनों मुख्य आचार्यों में से दत्त(दत्तात्रेय)अवधूत तथा नागा-नामी संन्यासी सम्प्रदाय का प्रमुख आचार्य है महामुनि कपिल निर्वाणी नाम की संन्यासी सम्प्रदाय का आदिम प्रवर्तक और प्रकृतिपुरुषविद्या का प्रथम आचार्य है,स्कन्द स्वामी,निरञ्जनी नाम की संन्यासी सम्प्रदाय का प्रवर्तक और भूमा नाम की ब्रह्मविद्या का सुप्रसिद्ध तथा बड़ा भारी आचार्य है। जैसे कपिल मुनि का पहला शिष्य आसुरी है, वैसे सनत्कुमार-स्कन्द स्वामी* का पहला शिष्य नारद है और इन्हीं दोनों से निर्वाणी तथा निरञ्जनी नाम की दोनों सम्प्रदायों का अगला सब विस्तार है। गुरु जी ने पूछा—महन्त जी ! दशनाम के संन्यासी साधुओं की सम्प्रदाय में और आपकी वैष्णव सम्प्रदाय में मुख्य विशेषता (भेद) क्या है ? और मुख्य समानता(अभेद)क्या है ?। महन्तजी ने कहा—हमारी वैष्णव सम्प्रदाय में ईश्वरभक्ति को मुक्ति का मुख्य(प्रधान)साधन मानते हैं और दशनामी संन्यासी साधुओं की सम्प्रदाय में केवल ब्रह्मज्ञानको,बस यही एक, दोनों में भारी विशेषता है । जगत् को और जगत् के कारण

---

* छान्दोग्य-उपनिषद् के सातवें प्रपाठक में नारद-सनत्कुमार के संवाद को समाप्त करते हुए अन्त में जो यह लिखा है कि "१तं २स्कन्दः ३इति ४आचक्षते" अर्थात् १उस (सनत्कुमार) को २स्कन्द, ३इस नाम से ४कहते हैं (छां० उ० ७।२६।२), उसका आशय यह है कि जो ही व्यक्ति सनत्कुमार है, वही व्यक्ति स्कन्द है।"मिताक्षरा" टीका में स्कन्द का दूसरा नाम"कार्तिकेय"लिखा है। इससे अत्यंत स्फुट है कि सनत्कुमार, स्कन्द और कार्तिकेय, तीनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। वामनपुराण में लिखा है कि धर्म पिता के वीर्य से अहिंसा के गर्भ से उत्पन्न हुआ सनत्कुमार, ब्रह्मा का दत्तक पुत्र है (वा० पु० अ० ५८)। ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि सनत्कुमार,वेद-सन्ध्या-विहीन(व्रात्य)सदा कृष्ण-कृष्ण बोलने वाला एक भक्त है। (ब्र० पु० अ० १२९)। हरिवंश में लिखा है कि सनत्कुमार,जन्म से यतिधर्म (संन्यासधर्म) का आश्रय लिये हुआ और भूमा परमात्मा (ब्रह्म)में सदा मन लगाए हुआ है।(१७-१८-१९)।

कर्मोंको दुःखरूप समझकर त्यागना,सदा अतप्य तप तपना और वैराग्यवान् होकर सर्वत्र विचरना,गृहस्थों से सदा अलग रहना,न उनके सुख से वास्ता और न दुःख से सम्बन्ध रखना, विधाता का लेख अटल और मनुष्य का प्रयत्न निष्फल मानना, बस यह दोनों सम्प्रदायों में मुख्य समानता है। गुरु जी ने पूछा—महन्त जी ! आप जगत् को दुःखरूप क्यों समझते हैं ?। महन्त जी ने कहा—अभी आप छोटे हैं,जब कुछ बड़े होकर गृहस्थ होंगे,धर्मपत्नी आयगी,दो चार पुत्री पुत्र हो जायेंगे,एक दो दासी दास होंगे,उन सबके निवास के लिये तथा योग-क्षेम के लिये रमणीय सदन तथा प्रभूत धन अपेक्षित होगा,तब आप ही जानेंगे कि जगत् दुःखरूप है किंवा सुखरूप है। गुरुजी ने सुनकर कहा-महन्तजी ! सब से बड़ा गृहस्थ सब जगत् का कर्ता ईश्वर है, जिस का पुत्री-पुत्र आदि-रूप कुटुम्ब अनगिनत और बेहद है, उसके बाद भगवान् विष्णु गृहस्थ है, ब्रह्मा गृहस्थ है, महेश (शिव) गृहस्थ है, इन्द्र गृहस्थ है, वेदमन्त्रों के द्रष्टा सब ऋषि गृहस्थ हैं,उपनिषदों तथा स्मृतियोंके कर्त्ता सब ऋषिमुनि गृहस्थ हैं श्रीराम गृहस्थ हैं,श्रीकृष्ण गृहस्थ हैं,अर्जुन,जब गृहस्थाश्रम छोड़ने को उद्यत हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्ण ने गृहस्थाश्रम छोड़ने का अपवाद किया और उसे गृहस्थाश्रम में रहने का ही उपदेश दिया। यदि गृहस्थ होने से जगत् दुःखरूप हो जाता है, तो ये सब कभी गृहस्थ न होते, अथवा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर बनों में चले जाते। हम तो देखते हैं कि जो जगत् को दुःखरूप समझ कर छोड़ देते हैं और गृहस्थाश्रम की सदा निन्दा करते हैं, वे भी अन्त में अपने योगक्षेम के लिये गृहस्थाश्रम का ही सहारा लेते हैं।

दूसरा वेदोक्त कर्मोंको दुःखरूप जगत् का कारण मान कर छोड़ देना भी तो युक्तयुक्त प्रतीत नहीं होता,क्योंकि जब तक शरीर है,तब तक सार्थक अथवा निरर्थक, कोई न कोई कर्म करना ही पड़ता है। ऐसा कोई व्यक्तिविशेष देखने में नहीं आता, जो कोई भी कर्म न करे। वेद वाह्य कोई न कोई कर्म करने की अपेक्षा तो वेदोक्त संपूर्ण कर्मोंको यावदायु करते रहना ही ठीक है,छोड़ना ठीक नहीं। श्रीगुरु नानकदेव जी के ये सब वचन सुन कर महन्तजी मन ही मन विचारने लगे कि यह कोई विशेष पुरुष है,ऐसे सुसंगत, गम्भीर और शास्त्रीय वचन, साधारण पुरुष नहीं बोल सकता। यह विचार कर महन्त जी ने श्री-

गुरु जी से पूछा-आप कौन हैं और आपका नाम क्या है ?। गुरुजी ने कहा हम वेदी खत्री (क्षत्रिय) हैं और मेरा नाम नानक निराकारी है। महन्त जी ने कहा—आपका गुरु कौन है और उसका सिद्धान्त क्या है ?। गुरु जी ने कहा—जो सब जगत् का कर्ता है, सब में प रपूर्ण है, निर्भय और निर्वैर है, काल के परिच्छेद से रहित अर्थात् अकाल है, जिसका नाम सत् है,वही त्रिलोकीनाथ अकाल पुरुष,स्वयंभू मेरा गुरु है, मैं उसकी आज्ञा से उसके अनादि सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये जगत् में आया हूं। उसका अनादि सिद्धान्त वही है,जिसका सबसे पहले मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वेदमन्त्रों के द्वारा सर्वत्र प्रचार किया था और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने पांडुपुत्र अर्जुन से कहा था। उसका नाम "कर्मयोग" है। ईश्वर का भक्त होते हुए, उसको अन्तरात्मा रूप से सब में पूर्ण देखते हुए, उसके भाणे में सदा प्रसन्न रहते हुए, किसी भी वस्तु में आसक्ति न रखते हुए, कर्तव्यबुद्धि से यावदायु कर्मों के करने को कर्मयोग कहते हैं। जो मनुष्य सब आश्रयों को छोड़कर,एक ईश्वर का आश्रय लिये हुआ है, उसके भाणे में सदा खुश है, उसकी भक्ति में निमग्न है, अनेक प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्य को रखते हुए, भोगते हुए भी उस में आसक्त (लिप्त) नहीं है,सर्वात्मदर्शी है, सब का सुख दुःख, जिसको अपना ही सुखदुःख है, जो सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करता है, वह "कर्मयोगी" है । उसका आसन ज्ञानशून्य तपस्वियों से बहुत ऊंचा है, वह कर्मत्यागी ज्ञानियों से बहुत बढ़कर है, उसको फलकी कामनासे कर्मोंके करने वाले कर्मठ नहीं पा सकते। वह सच्चा ईश्वरभक्त है,सच्चा आत्मदर्शी है,सच्चा ज्ञानी सच्चा संन्यासी और सच्चा वैरागी है,सदा निश्चलमति है,वह यहां और वहां,दोनों लोकों में उज्ज्वलमुख है। श्रीगुरु जी के वचनों को सुनकर महन्तजी एकदम चुप हो गए,कहना चाहते हुए भी कुछ न कह सके। तब परम-कृपालु श्रीगुरु नानकदेव जी ने पूछा—महन्त जी! आपने भोजन किया है?महन्त जी ने कहा—जब अकाल-पुरुष भेजता है,तब करते हैं। श्रीगुरुजीने,बाला से २० रुपया का आटा,चावल,दाल,घी, खांड, नमक आदि लाकर देने को कहा, बालाने झटिति सब कुछ लाकर महन्त जी को दे दिया,पीछे श्रीगुरु नानकदेव जी, बाला के साथ वापस घर आ गए।

(७) "श्रीगुरु नानकदेव का विवाह और पुत्रजन्म" ।

आपका बहिनोई दीवान जयराम, सुलतानपुर, जिला जालंधर के नवाब दौलतखान का मन्त्री था । सोलह१६ बरसकी आयु में आप सुलतानपुर चले गये और दीवान जयराम के बार बार कहने से नवाब के मोदी-खाने का काम करने लगे । जब आप अठारह १८बरस के हुए, तब संवत् पन्द्रह सौ पन्तालीस १५४५ विक्रमीय में आप का विवाह बटाला के मूलचन्द्र खत्री की कन्या श्रीमती'सुलक्षणा'देवी से हुआ ।

सुलक्षणा देवी जी साक्षात् लक्ष्मी थीं,आपका स्वभाव श्रीगुरुनानकदेव जी के स्वभाव से भी अधिक शान्त था । सम्वत् पन्द्रह सौ इकवञ्जा १५५१ विक्रमीय में आपके हां प्रथम पुत्र का और सम्वत् पन्द्रह सौ त्रिवञ्जा १५५३ विक्रमीय में दूसरे पुत्र का जन्म हुआ । पहले पुत्र का नाम श्रीचन्द्र और दूसरे पुत्र का नाम लक्ष्मीचन्द्र रखा गया । पीछे सम्वत् पन्द्रह सौ ऊनसठ १५५९ विक्रमीय में श्रीचन्द्र का और सम्वत् पन्द्रह सौ इकसठ १५६१विक्रमीय में लक्ष्मीचन्द्र का उपनयन संस्कार माता जी ने कराया ।

(८) "श्रीगुरु नानकदेव का धर्मप्रचारार्थ देशभ्रमण" ।

सम्वत् पन्द्रह सौ चौरंजा१५५४विक्रमीय में श्रीगुरु नानकदेव जी ने अपने दोनों पुत्रों और उनकी माता श्रीमती सुलक्षणादेवीजी को उसके पिता के घर में रखकर धर्मप्रचार के लिये सर्वत्र देशमें भ्रमण आरम्भ किया । आप भारत के प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध छोटे बड़े सभी नगरों में और मुख्य मुख्य सभी तीर्थ-स्थानों में पधारे। पूर्व में आसाम तक, दक्षिण में सैलोन तक,पश्चिम में मक्का मदीना तक,पश्चिमोत्तर में काबल, कश्मीर तक और उत्तर-दिशा में गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी तक, आप ने भ्रमण किया और पूरे पच्चीस २५ बरस भ्रमण में लगाए। इस पच्चीस २५ बरस के लम्बे भ्रमण में आपने सर्वत्र एक ईश्वर की भक्ति का, उस के सत् नाम का, उस के यथार्थ ज्ञान का, विषयों में अनासक्ति का,सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों के करने का, ऊंच-नीच-भाव को छोड़ कर सबको अपना भाई समझने और सुखदुःख में हरएक की पूरी पूरी सहायता करने का उपदेश किया । हिन्दुधर्म के गौरव को और उसके महत्त्व को सब जगह प्रकट किया और हिन्दुओं के विपक्ष में

फैले हुए मुसलमानों के प्रचण्ड कोपालनको अपनी दिव्य शक्तियों और धर्मनीति-मिश्रित सर्वप्रिय मधुर उपदेशों के मूसलधार ठंडे पानी से ठण्डा किया।

(९)"श्रीगुरु नानकदेव का करतारपुर में सकुटुम्ब निवास"

प्रचारयात्रा को समाप्त करके संवत् पन्द्रह सौ ऊनासी १५७९ विक्रमीय में अमृतसर से इक्कीस २१ कोस उत्तर रावी नदी के उसपार "करतारपुर" नाम का नगर बसाकर आप अपने दोनों पुत्रों और धर्म-पत्नी के साथ रहने लगे और कच्चे पक्के अन्न का, तथा उपदेशामृत का मुक्तद्वार छेत्र(सदाव्रत)खोलकर सबको तृप्त करने लगे। आपके पुण्यतम दर्शनोंके लिये हजारों की संख्या में अनेक भेषोंके साधु सन्त्य और हिन्दू मुसलमान गृहस्थ,प्रतिदिन करतारपुर में आते और यथारुचि अन्न के तथा उपदेशामृत के मिलने से तृप्त हो कर वाह वाह करते हुए वापस घरोंको जाते। ऐतिहासकों का कथन है कि अब तक श्रीगुरु नानकदेव जी के अनन्यभक्तों तथा परमश्रद्धालु सिक्खों (सेवकों) की संख्या सत्तर हजार ७०००० से कुछ ऊपर होगई थी और मुसलमान सदा आपको "नानकशाह फकीर। हिन्दू मुसलमान का पीर" कहते थे।

(१०) श्रीगुरु अङ्गददेव जी का अभिषेक।

संवत् पन्द्रह सौ इकसठ १५६१ विक्रमी में जिला फीरोजपुर के एक ग्राम में,जिसको आज कल"नागा की सराय"नामसे कहते हैं, सूर्यवंशीय खत्रियों(क्षत्रियों)के त्रहन् (वृत्रहन्) कुल में श्रीगुरु अंगददेव जी का जन्म हुआ। आपके पिता महता पेरुराम जी देवी के बड़े भक्त थे, इसलिये उन्होंने आपका नाम देवीदत्त रखा। आठवें बरस आपका उपनयन संस्कार हुआ। कुलपुरोहित पंडित कुलयश शर्मा जी से प्रथम आप ने अर्थसहित सन्ध्या-मन्त्र, पीछे पुरुषसूक्त, नासदीय सूक्त और लक्ष्मीसूक्त के सब मन्त्र अर्थसहित पढे। आगे आप की रुचि पढ़ने में न देखकर पुरोहित जी और पिता जी,दोनोंने विशेष आग्रह न किया। आपका सुन्दर स्वरूप, मधुर बाणी और हरिकथा के श्रवण में अगाध प्रेम स्त्रीपुरुष सबके चित्तोंको खींचता था। माता तथा पिता,कुटुम्बी और ग्राम के सब लोग, आप से बड़े प्रसन्न थे। आप जहां कहीं ग्राम में

हरिकथा के होने का समाचार पाते वहां तुरन्त सबसे पहले पहुंच जाते और जैसे नया ब्याया बच्छा अपनी माता के स्तन्यामृत रस का बड़े प्रेम से आस्वादन करता है, सचमुच वैसे ही आप हरिकथामृतरस का बड़े प्रेम से आस्वादन करते। आप की प्रतिदिन की लगातार इस चर्या को देखकर प्रफुल्लित हुए भक्त मण्डलने आपको देवीदत्त नाम से न पुकार कर"लेहना"(आस्वादयिता)नामसे पुकारना आरम्भ किया। बस तभी से आप सर्वत्र 'लेहना'नामसे प्रसिद्ध हुए। आप के पिताजी प्रति वर्ष यात्रियों को साथ लेकर वैष्णवी देवी के दर्शनों को जाया करते थे। संवत् पन्द्रह सौ त्र्यासी १५८३ विक्रमीय में पिता जी का देहान्त हो जाने से आप ही यात्रियों को दर्शनार्थ ले जाने लगे। एकवार संवत् पन्द्रह सौ अठासी १५८८ विक्रमीय में देवीजी के दर्शनों को जाते हुए आप करतारपुर में ठहरे और दर्शन तथा उपदेश की कामना से श्रीगुरु नानकदेव जी महाराजके दरबारमें पधारे। बस,दर्शन करते और उपदेश सुनते ही आपका मन एकदम तृप्त हो गया,आपकी सब कामनायें पूरी हो गईं। अब आप आगे न जाकर वहां ही श्रीगुरु नानकदेवजी महाराज की सेवा में रहने लगे। आप ने बड़े विनीत-भाव से अनन्य श्रद्धाभक्ति से सेवक के धर्म को निबाहिआ, स्वप्न में भी आज्ञा का भंग न किया, उचितानुचित्त का कुछ भी ख्याल न करते हुए सदा आज्ञाक पालन करना ही अपना धर्म समझा। जब आप कठिन से कठिन परीक्षाओं में भी प्रथम कक्षा में ही उत्तीर्ण हुए,तब परमप्रसन्न तथा हर्षित हुए श्रीगुरु नानकदेव जी महाराज ने आप को सब प्रकार से योग्य समझ कर अपना शिष्य बनाया, नाम लेहना से अङ्गद रखा और संवत् पन्द्रह सौ पचानवे १५९५ विक्रमीय में आपका अपने स्थान में गुरुगद्दी पर अभिषेक करके आत्मीय-समस्त-कार्यभार को आपके विशालकन्धों पर रखा और "आज से गुरु अङ्गद है"सब से कह कर अपना शेष जीवन एकान्तवास और योगाभ्यास में बिताना आरम्भ किया। अब श्रीगुरु अंगददेव जी महाराज ब्यासा-नदी के किनारे खडूर नाम के ग्राम में रहने और अपना सम्पूर्ण काम यथाविधि करने लगे।

(११) श्रीगुरु अमरदास जी।

संवत् पन्द्रह सौ छत्तीस १५३६ विक्रमीय में जिला अमृतसर

के "बासरपुर" ग्राम में जिस को अब "बासर के" नाम से कहते हैं, सूर्यवंशीय खत्रियों (क्षत्रियों) के "भल्ला"-नामी विशाल कुलमें श्रीगुरु अमरदास जी का जन्म हुआ। इकसठ ६१ बरस की आयु में अर्थात् संवत् पन्द्रह सौ सतानवे १५९७ विक्रमीय में आप श्रीगुरु अंगददेव जी महाराज के दरबार में उपस्थित हुए और वहां ही रहने लगे। आप की सेवा, गुरुभक्ति और घोर तपश्चर्या से प्रसन्न होकर श्रीगुरु अंगददेव जी महाराज ने संवत् सोलह सौ नौ १६०९ विक्रमीयमें आप को अपना शिष्य बनाया और यथाविधि अपनी गुरुगद्दी पर अभिषिक्त किया। गुरुगद्दी पर अभिषिक्त होकर श्रीगुरु अमरदास जी महाराज ने सब से पहले हिन्दुओं में फैले हुए चौका आदि के भयङ्कर रोग को जड़ से नष्ट कर देने के अभिप्राय से बसन्तपञ्चमी के दिन बड़ा भारी दरबार किया और दरबार में यथा-स्थान बैठे हुए सब हिन्दुओं को सम्बोधन करके प्रचलित चौका आदि के दुश्चिकित्स्य भीषण परिणामों को अच्छी तरह समझाया, प्राचीन हिन्दुओं में इस प्रकारके चौका आदि का बन्धन नहीं था, खोल कर स्पष्ट किया और जिस हिन्दु के हाथ का लाया हुआ पानी पिया जाता है उसके हाथका पकाहुआ तथा परोसा हुआ भोजन कर लेने को निर्दोष ठहराया। साथ ही सब को सूचित किया कि आज से वही हिन्दु हमारे दर्शनों के लिये दरबार में आ सकेगा, जो पहले हमारे लंगर (भोजनागार) में भोजन करेगा। दरबार में बैठे हुए सब हिन्दुओंने आपके इस शुभावह कथनका सहर्ष अनुमोदन किया और आप की आज्ञा के पालन करने का शपथ उठाया। इसके सिवा श्रीगुरु अमरदास जी महाराज ने हिन्दुओं में और भी अनेक सुधार किये। लड़कियों का मारना और बेचना रोका, कब्रपूजा, धागा, तवीज और कुट्ठा खाना, बन्द किया। जन्म से हर एक हिन्दु व्यक्ति, क्षत्रिय है, और धर्म तथा देश की रक्षा में सब का भाग एकसा है, दृढ़ किया। हिन्दू जनता आपके इन सब जाति सुधारों से आप पर बड़ी ही प्रसन्न थी और आपकी आज्ञा का पालन करना अपना परमकर्तव्य समझती थी। इस समय आप की आयु पूरे पचानवे ९५ बरस की थी, इसलिये अब आप श्रीगुरु रामदास जी महाराज के दृढ़तर (मज्बूत) कन्धों पर अपना सब कार्य भार रखकर निश्चिन्तरूप से सचखण्ड-पधारने की तैयारी करने लगे।

(१२) "श्रीगुरु रामदास जी" ।

श्रीगुरु अमरदासजी ने रामदास जी सोढीय को संवत् सोलहसौ इकतीस१६३१विक्रमीय में अपनी जगह गुरुगद्दी पर यथाविधि विठाया। गुरुगद्दी पर वैठ कर श्री गुरु रामदास जी ने सब से पहले वैदिकसरोवर "शर्यणावान्" (ऋ० ८ । ७ । २९) (ऋ० ८।६४/६३।११) को, जिसे मुसलमानों ने कंकर मट्टी से भर कर लुप्त-सा कर दिया हुआ था और हिन्दूजनता भूल सी गई थी,प्रकट किया। सब कंकर मट्टी निकलवा कर साफ कराया और नाम "अमृतसर" रखा और सदा की रक्षा के लिये उस के तट पर संवत् सोलह सौ इकतीस १६३१ विक्रमीय में उसी के नाम पर 'अमृतसर" नाम का नगर वसाया। मुसलमानों के वावेला करने पर संवत् सोलह सौ तेतीस१६३३ विक्रमीय में दिल्ली से लाहौर आता हुआ अकवर वादशाह अमृतसर में श्रीगुरु रामदासजी महाराज से बड़े आदरपूर्वक मिला, और वहुत सा धन पूजा में दिया । नगर तथा सरोवर को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और सचमुच यह हिन्दूतीर्थ है, कह कर मुसलमानों को मूक किया।

(१३) "श्रीगुरु अर्जुनदेव जी"।

श्रीगुरु रामदास जी के पीछे सम्वत् सोलह सौ अठतीस १६३८ विक्रमीय में आप के छोटे पुत्र अर्जुनदेवजी गुरुगद्दी पर अभिषिक्त हुए। श्रीगुरु अर्जुनदेव जी महाराज वड़े ब्रह्मज्ञानी,वड़े तपस्वी,वड़े दीर्घदर्शी और अत्यन्त तीव्रवुद्धि थे। हिन्दुधर्म का अनुल्लङ्घ्य भूधर, धैर्य का अथाह समुद्र और नीति-धर्म का अखुट्ट भाण्डार थे । सदा निर्भय, सदा निर्वैर और सर्वदा सर्वप्रिय थे। आप अच्छी तरह जानते और समझते थे कि मनुष्यों की शक्ति का विकास उनके एकमात्र सङ्गठन से होता है और सङ्गठन एक धर्मपुस्तक पर तथा एक उद्देश पर निर्भर है। जव तक गुरुसिक्खों का धर्मपुस्तक एक और उद्देश एक नहीं होता, तव तक उनकी शक्ति का विकास और शक्ति का विकास हुए बिना हिन्दुओं का सामायिक कष्ट दूर नहीं हो सकता। प्राचीन हिन्दुधर्मपुस्तक भगवान् वेद से सङ्गठन की जलदी आशा करना बड़ी भारी भूल है। क्योंकि हिन्दूमात्र के लिये वेद का प्रचार करने में एक तो दुर्निवार्य विघ्न ब्राह्मण हैं,वहुत सम्भव है राजकर्मचारी भी उन्हीं के साथी हो जायें।

दूसरा वेद, उस भाषा में है जो आजसे हजारों बरस पहले यहां बोली जाती थी, अब उसे साधारण हिन्दू तो क्या, संस्कृत-भाषा के बड़े से बड़े पण्डित भी नहीं समझ सकते। धर्मपुस्तक उस भाषामें होनी चाहिये जो पाठमात्र से सब की समझ में आ जाय और जिस के पढ़ने से तथा सुनने से सब का मन प्रभावित हो जाए। बस, यह सब कुछ समझते हुए, सोचते हुए आपने निश्चय किया कि जैसे पूर्वकाल में शाकल ऋषि ने मधुच्छन्दा आदि सब ऋषियों की वाणी का क्रमबद्ध संग्रह कर के "ऋक्संहिता" नाम का धर्मपुस्तक बनाया है, वैसे सब गुरुओं की और जनता के श्रद्धास्पद कुछ सामयिक भक्तों की वाणी का क्रमबद्ध संग्रह करके "गुरुग्रन्थ" नाम का एक धर्मपुस्तक बनाया जाए। आपने इस निश्चय के अनुसार श्रीगुरु नानकदेव जी, श्रीगुरु अंगददेव जी, श्रीगुरु अमरदास जी, श्रीगुरु रामदास जी और कुछ सामयिक भक्तों की तथा अपनी वाणी का क्रमबद्ध संग्रह कर के "गुरुग्रन्थ" नाम का एक वृहद् धर्मपुस्तक बनाया, उसके नित्य तथा नैमित्तिक पाठ की और उस में से विशेषविशेष मुख्य-वाणी के अमृतवेले तथा सायंप्रातः सन्ध्यासमय यथाविधि पढ़ने की मर्यादा को बांधा और सदा एक "वाहगुरु" मन्त्र के जप का आदेश किया। इस से अनायास ही सब गुरुसिक्ख, माला के मनकों की नाईं एक धर्मपुस्तक तथा एक मालामन्त्र के अटूट-सूत्र में ठीक ठीक बंधे जाकर शक्तिशाली होगए, सब के अन्दर भ्रातृभाव का उत्कट भाव जागृत हो गया, सब को एक दूसरे का सुख दुःख अपना सुख दुःख प्रतीत होने लगा और वे सब एक दूसरे के सच्चे सहायक हो गये। इससे सम्राट् जहांगीर को भय हो गया। वह पंजाब आया और श्रीगुरु अर्जुनदेवजी से श्रीगुरुग्रन्थ के देखने की इच्छा प्रकट की। श्री गुरुग्रन्थ उसको दिखाया गया। उसने उसे देखकर कहा—हमने सुना है, इस में मुसलमानों के विपक्ष में बहुत कुछ लिखा गया है। जब श्री गुरुग्रन्थ पढ़ा गया और उसमें से मुसलमानों के विपक्ष में कुछ भी न निकला, तब उसने कहा—अच्छा, यदि आप किसी के विपक्ष में नहीं हैं, तो इस ग्रन्थ में हमारे नबी की तारीफ (स्तुति) के कुछ शब्द लिखदें। यह समय परीक्षा का था, एक ओर सम्राट् जहांगीर था और दूसरी ओर श्रीगुरु अर्जुनदेव जी महाराज थे। विपक्षी और स्वपक्षी जनता

देख रही थी कि अब सच्चा पातशाह, दुनिया के पातशाह को क्या उत्तर देता है। श्रीगुरु अर्जुनदेव जी महाराज ने बड़े गम्भीर स्वर से उत्तर में कहा कि पातशाह! इस में जो कुछ लिखा है, वह सब श्री "वाहगुरु" की इच्छा से लिखा है, मैं अब अपनी ओर से कुछ नहीं लिख सकता। इस उत्तरसे श्रीगुरुजी महाराज की महिमा और गुरुसिक्खों की श्रद्धा. बहुत बढ़ गई। अब हिन्दू मुसलमान, सभी प्रकार की जनता आपको यथार्थ में सच्चा पातशाह मानने लगी।

(१४) "श्रीगुरु हरिगोविन्द जी"।

श्रीगुरु अजुनदेव जी के पीछे सम्वत् सोलह सौ चौसठ १६६४ विक्रमीय में श्रीगरु हरिगोविन्द जी महाराज गरुगद्दी पर सुशोभित हुए। आप ने देखा कि गुरुसिक्खों में ऐक्य है, भ्रातृभाव है, एक का सुख दुःख, सब का सुख दुःख है। हिन्दुपण है वाहगुरु नाम का रंग है। गुरु की भक्ति. तथा श्रद्धा की बढ़ती है। पर न्यूनता है शस्त्र न रखने और चलाने की, न मरने और मारने की, न निर्भय रहने और न भयावना होने की। बस श्रीगुरु हरिगोविन्दजी महाराजने इस न्यूनता को दूर करने के लिए सब से पहले आप शस्त्र धारण किए, पीछे सभी गुरुसिक्खों को शस्त्र धारण करने और गात्र में सदा तलवार के रखने का उपदेश दिया, सब में धर्मरक्षा, जातिरक्षा और आत्मरक्षा के लिए युद्ध में मरने मारने का भाव उत्तेजित किया, आप सदा निर्भय रहना और दूसरों के लिए सदा भयावह होना, हर एक का सहज धर्म दृढ़ किया। इससे गुरुसिक्खों का बड़ा दुर्जय सैन्य-दल बन गया और श्री-गुरु जी महाराज की शक्ति बहुत बढ़ गई। अब आपने हरिमन्दिर के सामने एक सुरम्य अकालतख्त बनवाया और प्रतिदिन सायं-प्रातः उस पर बैठ कर दरबार लगाना आरम्भ किया। आप सौंदर्य में, बल में. तेज में और ऐश्वर्य में साक्षात् भगवान श्रीकृष्णचन्द्र थे। आपके दर्शनों के लिये हिन्दूगण दूर दूरसे आते और आप के शासनानुसार शस्त्रों तथा अस्त्रों से सजकर वीरासन से दरबार में बैठते थे। आपका दरबार निःसन्देह एक सच्चे क्षत्रिय सम्राट् का दरबार था। दरबार में उपस्थित सब हिन्दूगण आप के ओजस्वी और हृदयङ्गम उपदेशों को सुन कर धर्म तथा जाति के प्रेमवारि-प्रवाह में आप्लावित हो जाते थे और उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंको नौछावर (कुर्बान) करने की

प्रतिज्ञायें करते थे। श्रीगुरुजी महाराज,उनकी इन प्रतिज्ञाओं को सुन कर प्रसन्न होते और हिन्दुवीर, अकालिवीर, अरिमर्दन, शत्रुतापन, नरव्याघ्र पुरुषशार्दूल आदि अनेक प्रकार की यथायोग्य उपाधियां प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित करते थे। मुसलमान शासकों ने भयभीत हो कर श्रीगुरु जी महाराज की इस बढती हुई शक्ति को छिन्न भिन्न करने के लिये अनेक वार सेना भेजी और सेना के सभी वार पराजित हो जाने से हताश हो कर सब समाचार सम्राट् जहांगीर के दरबार में भेज दिया। सम्राट् जहांगीर ने समाचारको पाकर"मियांमीर"के कहने से अमृतसर का शासनभार श्रीगुरुजी महाराज के करकमलों में देकर सन्धि कर ली। श्रीगुरुजी महाराज ने अपने इस शासनकालमें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। (१)अमृतसरके हिन्दुओं की अनेक युवति तथा सुन्दर विधवा कन्यायें प्रतिदिन घर का बहुमूल्य भूषण तथा धनधान्यले कर दुर्दान्त मुसलमानोंके घरोंमें चली जाती थीं,अथवा स्वयं मुसलमान ही उन्हें बलात् भगा लेजाते थे। श्रीगुरुजी महाराज ने एक तो उन विधवा कन्याओं का घर से भागना शासनके बलसे बन्द किया,दूसरा एक दो बरस के अन्दर की भागी हुई सब विधवा कन्याओं को वापस मंगा कर उन्हीं की जाति में यथाविधि रखवा दिया और घर में रखने वाले तथा भगाकर लेजाने वाले मुसलमानों को बड़ा भारी कठोर दण्ड दिया, जिसको देख कर बाकी सब मुसलमान भयभीत हो गए और आगे फिर ऐसा काम करने का साहस न किया।(२)दूसरा लाहौर के सब से बड़े काजी (जज) की युवती कन्या "जेनवा" को, उस के हिन्दुधर्म में विश्वास प्रकट करने और पुनः पुनः प्रार्थनापत्र भेजने पर अमृतसर में लाकर शुद्ध किया और उसका हिन्दुनाम"कमला"(कौला) रखा। (३)तीसरा संस्कृत विद्या के पारङ्गत और वेदविद्या के परिपूर्ण-ज्ञाता अनेक ब्राह्मण पण्डितों को दूर दूरसे बुलाकर बड़े आदर-सन्मानके साथ अमृतसर में बसाया और काशी की नाईं उसे विद्यापीठ बनाया। (४) चौथा पंजाब के मालवा (जांगल) आदि प्रान्तों में भ्रमण कर के हिन्दुओं में हिन्दुपण को उद्दीपित किया और उन्हें गुरुसिक्ख बना कर बड़ा शक्तिशाली बनाया।

(१८) श्रीगुरु हरिराय जी।

संवत् सत्तरह सौ एक १७०१ विक्रमीय में श्रीगुरु हरिराय जी महाराज, गुरुगद्दी पर विराजमान हुए। आप, बाबा गुरुदित्ता (गुरुदत्त) के पुत्र और श्रीगुरु हरिगोविन्द जी महाराज के पौत्र थे। जैसे आप अपने पिता और पितामह की नाईं शूर-वीर थे, वैसे दयालु भी थे। आप का हृदय बहुत ही कोमल और क्षमाशील था। बड़े से बड़े अपराधी को भी आप क्षमा मांगने पर दण्ड से एकदम मुक्त कर देते थे। आप निःसन्देह अनाथों के नाथ, निर्बलों के बल और निराश्रयों के आश्रय थे। हिन्दू, मुसलमान, सब ही के लिये आप का अन्न-सत्तर (लंगर) सदा खुला रहता था, कोई भी आशावान् आपके हां से निराश नहीं जाता था। इतना होने परभी आप पक्के हिन्दु थे. आपका प्रातःकाल का दरबार केवल हिन्दुओं का ही दरबार था। उसमें आपके जो उपदेश होते थे, वे प्रायः हिन्दुओं के सुधार के उद्देश से होते थे। एक सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरको ही अपना सहारा बनाना, उसीका अनन्यभक्त होना, सदा कर्तव्यबुद्धि से वेदोक्त कर्मों को करना, सब हिन्दुओं को अपना भाई और उनके सुख दुःख को अपना सुख दुःख मानना, किसी को कभी न सताना, न आप कभी सताया जाने योग्य बनना, ऐसा जिस मनुष्य का हृदय है, जैसा हृदय, वैसा ही जिस का आचरण है, वह हिन्दु है, वह आर्य (ईश्वर पुत्र) है, क्षत्रिय है, पक्का गुरुसिक्ख है, बस इतना ही आप के प्रातःकाल के उपदेशों का सारभूत अर्थ है। आप का सायंकाल का दरबार सब के लिये खुला था। हिन्दू, मुसलमान, सब प्रकार के भद्र पुरुष उस में उपस्थित होते थे और प्रायः धर्मसम्बन्धी प्रश्न पूछा करते थे। अनेक मुसलमान, अनेक पण्डित और साधु, अपने अपने प्रश्नों का सरल और ठीक २ उत्तर पाकर सिरों को हिलाते थे, अनेक मुसलमानी धर्म को छोड़ कर हिन्दुधर्म के अनुयायी हुए श्रीगुरु जी महाराज के सिक्ख हो जाते थे। दिल्ली के बादशाह अवरंगजेब ने आप के दरबार का सब समाचार पाकर आप को दिल्ली पधारने के लिये आमन्त्रित किया। आप ने स्वयं दिल्ली जाना उचित न समझा और बादशाह से बात चीत करने के लिये अपना पुत्र "रामराय" दिल्ली भेज दिया।

(१६) श्रीगुरु हरिकृष्ण जी।

संवत् सतरह सौ अठारह १७१८ विक्रमीय में श्रीगुरु हरिकृष्ण जी महाराज गुरुगद्दी पर प्रकाशमान हुए। इस समय आप की आयु पांच ५ बरस की थी। दर्शक जनता आपके मुख का सूर्य के तुल्य महा-प्रकाश, आपके शरीर का अग्नि के समान प्रचण्ड तेज, आप की वाणी का देववाणी के सदृश अर्थगौरव तथा अर्थगाम्भीर्य देख कर आपको महान्से महान् और वृद्धसे वृद्ध महापुरुष समझती थी। कोई वस्तु और किसी के मनका कोई भाव,आप से छिपा नहीं था। अनेकवार अनेक प्रकार के पुरुषों ने आप की परीक्षा की, अन्त में सब को यही कहना पड़ा कि आप सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्ति हैं, जगद्गुरु हैं, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जब आपकी अपूर्वशक्तियों का तथा आपकी अपार महिमा का समाचार दिल्ली में पहुंचा, तो अवरंगजेब ने दर्शनों की लालसा से अनेक प्रतिष्ठित हिन्दू सभासदों को श्रीगुरु जी महाराज के पास कीर्तिपुर में भेजा और दिल्ली पधारने की नम्र प्रार्थना की। श्रीगुरु जी महाराज, बादशाहके सभासदों को और अपने दलबलको साथ लेकर कीर्तिपुर से दिल्ली जाते हुए मार्ग में कुछ दिन "कुरुक्षेत्र" तीर्थ में ठहरे और वहां के ब्राह्मणों को अनेक प्रकारका दान देते हुए दिल्ली पहुंचे। बादशाह की आज्ञा से जयपुराधीश महाराज जयसिंह सवाई ने आप की अगवानी की और अपने महलोंके समीप एक विशाल शाही बाग में उतारा दिया। महारानी ने बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ आपके दर्शन किये और पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद पाया। अभी बादशाह से समागम नहीं हुआ था कि आप संवत् सत्तरह सौ इक्कीस १७२१ विक्रमीय में चीचक रोग से सचखण्ड जा विराजे।

(१७) "श्रीगुरु तेगबहादर (त्यागबहादर) जी।

संम्पत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥१॥

अर्थ—संम्पत् (ऐश्वर्य) के समय महात्माओं का मन कमल के पत्तों की नाईं कोमल होता है। और विपत् के समय हिमालय के पत्थरों की नाईं सख्त होता है ॥१॥

श्रीगुरु हारकृष्णजी महाराजके पीछे सम्वत् सत्तरह सौ इक्कीस १७२१ विक्रमीय में श्रीगुरु तेगबहादर जी महाराज गुरुगद्दी पर सुशोभमान हुए। आप श्रीगुरु हारगोविन्द जी के सब से छोटे पुत्र और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीगुरु अजुनदेव जी के पौत्र थे। आप में अपने पिता और पितामह, दानों के सभी उच्च गुण कूट कूट कर भरेहुए थे। आप का तपोमय जीवन,आप का शान्तस्वरूप और ईश्वरभाक्ति से भरा हुआ धर्मोपदेश,सब प्रकार के हिन्दुओंके मनोंको आकर्षण किये हुआ था। आप सच्चे धर्मरक्षक तथा सच्चे धर्मपालक थे और सर्वशाक्तिसम्पन्न होने पर भी किसी का अनिष्ट करना स्वप्नमें भी पसन्द नहीं करते थे। उधर अवरंगजेब बडा भीषण-रूप धारण किये हुआ था, उसका कोपानल सीमा से अधिक धधक उठा था। क्या स्त्री,क्या पुरुष,सब प्रकार के हिन्दु प्रतिदिन हजारों की संख्या में लोभ तथा बल से मुसलमान बनाये जाते थे और जो किसी प्रकार भी मुसलमानी धर्म स्वीकार न करते थे, वे अत्यन्त निर्दयता के साथ तलवार के घाट उतारे जाते थे। हिन्दुधर्म के लिये यह काल बहुत ही प्रतिकूल था, यह समय बहुत ही भयङ्कर था, हिन्दुराजा उसकी रक्षा करनेमें सर्वथा असमर्थ थे। जैसे जरासन्ध के कारागार में पडे हुए सब राजाओं को अपनी रक्षाके लिये एक-मात्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही अब शरण (जाय-पनाह) थे वैसे अवरंगजेब के शासनजाल में फंसे हुए सब हिन्दुओंको अपनी रक्षा तथा अपने धर्म की रक्षाके लिये अब भारतमें श्रीगुरु तेगबहादरजी ही अद्वितीय शरण थे। अनेक बेबस हुए ब्राह्मण पण्डित, इकट्ठे होकर श्रीगुरु जी महाराज के दरबार में यथाविधि उपस्थित हुए और हिन्दुधर्म की सामयिक दुर्दशा का आद्योपान्त सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। श्रीगुरुजी महाराज ने भय से कातर तथा अधीर हुए उन सब ब्राह्मण पण्डितों को धैर्य दिया,उनका आश्वासन किया और कहा घबराओ नहीं, डरो नहीं वाहगुरु (ईश्वर) हिन्दुधर्म की रक्षा करेगा। आप निःशङ्क अवरंगजेब को कहला भेजें कि गुरुतेगवहादर के मुसलमान हो जाने पर सब हिन्दू विना ननु नच स्वयमेव (अपने आप) मुअलमान हो जायेंगे,आप सब से पहले उन्हींको मुसलमान बनायें। ब्राह्मण पण्डितों के ऐसा कहलाभेजने पर अवरंगजेब ने श्रीगुरु तेगबहादरजी महाराज को दिल्ली आने के लिये आमन्त्रित किया। जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी भीम औरअर्जुन,दोनों को साथ

लेकर राजाओं की रक्षा के लिये इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली से 'राजगृह' पधारे थे, वैसे श्रीगुरु तेगवहादर जी महाराज, श्रीयुत भाई दयालजी को और श्रीयुत भाई मतिदास जी को, जो साक्षात् (प्रत्यक्ष) हिन्दुधर्म के मूर्तिमान् दधीचि और मोरध्वज थे, अपने साथ लेकर हिन्दुधर्म की रक्षा के लिये आनन्दपुर से दिल्ली पधारे । पातशाह अवरंगजेब ने बड़े आदर तथा सन्मान के साथ आप का स्वागत किया और बड़े विनीत-भाव से बड़ी नम्रता से, अपना हार्द (आशय) प्रकट किया तथा मुसलमान होने का निमन्त्रण दिया । श्रीगुरु तेगवहादर जी महाराज ने उत्तर में जो कुछ कहा, "सूर्यप्रकाश" में उसका अनुवाद यह किया है-

"उत्तर भणियो-धर्म हम हिन्दू । अतिप्रिय को किम करें निकन्दू" ॥१॥

अर्थ—उत्तर में कहा—हमें अतिप्यारे हिन्दुधर्म का निकन्दन अर्थात् नाश कैसे करें ॥ १ ॥

"लोक परलोक उभे सुख दानी । आन न पाइर्त याहि समानी" ॥२॥

'अर्थ—जो लोक और परलोक, दोनों में सुखका (अभ्युदय सुख और निःश्रेयस सुख) का देने वाला है । और जिसके समान दूसरा कोई धर्म. लोक में नहीं पाया जाता है ॥ २ ॥

"मत मलीन मूर्ख मत जोई । इसे त्यागे पामर सोई ॥ ३ ॥

अर्थ—जो बुद्ध का मैला है, जो बुद्धि का मूर्ख अर्थात् बुद्धि से रहित है । वही पामर (मनुष्यों में नीच) इसको (इस हिन्दुधर्म को) त्यागता अर्थात् छोड़ कर मुसलमान होता है ॥ ३ ॥

"हिन्दुधर्म रखे जग मांहि । तुमरे करे विनसे यह नांहि" ॥ ४ ॥

अर्थ—हिन्दुधर्म को वाहगुरु (ईश्वर) जगत् में रखेगा । यह तुम्हारे अत्याचार करने से नहीं नष्ट होगा ॥ ४ ॥

श्रीगुरु तेगवहादर जी महाराज के इस उत्तर से निराश होकर अवरङ्गजेब ने पहले तो आपके सिक्ख (शिष्य) भाई दयाल जी को खौलते हुए तैल के कढ़ाह में फेंकवा कर, फिर श्रीमान् भाई मतिदासजी

को* लकड़ी की नाईं आरे से चिरवा कर मरवाया और पीछे तलवार के तीव्र प्रहार से श्रीगुरु तेगबहादुरजी महाराजका सीस(सिर)धड़से अलग करवा दिया' आपके धर्मपर बलिदान (प्राणदान)का समाचार पा कर भारतवर्ष के सभी हिन्दुओं और गुरुसिक्खों के मन,क्रोधाग्नि से एकदम धधक उठे और उन्हों ने मुसलमानी-राज्य को जड़ से उखाड़ देने का पक्का इरादा कर लिया। इधर'आनन्दपुर'में आपके बलिदानका और सब हिन्दुओं तथा गुरुसिक्खों के दृढ़ सङ्कल्पका वृत्तान्त सुनकर श्रीगुरु गोविंदसिंह जी महाराज ने बड़े धैर्य से काम लिया और सब हिन्दुओं तथा गुरुसिक्खों के इरादे के साथ अपने इरादे को एकमेक करके श्रीगुरु तेगबहादर जी महाराज के हिन्दुधर्म पर अभूतपूर्व बलिदान के सम्बन्ध में अपने मुखारविंद से जो शब्द (वाक्य) उच्चारण किये, उन का आकार इस प्रकार है—

"तिलक जंजू राखा प्रभ ताका। कीनों बड़ो कलु में साका" ॥१॥

अर्थ—प्रभु (ईश्वर) ने उनका (श्रीगुरु तेगबहादर जी का)तिलक और जनेउ (यज्ञोपवीत) रख लिया। आपने कलियुग में बड़ा शक्ति अर्थात् बहादरी का काम किया ॥१॥

---

* भाई दयाल जी खत्री और भाई मतिदासजी महीपाल(मुह्याल)ब्राह्मण थे। दोनों कट्टर हिन्दू और पक्के गुरुसिक्ख थे। आप दोनों ने जिस भारी घोर विपदा के समय, असह्य वेदना के समय, अत्यन्त धैर्य के साथ, बड़ी भारी शूर-वीरता के साथ, अपने प्राणोंको हिन्दूधर्मपर नौछावर(कुर्बान)किया है,यह पत्थर से पत्थर मन को भी मोम कर देता है और अन्त में सब को एकस्वर से एकजवान से यही कहना पड़ता है कि धन्य हैं भाई दयाल जी तथा भाई मतिदास जी, आप दोनों और धन्य हैं आप दोनों के माता और पिता। निःसन्देह आप, गुरुसिक्खों और हिन्दुओं, दोनों के मुकुटमणि हैं, दोनों के सिर का ताज हैं। हम आप दोनों के सदा कृतज्ञ हैं, आप दोनों के सदा अत्यन्त ऋणि हैं। इन दोनों महापुरुषों में से,दोनों महावीरों में से,श्रीमान् भाई दयाल जी का वंश अब निःशेष है, श्रीमान् भाई मतिदासजी के वंशव्योम के एकमात्र चमचमाते तारा भाई परमानन्द जी लाहौर में रहते हैं। आप सच्चे हिन्दु और पक्के गुरुभक्त हैं। आप का चरित्र हिन्दुमात्र के लिये सदा अनुकरणीय है।

"धर्म हेत साका जिन कीया । सीस दिया पर सिरड़ न दीया"॥२॥

अर्थ—जिन्हों ने धर्म के लिए शक्ति का काम किया । अर्थात् सिर दे दिया, पर अपने धर्म का (हिन्दुधर्म का) आग्रह न छोड़ा अर्थात् मुसलमान न हुए ॥२॥

(१८) "श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी"।

"स्वदेशजात्यै हितमादिशद्भिः, कथं विधेयं चरितं निजस्य ।
प्रादर्शि तद् येन महात्मना तं, गोविन्दसिंहं गुरुमाश्रयामः" ॥१॥

अर्थ—अपने देश और जाति के हित का उपदेश करने वालोंने अपना आचरण कैसा बनाना चाहिये । उस (आचरण) को अपने आचरण से जिस महात्मा ने अच्छी तरह दिखा दिया है, हम उस गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज का आश्रय लेते हैं ॥१॥

श्रीगुरु तेगबहादुर जी महाराज के पीछे संवत् सतरह सौ बत्तीस १७३२ विक्रमीय में श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराज गुरुगद्दीपर यथा-विधि विराजमान हुए। आपने देखा कि इस समय गुरुसिक्खों में दूसरा सब कुछ है, पर न्यूनता केवल पक्का (दृढ़) खत्री (क्षत्रिय) न होने की है । अभी ये सब, गुरुसिक्ख, धर्म की रक्षाके लिये मर मिटने से थोड़ासा डरते हैं, घर-बार की मोह, ममता के कारण युद्ध से थोड़ासा कतराते हैं। पक्का खत्री वह है, जो धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणोंको हाथकी हथेली पर रखे हुआ है, जो उसके लिए सदा मर मिटने के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं जानता है, जिसके धर्म पर मर मिटने के मार्ग में दूसरे किसी की मोह ममता, प्रतिबन्धक नहीं है । जब तक ऐसे खत्री पैदा न किये जायें, जब तक ऐसे खत्रीयों का एक संघ न बनाया जाये, तब तक दुष्टों का नाश और धर्म की रक्षा नहीं होसकती । आप ने इस वांछित कार्य की सिद्धि के लिये "आनन्दपुर" में वैशाखी के दिन सब गुरुसिक्खों का एक मेला भरा, हजारों गुरुसिक्ख मेले में आये । उन में से बड़ी कड़ी परीक्षा के साथ दयाराम, धर्मदास, साहबदास, हिम्मतराय और मोहकमचंद नाम के पांच सिक्खों को चुना । पहले उन पांचों को अमृत पिलाकर सदा के लिये मृत्यु के भय से मुक्त किया और पीछे यह उपदेश दिया

"आप का पहला जन्म जाता रहा, अब यह आपका दूसरा जन्म है। इस जन्म में आप का पिता गोविन्दसिंह, माता श्रीमती साहबदेवी जी, जन्मस्थान पटना, निवासस्थान-आनन्दपुर, वर्ण सोढवंशीय * खत्री (क्षत्रिय), धर्म-हिन्दुधर्म की रक्षा, व्यक्तिनाम यथाक्रम दयासिंह, धर्मसिंह, साहबसिंह, हिम्मतसिंह, मुहकमसिंह, समष्टिनाम "खालसा" और जगत्पति ईश्वर से सायं प्रातः प्रार्थना का शुभ नाम "अरदास" तथा आपसका स्वागत-शब्द "सत्-श्री-आकाल" है। हिन्दुधर्मकी रक्षा के लिये सदा आलस्य को खाये हुआ अर्थात् सदा आलस्य से रहित, अथवा यों कहो कि हमेशा तैयार बर तैयार, यह "खालसा" नाम का अक्षरार्थ है। "सत् श्रीअकाल"का अक्षरार्थ स्फुट और प्रसिद्ध है। ये पांचों क्या थे? पांच पाण्डव थे, पांचों महारथी थे। इन पांचों ने उपदेश को सुन कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के साक्षात्-स्वरूप श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी महाराज के चरणकमलों पर अपना सिर बड़े विनीतभावसे रखा और मुख से कहा—"साची प्रीत हम तम संग जोड़ी। तुम संग जोड़ अवरसंग तोड़ी"। कृपा के समुद्र श्रीगुरु जी महाराज ने प्रसन्न हो कर उनके सिर को चूमा और पीठ पर कृपा का मंगलमय हाथ रख कर यह आशीर्वाद दिया "सकल जगत में खालसा पन्थ जागे। जगे धर्म हिन्दू तुरकद्वन्द्व भाजे"॥१॥ जब ये पांचों, गुरुसिक्ख पक्के खत्री बन कर और श्रीगुरु गोविंदसिंहजी महाराज का शुभ आशीर्वाद पाकर पांच पञ्चास्यों की नाईं आपके निवासस्थान से बाहर आये. तब उन के दुःसह तेज को.उन के मुख की अपूर्व शोभा को उनके दर्शनीय शरीरों

---

*सूर्यवंश में सोढदेव नाम का एक बड़ा प्रतापी खत्री (क्षत्रिय) हुआ, जो अपने समय में पंजाबका सब से बड़ा राजा माना जाता था। उस का वंश बहुत बढा। उसके सब वंशधर सोढदेव के वंश में होने से सोढीय अथवा सोढवंशीय प्रसिद्ध हुए। प्रातः स्मरणीय श्रीगुरु गोविंदसिंह जी महाराज भी उसी वंशव्योम के जाज्वल्यमान सूर्य थे, इसीलिये आपने अपने पुत्र खालसा से कहा कि "आप का वर्ण सोढवंशी खत्री और धर्म-हिन्दुधर्म की रक्षा है"।

की अद्भुत श्री को देख कर, अनेक गुरुसिक्ख, खालसा-पन्थ में सम्मिलित होने के लिये लालायित हो गये। करुणावरुणालय श्रीगुरु जी महाराज की आज्ञा से उन पांचों महापुरुषों ने, उन पांचों गुरु के प्यारोंने,उन सब लालायित सिक्खों को अमृत छका (पिला)कर खालसा-पन्थ में प्रविष्ट किया। उसके पीछे श्रीगुरु गोविंदसिंह जी महाराज ने और उनके प्यारे खालसा पन्थ ने हिन्दुधर्म की रक्षा के लिये जो जो अनुपम (बेमसाल) कुर्बानियां की हैं, जो जो विचित्र और अशक्य से अशक्य कर्म किये हैं, वे किसी व्याख्यानविशेष की अपेक्षा नहीं रखते। निःसन्देह वे सब कुर्बानियां और कर्म, हिन्दुजाति के मनोरूपी नेत्रों के सामने तब तक सूर्य-चांद की नाईं चमकते रहेंगे, जब तक हिंदुजाति का प्रलय नहीं होता। धन्य हैं आप श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी महाराज!, धन्य हैं आप के पांचों प्यारे और धन्य है आपका खालसापुत्र। मैं आपके तथा आपकी खालसा-सन्तान के हिंदुजाति पर किये हुए महोपकारों को अपने हृष्टितल में रखता हुआ अनन्य-श्रद्धा-भक्ति के साथ श्रीमानों के दोनों चरणकमलों पर प्रणाम करता हूं और आपके सदुपदेश का,जो आपने 'आनन्दपुर' में इकट्ठेहुए हिन्दुओं तथा हिन्दू पहाड़ी राजाओं को दिया था, सदा ध्यान में रखने के लिये, स्मरण कराता हूं–

निज-भू-भाषा-सभ्यता, अतुल-शक्ति तिन देव।
चौथा ईश्वर देव है, सब देवनको देव ॥१॥
गौरव के हेतू यही, यही प्राण—आधार।
भोग-मोक्ष-दाता यही, मिल राखो उर-धार ॥२॥
निज-भू पर अधिकार जग, निज-भाषा विस्तार।
प्राणप्रिय निज-सभ्यता, यह गौरव को सार ॥३॥
गौरव से जीना कहें, जीना कोविद-चन्द।
जीने को जीना कहें, नर अपसद मतिमन्द ॥४॥

(१९) सिक्खों का अवान्तर भेद।

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी महाराज के खालसा-पन्थ के निर्माणके पश्चात् गुरुसिक्खों के दो भेद होगये–एक अमृती सिक्ख और दूसरे सहजधारी सिक्ख। उन दोनों में, जो खालसापन्थ में प्रवेश के समय खण्डे का

अमृत छखते (पान करते) हैं और गुरुमर्यादा का जो अमृती सिक्खों के लिये श्रीगुरु जी महाराज ने स्थिर की है, सांगोपांग, पालन करते हैं, उनको "अमृती" कहते हैं और जो अमृत नहीं छकते, केवल "गुरुमन्त्र" का उपदेश लेकर गुरुमर्यादा का, जो सहजधारी सिक्खों के लिये स्थिर की है, यथाशक्ति पालन करते हैं, उनको "सहजधारी" कहते हैं। सहजधारी सिक्खों और अमृती सिक्खों, दोनों में बस इतना ही भेद है, दूसरा कोई भेद नहीं है। दोनों आपस में समान हैं, दोनों ही विशुद्ध क्षत्रिय (खत्री) हैं और दोनों ही एक दूसरे से सदा आदर तथा सम्मान के योग्य हैं। सहजधारी सिक्खों की संख्या अमृती सिक्खों से बहुत अधिक है, मर्यादा और आचार भी सुपाल्य है, इसके सिवा अमृती सिक्खों की नाईं उन में कोई अवान्तर-भेद भी नहीं है।

(२०) "अमृती सिक्खों के भेद"

अमृती सिक्खों में अनेक प्रकार का अवान्तर-भेद होने पर भी प्रधान अवान्तर भेद चार हैं—सिंह, निहङ्ग कूके और निर्मले। जो अमृती सिक्ख हैं, सदा कमा कर खाते पीते हैं, गृहस्थ-आश्रम के सब धर्मों का यथाशक्ति भली प्रकार पालन करते हैं, उनका शुभ नाम 'सिंह' है। जो अमृती सिक्ख हैं, गृहस्थी नहीं है और नहीं कमा कर खाते हैं, किन्तु विहङ्गमवृत्ति से निर्वाह करते हैं, उनका नाम 'निहंग' है। जो अमृती सिक्ख हैं, सदा कमा कर खाते हैं, गृहस्थाश्रम के सब धर्मों को ठीक ठीक पालते हैं और श्रीमान् 'रामसिंह' गुरु की मर्यादा का विशेष-रूप से आदर तथा सम्मान-पूर्वक पालन करते हैं, उनका नाम 'कूका' है। जो अमृती सिक्ख हैं, विरक्त हैं, और सदा संन्यासवृत्ति से रहते हैं, उनका नाम 'निर्मला' है।

(२१) "श्री रामसिंह-गुरु"।

लोदीहाना-जिला के 'भैनी' गांव में श्रीरामसिंह-गुरु का जन्म हुआ। आप जाति के तरखान और जन्म से गुरुसिक्ख थे। जैसे श्रौत-स्मारत (श्रुति को तथा स्मृति को प्रमाण मानने वाले) हिन्दुओं में श्रुति-स्मृति-उक्त होने से यज्ञ में की गई पशुहिंसा, हिंसा नहीं मानी

जाती और तीर अथवा गोली से मारे हुए तथा तलवार से झटकाये हुए यज्ञिय पशुओं का मांस खाना निषिद्ध तथा पापावह नहीं माना जाता, वैसे गुरुसिक्खों में भी वह निषिद्ध तथा पापावह नहीं माना जाता। रामसिंह गुरु ने इस परम्परागत श्रौत-स्मार्त-धर्म के विरुद्ध प्रचार किया और अपने अनुयायी सिक्खों के लिये यज्ञ में हिंसा करना और यज्ञिय पशुओं का मांस खाना निषिद्ध तथा पापावह ठहराया और उन्हें यथाशक्य सदा इस पर दृढ़ रहने का उपदेश दिया। रामसिंह गुरु ने अपने जीवन में जो महत्त्वपूर्ण तथा अभूतपूर्व काम किया, वह स्वदेशी का प्रचार और विदेशी का वहिष्कार है। इसीलिये देश तथा जाति के शुभचिन्तक दीर्घदर्शी विद्वानों में श्रीरामसिंह गुरु, इस परमपवित्र तथा परमावश्यक प्रचार का प्रथम प्रचारक माना जाता तथा बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता हैं। रामसिंह गुरु के अनुयायी सिक्ख, क्या स्त्री, क्या पुरुष, सब के सब अब तक नियम से शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों को पहनते, तथा परमपवित्र स्वदेशी वस्तुओं को उपयोग में लाते और यथासामर्थ्य हर एक विदेशी वस्तु का उपयोग में लाना पाप समझते हैं। यद्यपि उन की संख्या बहुत थोड़ी है, तथापि वे अपने धर्म-कर्म में पूरे दृढ़ हैं, अच्छी तरह संगठित हैं और बड़े पुरुषार्थी हैं। इसके सिवा जैसे ये सब पक्के गुरुसिक्ख हैं, वैसे पक्के हिन्दू भी हैं। गुरुसम्प्रदाय में श्री-रामसिंह-गुरु के इन सब सिक्खों का आदर तथा सम्मान वैसा ही है, जैसा कि दूसरे सब सिक्खों का आदर तथा सम्मान है। नामधारी इन्हीं का दूसरा नाम है।

(२२) "गुरुसम्प्रदाय"।

श्री देशिकेन्द्रं गुरुनानकार्य्यं, तज्ज्येष्ठपुत्रं च मुनिं मुनीनाम्।
श्रीचन्द्रपादं प्रणमामि नित्यम्, अथो मुनीन्द्रं गुरुसंगतं च ॥१॥

श्रीगुरु नानकदेव जी की शिष्यपरम्परा का नाम 'गुरुसम्प्रदाय' है। श्रीगुरुजी महाराज वेदी थे, इसलिये गुरुसम्प्रदाय का ही दूसरा नाम वेदिसम्प्रदाय है। गुरुसम्प्रदाय में पंजाबी-भाषा के अनुसार शिष्य का उच्चारण नियम से "सिक्ख" होता है, इसलिये साधारण जनता, इसी असाधारणशब्दप्रयोग के कारण गुरुसम्प्रदाय को ही सिक्खसम्प्रदाय

कहती और मानती है। इस समय समस्त हिन्दुजाति में जितनी संप्रदायें प्रचलित हैं, उन सबमें शैव, वैष्णव, जैन और सिक्ख, ये चार संप्रदायें मुख्य हैं, जिनमें अनेक राजा, महाराजा, जमीदार, साहूकार, विद्वान् और तपस्वी, सब प्रकार के हिन्दू बहुत संख्या में सम्मिलित हैं। इन सब संप्रदायवालों का सामूहिक रूप से अर्थात् हिन्दुपण की दृष्टि से धर्मपुस्तक वेद, गुरुमन्त्र गायत्री-सावित्री और मालामन्त्र "ओम्" होने पर भी साम्प्रदायिक दृष्टि से धर्मपुस्तक, गुरुमन्त्र और मालामन्त्र, सब का अलग अलग है और वे सब एकस्वर से अपने अपने धर्म-पुस्तक को वेद के तुल्य प्रमाण, गुरुमन्त्र को गायत्री सावित्री मन्त्रके समान परमपवित्र और मालामन्त्र को ओम् की नाईं जगत्कर्ता ईश्वर का सब कालों में उच्चारण करने योग्य नाम मानते हैं। सिक्खसंप्रदाय के अर्थात् गुरुसंप्रदाय के धर्मपुस्तक के सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा। गुरुमन्त्र और मालामन्त्र के सम्बन्ध में नीचे लिखा जाता है।

(२२) "गुरुसम्प्रदाय का गुरुमन्त्र तथा मालामन्त्र"।

मन्त्र दो प्रकार का होता है—एक गुरुमन्त्र और दूसरा मालामन्त्र। शिष्य बनाने के समय जिस परमपवित्र मन्त्रका उपदेश शिष्यके दहने (दक्षिण) कान में तीनवार किया जाता है, उसको 'गुरुमन्त्र" और जिस मन्त्र का उच्चारण, सदा माला के साथ, अथवा बिना माला के, सहज-स्वभाव किया जाता है, उस द्व्यक्षरी, अथवा त्र्यक्षरी अथवा चतुरक्षरी आदि मन्त्र को आचार्य' मालामन्त्र"कहते हैं। गुरुसम्प्रदाय में "एक ओङ्कार सत-नाम" से लेकर "नानक होसी भी सच्च" तक जितना भी मन्त्र है, उसका नाम गुरुमन्त्र और "वाहगुरु" मन्त्र का मालामन्त्र नाम है। गुरुसम्प्रदाय के ज्ञानी, वाहगुरु मन्त्र के अर्थ के संबन्ध में यह कहते हैं कि मालामन्त्रों में जो जो वर्ण जिस जिस अर्थ के अभिप्राय से प्रथमवक्ता ने उच्चारण किया है, उस वर्ण का वही अर्थ करना और समझना उचित है, दूसरा उचित नहीं, क्योंकि प्रथमवक्ता के अभिप्राय से विपरीत दूसरा कोई अर्थ करने और समझने से मन्त्र निष्फल होजाता है। वाहगुरु मन्त्रमें सब वर्ण चार हैं, मात्रा विवक्षित नहीं। चारों वर्णों में से वकार (व) वर्ण का उच्चारण "वासुदेव" अर्थ के अभिप्राय से, हकार (ह) वर्ण का उच्चारण "हरि' अर्थ के अभिप्राय से, गकार (ग) वर्ण का उच्चारण "गोविन्द" अर्थ के अभिप्राय से और

रकार (र) वर्ण का उच्चारण "राम" अर्थ के अभिप्राय से प्रथमवक्ता ने किया है, इसलिये वासुदेव, हरि, गोविन्द और राम, बस यह वाहगुरु मन्त्र का अर्थ है। वासुदेव आदि चारों नाम जगत्कर्ता ईश्वर के हैं, उनमें से एक एक नाम के उच्चारण करने का जितना फल है, उससे चारगुणा अधिक वाहगुरु नाम के उच्चारण का फल है, क्योंकि वाहगुरु नाम के उच्चारण से वासुदेव आदि चारों नामों का उच्चारण अपने आप ही हो जाता है। इतना ही नहीं, ईश्वर के वैदिक अथवा पौराणिक, जितने भी नाम हैं, उन सबमें यह केवल एक वाहगुरु नाम का ही असाधारण गुण है कि वह उच्चारण से पहले मनुष्य के मन को हर्ष (खुशी) से भर देता है और पीछे उसके मुखविवर से आप निकलता है। लोकमें कौन ऐसा मनुष्य है, जो हर्ष को प्राप्त हुआ (खुश हुआ) मुखसे वाह-गुरु, धन्य-गुरु मन्त्र नहीं बोलता है। जिस मन्त्र के, अथवा ईश्वर नाम के उच्चारण से पहले भी हर्ष (खुशी) है, उच्चारण के आदि में, मध्य और अन्तमें मङ्गल है, उस के माहात्म्य को दूसरा कौन मन्त्र अथवा नाम पा सकता है। वाहगुरु मन्त्र के इस लोकोत्तर अद्भुत माहात्म्यको अनुभव करते हुए ही श्रीयुत पण्डितवर्य्य श्रीस्वामी केशवानन्द जी ने अपनी "गुरुगीता" के चौथे अध्याय में वाहगुरु मन्त्र के सम्बन्ध में ये दो श्लोक लिखे हैं—

"वाहगुरुरयं मन्त्रो भवबन्ध विमोचकः।
मन्त्राः सर्वेऽस्य मन्त्रस्य, नार्हन्ति षोडशीं कलाम्"॥ ३४॥

अर्थ—यह वाहगुरु मन्त्र, संसार के सब बन्धनों से मुक्त करने वाला है। दूसरे सब मन्त्र (मालामन्त्र), इस (वाहगुरु) मन्त्र के सोलवें भाग के भी योग्य नहीं हैं॥ ३४॥

"सकृदुच्चारितो येन, मन्त्रराजोऽयमद्भुतः।
कलौ पापसहस्राणां, तस्य स्याद् विनिवर्तनम्"॥

अर्थ—जो कलियुग में इस अद्भुत मन्त्रराज का एकवार उच्चारण करता है, उस के हजारों पाप निवृत्त हो जाते हैं॥ ३७॥

गुरुसम्प्रदाय के ज्ञानी, वर्णों को अलग अलग करके वाहगुरु नाम का अर्थ जैसे करते हैं, माण्डूक्य ऋषि ने माण्डूक्योपनिषद् में वर्णों को अलग अलग करके ओम्-नामका अर्थ भी वैसे ही लिखा है। ओम्-

नाम में अकार (अ), उकार (उ) और मकार (म्), ये तीन ३ वर्ण हैं। उन में से अकार (अ) वर्ण का अर्थ वैश्वानर (विराट्), उकार (उ) वर्ण का अर्थ तैजस (हिरण्यगर्भ) और मकार (म्) वर्ण का अर्थ प्राज्ञ (ईश्वर), यह माण्डूक्य ऋषि के सारे लेख का सार है। मध्यस्थ-दृष्टि से देखा जाय, तो ज्ञानियों के अर्थों में और माण्डूक्य ऋषि के अर्थों में भूमिपाताल का अन्तर है। गुरुसम्प्रदाय के ज्ञानी, अर्थ के आरम्भ में वर्ण(अक्षर)के सम्बन्धको दृष्टितल में रखते हुए वाहगुरु मन्त्रके वकार आदि वर्णों का वासुदेव आदि अर्थ करते हैं, माण्डूक्य ऋषि, अर्थ के आरम्भमें वर्णके सम्बन्ध की कुछ भी परवाह न करता हुआ ओम् नामके अकार आदि वर्णों का अर्थ वैश्वानर आदि करता है। जैसे अर्थ के आदि में, मन्त्र के वर्णों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष सुन पड़ने और देख पड़ने से वकार वर्णका अर्थ वासुदेव, हकार वर्णका अर्थ हरि गकार वर्णका अर्थ गोविन्द और रकार वर्णका अर्थ राम, सङ्गत तथा मनोरम प्रतीत होता है, वैसे अकार का अर्थ वैश्वानर, उकार का अर्थ तैजस और मकार का अर्थ प्राज्ञ, संगत तथा हृदयङ्गम प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अकार और वैश्वानर का, उकार और तैजस का, मकार और प्राज्ञ का आपस में न वर्णसम्बन्ध है, नहीं कोई दूसरा ही सम्बन्ध है। तथाऽपि माण्डूक्य ऋषि का किया हुआ यह अर्थ मनोघड़न्त (मनः कल्पित) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह ऋषि है, आप्त है। निःसन्देह माण्डूक्य ऋषि ने मूलवक्ता के अभिप्राय को अनुभव कर के ही ओम् मन्त्र के अकार आदि वर्णों का वैश्वानर आदि अर्थ किया है, केवल अपने मन की कल्पना से नहीं किया। गुरुसम्प्रदाय के ज्ञानी भी मूलवक्ता के अभिप्राय को अनुभव कर के ही वाहगुरु मन्त्र के वकार आदि वर्णों का वासुदेव आदि अर्थ करते हैं, अपने मन की निर्मूल कल्पनामात्र से नहीं। इसलिए माण्डूक्यऋषि के अर्थ की नाईं गुरुसम्प्रदाय के ज्ञानियों का अर्थ भी श्रद्धेय और उपादेय है।

गुरुवाणी के मर्मज्ञ ज्ञानी पण्डितोंका मत है कि श्रीगुरु नानकदेव जी ने वाहगुरु मन्त्र के अर्थ को लक्ष्य में रखते हुए ही जपसंहिता के तीसवें "एका मायी" पर्व का उच्चारण किया है। इसलिए उस पर्व के अनुसार ही वाहगुरु मन्त्र का अर्थ होना चाहिये, विपरीत नहीं। इस पर्वमें तीन शिष्य और एक उन तीनों का गुरु कथन किया है। ब्रह्मा, विष्णु,

महेश (शिव) शिष्य और अकालपुरुष मायापति ईश्वर गुरु है । वाह-गुरु मन्त्रमें भी वाह शब्दसे तीन शिष्य और गुरु शब्दसे उन तीनोंका गुरु ईश्वर अभिप्रेत है । इस लिये "ओम्"के अ-उ-म् की नाईं "वाह"के वकार का अर्थ विधाता ब्रह्मा, अकार का अर्थ अविता पालयिता विष्णु और हकारका अर्थ हर्ता संहर्ता शिव है और तीनोंका गुरु अकालपुरुष मायापति ईश्वर यह वाहगुरु मन्त्र का अर्थ है । प्रायः सब पुराणों और उपपुराणोंमें ओम्के अ,उ,म् वर्णका अर्थ क्रमसे विष्णु ब्रह्मा और महेश किया है,उसकी अपेक्षा वाहके व,अ और ह वर्णका अर्थ विधाता(ब्रह्मा) अविता (विष्णु) और हर्ता (महेश) बहुत ही चित्ताकर्षक और युक्तियुक्त है । क्योंकि पुराणों और उपपुराणों के अर्थ में जैसा चाहिए वैसा कोई वर्णसादृश्य नहीं है ।

संस्कृतभाषाके प्रायः सभी पण्डित "वाहयन्ति निर्वाहयन्ति इति वाहाः = ब्रह्मादय" अर्थात् जो जगत् के सृष्टि,पालन और संहाररूपी निज निज कर्मको (अधिकृत कार्यको) अच्छी तरह निबाहते अर्थात् करते हैं,उन का नाम वाह, इस प्रकार कर्ता अर्थ में वाह शब्द को बना कर उसका अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और महेश करते हैं और उन तीनों का अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश का गुरु अर्थात् उपदेष्टा अथवा जनक होने से ईश्वर का नाम वाहगुरु कहते हैं ।

वेदविद्या के पारंगत विद्वानों का मत है कि मन्त्रकाल में जनता 'वाह इन्द्र' मन्त्रका उच्चारण किया करती थी । जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने इन्द्रयज्ञ का निषेध कर दिया,तो इन्द्र में अरुचि हो जाने से जनता ने "वाह-इन्द्र" मन्त्र का उच्चारण करना एकदम छोड़ दिया । कौरव-पाण्डव-युद्धके पीछे वेदविद्या के पठन पाठनका अत्यन्त ह्रास होजाने से वह(वाह-इन्द्र)जनता के स्मृतिपथसे विल्कुल उतर गया और मृतप्राय-सा हो गया । श्रीगुरु नानकदेव जी के समय में तो इन्द्रशब्द देवताके अर्थ में रूढ़ सा हो गया था और हिंदुजनता उसका अर्थ ईश्वर सर्वथा भूल गई थी । श्रीगुरु नानकदेव जी को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की नाईं देवतावाद का खण्डन अथवा मण्डन पसन्द नहीं था । वे एक अद्वितीय जगत्कर्ता ईश्वर की ज्ञानपूर्वक भक्तिका और कर्तव्यबुद्धि से कर्मों के यथाविधि करने का उपदेश देना और प्रचार करना अपना

मुख्य कर्तव्य समझते और मानते थे। ईश्वरके सम्बन्ध में आपकी दृढ़ धारणा यह थी कि सब सत्य विद्याओं का मूल कारण होने से जगत्कर्ता ईश्वर ही एक मुख्य गुरु है। इसलिये आपने सर्वगुरु ईश्वर की अनन्यभक्ति के साथ साथ जहां वेदोक्त कर्मयोग को पुनरुज्जीवित किया, वहा अनादि वेदोक्त "वाह-इन्द्र" मन्त्रको भी "वाहगुरु" मन्त्रके रूपमें प्राणदान दिया। पीछे श्रीगुरु अर्जुनदेवजीके समय में वाहगुरु मन्त्र प्रौढ होकर सम्पूर्ण गुरुसम्प्रदायमें प्रविष्ट हो गया और सायं-प्रातः अपनी परमपुनीत ध्वनि से सब के मनों को प्रसन्न करने लगा। मन्त्रकालमें सब जनता "वाह-इन्द्र" का उच्चारण किया करती थी, यह ऋक्संहिताके प्रायःसारे तीसरे मण्डल के द्रष्टा गाधिपुत्र "विश्वामित्र" ऋषि के "इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्" अर्थात् इन्द्र (ईश्वर) के लिये कुशिकवंशियोंने वाह उच्चारण किया (ऋ० ३। ३०। २०) (ऋ० ३। ५०। ४) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है। लोक और वेद, दोनों में सब से ऊँची स्तुति का नाम वाह है। जो सब से ऊँची स्तुति है, यह तेरे लिये हैं, हेइन्द्र! यह वेदोक्त "वाह-इन्द्र" मन्त्र का अक्षरार्थ है। "वाह-गुरु" मन्त्र का अक्षरार्थ भी यही है अर्थात् सबसे ऊंची स्तुति केवल तेरे लिये है, अथवा यों कहो कि सब से ऊंची स्तुति के योग्य तू ही है, हे गुरुओं के गुरु अकालपुरुष ईश्वर! यह वाहगुरु मन्त्र का अर्थ है और यही समीचीन तथा मानने योग्य है।

जितने ईश्वरनाम हैं, सब से ऊंचा नाम।
चार अक्खरी वाहगुरु, चार अर्थ शुभ-धाम ॥१॥
जो प्राणी इस को जपे, निसदिन आदर साथ।
लोकश्री पाछे भमे, मुक्ति नमावे माथ ॥२॥

(२४) "गुरुसम्प्रदाय का धर्मपुस्तक"।

गुरुसम्प्रदाय के धर्मपुस्तक का शुभ नाम श्री "गुरुग्रन्थ" है। गुरु-संहिता और गुरुग्रन्थ, दोनों पर्याय शब्द हैं। जैसे भगवान् वेद में अनेक वर्णोंके अनेक ऋषियों की बाणी का संग्रह है, वैसे श्रीगुरुग्रन्थ में अनेक वर्णों के अनेक भक्तों तथा भट्टों (स्तावकों) और अनेक गुरुओं की बाणी का संग्रह है। भगवान् वेद में, मन्त्र और ब्राह्मण, दो

भाग हैं, श्रीगुरुग्रन्थ में भी मन्त्र और ब्राह्मण,दो भाग हैं। उन दोनोंमें गुरुओं की वाणी मन्त्ररूप है और भट्टों तथा भक्तों की वाणी ब्राह्मणरूप है, यह प्राचीन साम्प्रदायिकों का मत है। भगवान् वेदके ब्राह्मणभाग और मन्त्रभाग,दोनोंमें व्याख्यान-व्याख्येय भाव नामका भेद होने परभी उन (दोनों) के प्रमाण्यमें किञ्चित् भी भेद नहीं है,यह शतपथ-ब्राह्मण" के—"यथा ऋक्,तथा ब्राह्मणम्" अर्थात् जैसा मन्त्रहै वैसा ही ब्राह्मण है (शत०१२।५।२।४), इस श्रुतिवाक्य से अत्यन्तस्पष्ट है। इस लिये सनातन वैदिकसम्प्रदाय में मंत्र तथा ब्राह्मण-रूप भगवान् वेद, जैसे अपने अर्थ में सर्वथा निरपेक्ष (स्वतन्त्र) प्रमाण होनेसे स्वतःप्रमाण है, वैसे ही गुरुसम्प्रदाय में मन्त्र रूप तथा ब्रह्मण-रूप श्रीगुरुग्रन्थ भी अपने अर्थ में सर्वथा निरपेक्ष प्रमाण होने से सदा स्वतः प्रमाण है और यह, परमादरणीय श्रीभाई गुरुदास जीके "वेद ग्रन्थ गुरुहट्टा है" अर्थात् वेद और गुरुग्रन्थ, दोनों जगद्गुरु ईश्वर के ज्ञान का भाण्डार हैं, वचन से निर्विवाद स्पष्ट सिद्ध है। यहां पर सारस्वतप्रवर पण्डित श्रीहरिकृष्ण-व्यास जी का निम्न संस्कृत श्लोक भी, जो आपने काशीजी की पंडितसभा में श्रीगुरुग्रन्थ जी के सम्बध में प्रामाण्य का विवाद मिटाने के लिये पढ़ा था, स्मरण रखने योग्य है—

"यद्[1] ब्रह्म[2] प्रणवात्मकं[3] कृतयुगे[4] सोर्द्धात्रिमात्रात्मकं, त्रेतायां च युगे तदेवं समभूद् वेदत्रयीरूपधृक्। भूयोऽभूत् च पुराणभारतवपुर्, व्यासाद् युगे द्वापरे, तदृ श्रीग्रन्थवपुर् गुरोः कलिजनोद्धाराय तिष्ये युगे" ॥१॥ (गुरुसिद्धान्तपारिजात)

अर्थ—जो नादरूपी ब्रह्म, सत्ययुग में ब्रह्मा के द्वारा साढ़ीतीन मात्रा रूप अर्थात् ओङ्काररूप हुआ, वही, निश्चय फिर त्रेता युग में ऋषियों के द्वारा ऋग, यजु,साम-भेद से तीन वेद-रूप हुआ। फिर वही निश्चय द्वापर युग में वेदव्यास के द्वारा पुराण और महाभारत रूप हुआ, वही कलियुग में श्रीगुरु नानकदेव जी के द्वारा कलिकाल के जीवों के उद्धार के लिये श्रीगुरुग्रन्थ-रूप हुआ, इसलिये भगवान् वेद और श्रीगुरुग्रंथ, दोनों का प्रामाण्य एकसा है ॥ १ ॥

जातिदृष्ट्या मता धर्मे, प्रमाणं वेदसंहिता ।
साम्प्रदायिकदृष्ट्या च, प्रमाणं गुरुसंहिता ॥१॥
न्यूनाधिक्यविवादस्तु, केवलं बुद्धिविप्लवः ।
यावन्नाधीयते वेदस्तावत् तस्य हि सम्भवः ॥२॥
अधीयेताखिलो वेदः, सर्वा च गुरुसंहिता ।
तदा ज्ञायेत तत्त्वेन, का न्यूना चाधिका च का ॥३॥
अज्ञात्वा नाचरेत् कर्म, खिन्नचित्तोऽपि पण्डितः ।
प्रतीकारधिया जातु, बाध्यते येन सङ्ग्रहः ॥४॥
जीवति सङ्ग्रहे जातिस्तद्बाधे च विनश्यति ।
किं तयोरुभयोर्युक्तं, यो विवेकी स पश्यति ॥५॥

भगवान् वेद और श्रीगुरुग्रन्थ, दोनों में मन्त्रभाग स्वतः प्रमाण और ब्राह्मणभाग परतः प्रमाण, यह वेदविद्या के निष्णाता और गुरु वाणी के मर्मज्ञ प्रायः सभी पण्डितों का मत है । भेद केवल इतना है कि भगवान् वेद में मन्त्रभाग के पाठ (स्वाध्याय) का जितना माहात्म्य है, ब्राह्मण भाग के पाठका, उतना माहात्म्य नहीं है । परन्तु श्रीगुरुग्रन्थ में मन्त्रभाग के पाठका जितना महात्म्य है, जितना पुण्य है, ब्राह्मण-भाग के पाठका माहात्म्य और पुण्य भी, उतना ही है, भेद लेशमात्र भी नहीं । बस, सर्वाङ्गसुन्दर होने से यही मत मान्य और श्रद्धेय है, यही मत सर्वथा निर्दोष होने से आदरणीय और उपादेय है ।

यहां यह स्मरण रखने योग्य है कि पाठ के मुख्य दो भेद हैं-एक नित्य पाठ और दूसरा नैमित्तिकपाठ । नैमित्तिकपाठ भी पुनः दो प्रकार का है—एक अखण्डपाठ,जिसको प्राय "पारायण" भी कहते हैं और दूसरा साप्ताहिक पाठ अर्थात् पूरे सात दिन में समाप्त होने वाला पाठ । नित्यपाठ हो, अथवा नैमित्तिकपाठ, दोनों की सांझी संज्ञा (नाम) "ब्रह्मयज्ञ" है । ब्रह्मयज्ञ का ही दूसरा नाम "स्वाध्याय" है, और यह "शतपथ-ब्राह्मण" के "स्वाध्यायो[२] वै ब्रह्मयज्ञः" अर्थात् स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है(शत० ११।५।६।३) श्रुतिवाक्य से स्पष्ट है । जो व्यक्ती दक्षिणा के उद्देश से यज्ञ को करते हैं, उनको "ऋत्विज" और जो

और जो उन ऋत्विजों से पुण्यविशेष की प्राप्ति के उद्देश से ब्रह्मयज्ञ को कराते हैं, उनको "यजमान" कहते हैं। ब्रह्मयज्ञ में ऋत्विजों को ही जनता, पाठक और पाठी कहती है। यज्ञकर्म के आरम्भ से लेकर समाप्ति तक ऋत्विजों और यजमान, दोनों के लिये जैसे सब प्रकार से शुचि, अप्रमादी, मितभाषी, मिताहारी तथा पूरा ब्रह्मचारी होकर रहने का नियम है, वैसे सिर पर बहुमूल्य पग्ग अथवा फेंटा बांध कर और शरीर पर नये अथवा न फटे हुए, स्वच्छ तथा मूल्यवान् वस्त्र पहन कर यज्ञ कर्म के करने तथा कराने का भी नियम है। और ऐसे ही यज्ञ कर्म में दर्शन तथा श्रवण के उद्देशसे सम्मिलित होनेवाले स्त्री पुरुषों के लिये भी, नये, निर्मल तथा बहुमूल्य वस्त्र पहन कर सम्मिलित होनेका अटूट नियम है। प्राचीन काल में सब ऋत्विज और यजमान, दोनों कैसे कैसे बहुमूल्य वस्त्र पहन कर यज्ञकर्म को करते तथा कराते थे, और दर्शक तथा श्रावक स्त्रीगण तथा पुरुषसमूह कैसे कैसे मूल्यवान् वस्त्रों को पहन कर यज्ञ कर्म में सम्मिलित होते थे, यह उनके सिर के फेंटों अर्थात् पग्गों के वर्णन से, जो ऋक्संहिता के मन्त्रों में विस्तारसहित किया गया है, स्वयं ज्ञात होजाता है। ऋक्संहिता के उन सब वर्णनमन्त्रों में से एकमन्त्र का आकार इसप्रकार है — "शिप्राः शीर्षसु वितताः हिरण्ययीः" अर्थात् सिरों पर फेंटे (पग्गें) हैं, बड़े फैले हुए और सोने से अत्यन्त भरे हुए अर्थात् सोने की झालरों तथा सोने की कलिगयों वाले (ऋ० ५। ५४। ११)। परन्तु ऐसे स्वच्छ तथा बहुमूल्य वस्त्रों के पहनने का नियम केवल देवयज्ञों में ही है, शत्रुओं के मारने अथवा पराभव के उद्देश से किये जानेवाले "श्येन" आदि नाम के असुरयज्ञों में नहीं है। श्येन आदि नाम के असुरयज्ञों में ऋत्विजों को कैसे वस्त्र पहनने होते हैं, उसका विधान सामवेद के षड्विंश-ब्राह्मण में इस प्रकार किया है "लोहितोष्णीषाः लोहितवाससो निवीताः ऋत्विजः प्रचरन्ति" अर्थात् लाल पग्गों वाले, लाल वस्त्रों वाले, जनेऊ को छाती पर लटकाये हुए, ऋत्विज, श्येन-यज्ञ करें (षड्विंशब्रा, ३। ८)। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधयज्ञ तक, जितने देवयज्ञ किये जाते हैं, उन सब में मुख्यतम

एक "ब्रह्मयज्ञ" अर्थात् अपनी धर्मपुस्तक का नित्य अथवा नैमित्तिक पाठ है। जितना महात्म्य(सामर्थ्य)इस ब्रह्मयज्ञका है, उतना महात्म्य किसी दूसरे देवयज्ञ का नहीं है। यह ब्रह्मयज्ञ) जितना ही विधिपूर्वक किया जाता है, उतना ही अधिक पुण्य का जनक होता है। इस ब्रह्मयज्ञ के करने वाले ऋत्विजों को तथा कराने वाले यजमानों को यज्ञिय विधि का बड़े यत्न से पालन करना चाहिए। और यज्ञकर्म में सम्मिलित होने वाले श्रोतागण, यजमान तथा यजमानपत्नीकी नाईं शरीरपर नये अथवा न फटे हुए, स्वच्छ तथा मूल्यवान् वस्त्र पहन कर और पुरुष प्रायः सिर पर मूल्यवान् पग्ग अथवा फेंटा बांध कर शान्त तथा एकाग्र मन से पाठ को सुनें और पाठी ऋत्विज, स्वच्छ वस्त्र पहने हुए तथा फेंटे अथवा पग्ग, सिर पर बांधे हुए बड़े मधुर स्वर से पाठ को करें। जिस पाठ को सिर से नंगा अर्थात् सिर को पग्ग या फेंटा से न ढांपे हुआ आप यजमान अथवा दूसरा कोई श्रोता पुरुष सुनता है और पाठी ऋत्विज सिर से बिल्कुल नंगे(सिरपर उष्णीष आदि न बांधे हुए)तथा शरीर से बिल्कुल नगे अर्थात् शरीर को वस्त्र से न ढांपे हुए, जिस पाठको करते हैं, वह सर्वथा आसुरी पाठ है, वह निःसन्देह असुरयज्ञसे भी परला निषिद्ध राक्षसयज्ञ है। उस में देवता नहीं आते और उन के न आने से वह (ब्रह्मयज्ञ)अङ्गहीन होने के कारण सफल नहीं होता, उलटा यजमान और ऋत्विज, दोनोंके लिये अत्यन्त हानिकारक होता है। इसलिये ब्रह्मयज्ञरूपी श्रीगुरुग्रन्थजी का पाठ, नित्य हो अथवा नैमित्तिक, अखण्ड हो अथवा साप्ताहिक, पाठी ऋत्विज सिर को पग्ग से या फेंटे से और शरीर को स्वच्छ वस्त्र से अथवा चोले से सर्वदा ढांपकर करें, सिरसे तथा शरीरसे एकदम नंगे बैठकर न करें, यह विधि है, यही साम्प्रदायिक पद्धति, यही गुरुघरकी मर्यादा और यही अनादि ऋषियों का सिद्धान्त है।

(२५) "जपसंहिता"।

श्रीगुरुग्रन्थ जी का आरम्भ जिस गुरुबाणीसे होता है अर्थात् श्रीगुरुग्रन्थ-रूपी हरिमन्दिर की आधारशिलारूप जो गुरुबाणी है, उस का नाम "जपजी" अर्थात् जपसंहिता है। इस सारी गुरुबाणी के द्रष्टा श्रीगुरुनानकदेव जी महाराज हैं। आप ने समय समय पर इस परम-

पवित्र वाणी का उच्चारण किया और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीगुरु अर्जुनदेव जी महाराज ने उस का क्रमवद्ध संग्रह कर के "जप" अर्थात् "जपसंहिता" नाम रखा। क्रमवद्ध संग्रह का ही दूसरा नाम संहिता है। इस जपसंहिताके आरम्भमें शिरोमन्त्रके सहित(साथ)गुरुमन्त्र है, जो गुरुसम्प्रदाय में प्रवेशके समय शिष्यके दहने कान में तीन ३ वार सुनाया जाता है। उसके मध्य में जो "जप" क्रियापद प्रयुक्त हुआ है, वही उसके जप या जपसंहिता नामका निमित्त है। जपसंहिताके अन्तमें एक उपसंहार नामका षट्पदी श्लोक है। उस में जपसंहिता के उपदेशानुसार आचरण (अमल)करने वाले कर्मयोगी ईश्वरभक्तका माहात्म्य कथन किया है। जपसंहिताका अवान्तर विभाग पर्वों (पौड़ियों)में किया गया है। जपसंहिता में वेदसूक्तोंके स्थानापन्न पर्व और सब पर्वों की संख्या अठतीस ३८ है। एक एक पर्व में दो २ से वारह १२ तक मन्त्र और सब पर्वों के सब मन्त्रों की संख्या एक सौ पचासी १८५ है। जपसंहिता के इन अठतीस ३८ पर्वों और एक सौ पचासी १८५ मन्त्रों में चारों वेदों का सम्पूर्ण उपदेष्टव्य अर्थ, जो इस समय अनुष्ठान में लाने योग्य है, पूर्णरूप से आ गया है। सम्प्रति सब हिन्दुओं के लिये जैसा ज्ञान और जो जो शुभकर्म करना आवश्यक है, वैसे ज्ञान का और उन सब शुभ कर्मों का उपदेश भी यथायोग्य किया गया है। उपनिषदों का ज्ञानयोग, भगवद्गीता का कर्मयोग, भक्तिसूत्रों का भक्तियोग, पुराणों का नामयोग, अर्थशास्त्र का रहस्य और समाजशास्त्र का समग्र मर्म तथा बल का यथास्थान उचित उपयोग और माहात्म्य भी वेदार्थ के साथ साथ अच्छी तरह समझाया गया है। इस में यत्किञ्चित् भी अतिशयोक्ति नहीं कि इस जपसंहिता में मनुष्यमात्र के उपयोगी, वे सब मन्तव्य और अनुष्ठातव्य कर्म, संक्षेप से आगये हैं, जो ऋगादि चारों वेदोंमें दसों १० उपनिषदों और समग्र भगवद्गीता में विस्तार से कहे गये हैं। इसी से जपसंहिता का माहात्म्य वहुत बड़ा है, सर्वथा वर्णनातीत है। इस जपसंहिता की अनेक टीकायें अनेक पण्डितों और अनेक ज्ञानियों ने की हैं, भाष्य किसी ने नहीं किया था। मैंने इस न्यूनताके दूर करने का यथाशक्ति, यथामति, प्रयत्न किया और सब प्रकार की हिन्दुजनता के सुखबोधार्थ पहले उसका सरल संस्कृत

भाषा और हिन्दीभाषामें अनुवाद किया और पीछे संक्षिप्त हिन्दी भाष्य लिखा। अब मैं बड़े हर्ष के साथ,बड़े उत्साह के साथ, दोनों अनुवादों के सहित जपसंहिता के भाष्य को आप सबके सामने रखता हूँ और आशा करता हूं कि आप सब इसको देख कर प्रसन्न होंगे और पढ़कर मेरा प्रयत्न सफल करेंगे।

श्रीलर्षिदृष्टमन्त्रत्वात्, पावनी वेदसंहिता ।
श्रीगुरुदृष्टमन्त्रत्वत, पावनी जपसंहिता ॥१॥
भाष्ययोग्यामिमां पश्यन्, गूढार्थां वैदिको मुनिः ।
अकृतात्पतमं भाष्यम्, उदासीनशिरोमणिः ॥२॥
अलेखीत् सर्वमेवात्र, तथ्यं न्याय्यं तथोचितम् ।
वृद्धैराप्ततमैर्दिष्टम्, आत्मना च समीक्षितम् ॥३॥
पठन्तु साधवः सर्वे, गृहस्थाः कृतबुद्धयः ।
श्रीजपसंहिताभाष्यं, श्रेयसेऽभ्युदयाय च ।४॥

हरिप्रसाद वैदिकमुनि



ओ३म्

"विशेषवक्तव्य" ।

"इड़ा सरस्वती मही, तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
वर्हिः सीदन्तु अस्रिधः" (ऋ० १ । ३३ । ९) ।

अर्थ—मातृभूमि, मातृभाषा, पूज्या मातृसभ्यता, तीनों सुख की जननी देवियां, न कभी पीडित हुई अर्थात् सदा जीति जगती और प्रफुल्लित हुई, हमारे यज्ञ में अर्थात् हमारे निज के, जाति के,तथा देश के हर एक उत्सव में बैठे अर्थात् सुखपूर्वक विराजमान होवें ॥ ९ ॥

"मातृवाक् प्राकृता भाषा, मातृभूमिश्च भारतम् ।
सभ्यता वेषभूषादिरिति शास्त्रविदां मतम्" ॥२॥

अर्थ—मातृभाषा=प्राकृतभाषा (आजकल हिन्दीभाषा), मातृभूमि= "भारत" और मातृसभ्यता-वेष, अलङ्कार, नाम तथा आचार अर्थात् कुलाचार, देशाचार और शिष्टाचार,यह शास्त्रवेत्ता पण्डितों का मत है॥ २॥

"प्राकृतभाषा और संस्कृतभाषा" ।

भाषाका दूसरा पर्याय वाणी है । मनुष्य, जिस भाषा या जिस वाणी को बोलता है,अथवा यों कहो कि मनुष्य जिस अर्थविशेष अर्थात् वस्तुविशेष को कहने के लिये शरीर के अन्दर ब्रह्मग्रन्थि में आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न हुई जिस वाणी को कण्ठ,तालु आदि के संयोग से मुख के द्वारा बाहर निकालता है, उस को "वैखरी-वाणी" कहते हैं । वैखरी वाणी का ही दूसरा अन्वर्थ नाम "पराची-वाणी"=मुख से परे (दूर) गई हुई अर्थात् मुख से निकली हुई वाणी है । तैत्तिरीयसंहिता के श्रुतिवाक्य में कहा है कि पराची-वाणी अर्थात् वैखरीवाणी, पहले अव्याकृत अर्थात् प्राकृत थी, पीछे व्याकृत अर्थात् संस्कृत हुई । उसके श्रुतिवाक्य का आकार इस-प्रकार है—

"वाग् वै पराची अव्याकृताऽवदत ! तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत ! तस्मादू इयं व्याकृता वाग् उद्यते" (तै० सं० ६।४।७) ।

अर्थ—पराची (वैखरी) वाणी पहले निश्चय अव्याकृत बोली

जाती थी। पीछे इन्द्र ने उसे बीच में से-काट कर अर्थात् प्रकृति,प्रत्यय नाम के दो भाग कर, व्याकृत किया। इसलिये अब यह वाणी व्याकृत बोली जाती है॥ ७॥

व्याकृत शब्द का अर्थ खुली हुई या खोल कर बनाई हुई है। अर्थात् प्रकृति प्रत्यय-नाम के दो भाग (हिस्से) कल्पना कर बनाई हुई, "व्याकृत" शब्द का अर्थ है। संस्कृत शब्दका अर्थ भी यही है अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय-नाम के दो कल्पित भागों से वाणी (पद-रूपी वाणी) के बनाने का नाम-संस्कार और संस्कार की हुई या प्रकृति, प्रत्यय-नाम के दो कल्पित भागों से बनाई हुई "संस्कृत" शब्द का अर्थ है। इसलिये व्याकृत वाणी कहो, अथवा संस्कृत वाणी कहो, दोनों में कुछ भी भेद नहीं,एक ही बात है। और जो व्याकृतवाणी नहीं, अर्थात् संस्कृतवाणी नहीं, अथवा यों कहो कि जो वाणी,प्रकृति,प्रत्यय-नाम के दो कल्पित भागों से नहीं बनाई गई, उसका नाम अव्याकृत वाणी है। अव्याकृत वाणी का ही दूसरा नाम, प्रकृतिसिद्ध अर्थात् स्वभावसिद्ध या जन्मसिद्ध होने से प्राकृत-वाणी अथवा प्राकृतभाषा नाम है। यहां प्राकृतभाषा और संस्कृतभाषा, दोनों के भेद को इस प्रकार समझने में सुविधा होगी कि प्राकृत-भाषा, उस हीरक मणि के तुल्य है, जो जैसी कान (खाणि) से निकली है, वैसी ही उपयोग में लाई जाती है और संस्कृतभाषा, उस हीरक मणि के सदृश (तुल्य) है, जो सान पर चढ़ा कर अपने प्राकृतरूप से (कुदरती शकल से) कृत्रिमरूप में (बनावटी शकल में) लाई गई है। सान व्याकरण है। सब से पहले इन्द्र ने व्याकरण बनाकर अव्याकृत वाणी अर्थात् प्राकृतवाणी को व्याकृत अर्थात् संस्कृत किया, यह तैत्तिरीयसंहिता के श्रुतिवाक्य का हृदय है।

औत्पत्तिक होने से अर्थात् उत्पत्तिसिद्ध (जन्मसिद्ध) या प्रकृतिसिद्ध अथवा स्वतःसिद्ध होने से अव्याकृत-वाणी अर्थात् प्राकृत-भाषा का क्षेत्र विस्तृत और असीम है,जीवन लम्बा और सर्वथा स्वतन्त्र है। वह व्याकरण के कारागार में बन्द नहीं है और नहीं उसके नियमों के अटूट बन्धनों में बन्धी हुई है। उसका शब्दस्रोत जिधर को बहे, जैसा बहे, गंगा जी के जलस्रोत (जल-प्रवाह) की नाईं उधर ही शुद्ध है, वैसा ही पावन है। इसी लिये उसको "सरस्वती" अर्थात् जल की गतिवाली, कहते हैं। प्राकृत भाषा, जैसे नैसर्गिक (निसर्ग से=उत्पत्ति

से, सिद्ध) अर्थात् जन्मज है, वैसे उसका सौन्दर्य और उसकी सरसता भी एक-दम नैसर्गिक (औत्पत्तिक) अर्थात् जन्मज है। उसको अपने सौन्दर्य के लिये किसी बाहरी अलङ्कार अथवा शृङ्गार की आवश्यकता नहीं, नहीं अपनी सरसता के लिये बाहर का कोई रस अपेक्षित है। वह नितान्त मृदु है, अत्यन्त सरल है, माता की गोद में रहते हुए स्वयमेव (अपने आप) सीखी जाती है, इसी से उसको "मातृभाषा" कहते हैं। व्याकृतवाणी अर्थात् संस्कृतभाषा, प्राकृतभाषा की नाईं औत्पत्तिक अर्थात् जन्मसिद्ध नहीं, आगन्तुक है, स्वतःसिद्ध नहीं, कृत्रिम है, इसीलिये उसका क्षेत्र संकुचित है, सीमावद्ध है, जीवन अल्प और परतन्त्र है। वह जन्म से व्याकरण के कारावास में बंद है, उसके जटिल नियमों के दृढ़ वन्धनों में सिर से पांव तक बंधी हुई है, उसकी शब्दधारा इधर उधर यथाकाम नहीं बह सकती। उसको अपने सौन्दर्य के लिये भी अनेक प्रकार के बाहरी अलङ्कारों तथा शृङ्गारों की अपेक्षा है। उस में जनता के झुकाव के लिये अनेक प्रकार के रस भी भरने पड़ते हैं। वह ऊपर से मृदु देख पड़ने पर भी वस्तुतः मृदु नहीं, वड़ी कठिन है। उसके सीखने के लिये विद्वानों की गोष्ठी में वरसों रहना होता और अनेक प्रकार का अतप्य तप तपना होता है। सीखे हुए विद्वानों में भी कोई विरला ही अभ्यासशील विद्वान् उसे बोल सकता और लिख सकता है। इसी लिये उस को (संस्कृतभाषा को) "देवभाषा" अर्थात् विद्वानों की भाषा कहते हैं।

संस्कृत-भाषा जीवकृत और प्राकृतभाषा ईश्वरकृत है। इसी से उस का गौरव और महत्त्व, संस्कृतभाषा से वहुत अधिक है, उसका स्वाध्याय (नित्यपाठ) शतगुणा अधिक पुण्य का जनक है। यह सर्वथा मानी हुई बात है, इस में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं कि इस समय जगत् के सभी विद्वानों में समस्त हिन्दुजाति की धर्मपुस्तक ऋक्संहिता (ऋग्वेद) का आदर, जगत् की सभी पुस्तकों से अधिक है और अधिक से अधिक माहात्म्य माना जाता है। इस का कारण क्या है ? यही कि एक तो वह जगत् की सभी पुस्तकों से पुराणी है, दूसरा वह जगत् की सभी भाषाओं में से पहलीभाषा अर्थात् आरम्भकी प्राकृतभाषा में है, जो ईश्वरदत्त होने से सचमुच ईश्वरीय भाषा है, जिस का हरएक शब्द कुदरती रस से भरा हुआ तथा स्वतःसिद्ध प्रसादगुण से गुन्था हुआ है। जिस का हरएक वाक्य, हरएक मन्त्र, मानवी शिक्षा से क्षीर-

समुद्र की नाईं लबालब है। प्रत्येक मनुष्य को अथवा मनुष्यसमुदाय (जातिविशेष) को अपनी जीवनयात्रा में जो कुछ करना, अथवा जो कुछ जानना आवश्यक है,वह सब ऋक्संहिता में बड़ी सरलता के साथ अतीव कोमल शब्दों में जनाया गया है। जो मनुष्य श्रद्धाभक्ति के साथ इस महापुनीत ऋक्संहिता के दस बीस पाठ कर लेता है, उसे वह अपने आप आजाती है,अपने आप अपना सारा रहस्य खोल कर सामने रख देती है,बस यही उस के ईश्वरीय-भाषा में होने का पक्का सबूत है, यही उसके ईश्वरदत्त प्राकृत-भाषा में होने का दृढ़तम प्रमाण है, तथा यही अकाट्य हेतु है। जैसा ऊपर कहा है,ऐसा ही भगवती ऋक्संहिता के मन्त्र में भी कहा है। मन्त्र का स्वरूप एवंरूप है—

"उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्। उत उ त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्ये उशती सुवासाः" (ऋ० १०।७१।४)।

अर्थ—एक; वाणी को अर्थात् ऋग्वेद नाम की वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है, एक सुनता हुआ भी इस को नहीं सुनता है। और एक के लिये तो यह अपने शरीर को (रहस्य को) ऐसे खोल देती है, जैसे अच्छे वस्त्रों वाली स्त्री रति को चाहती हुई अपने शरीर को पति के लिये खोल देती है ॥४॥

संस्कृतभाषा का नियम है कि "न अपदं प्रयुञ्जीत" अर्थात् संस्कृतभाषा में अपद का (विभक्ति से रहित शब्द का) न प्रयोग (उच्चारण) करे, किन्तु पद का अर्थात् विभक्ति के सहित शब्द का प्रयोग करे (महाभाष्य० २।१।१)। प्राकृतभाषा, संस्कृतभाषा की नाईं, इस नियम के बन्धन में नहीं है। वह सर्वदा सर्वथा ऐसे नियमों से एक-दम मुक्त है। यह उस के उच्चारण करने वाले (बोलने वाले) मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह चाहे विभक्ति के सहित (साथ) शब्द का उच्चारण करे,चाहे विभक्ति से रहित अर्थात् विभक्ति के बिना शब्द को बोले। प्राकृतभाषा में दोनों प्रकार से उच्चारण किया हुआ (बोला हुआ) शब्द सर्वथा शुद्ध है, सर्वथा निर्दोष है। ऋक्संहिता अर्थात् ऋग्वेद में बहुतायत से इसी पद्धति पर शब्दों का उच्चारण हुआ है अर्थात् उस में विभक्ति से रहित (विभक्ति के बिना) शब्दों का

उच्चारण भी हुआ है और विभक्ति के सहित शब्दों का उच्चारण भी हुआ है। यदि ऋक्संहिता (ऋग्वेद) संस्कृतभाषा में होती, अथवा यों कहो कि यदि ऋक्संहिता की भाषा संस्कृतभाषा होती, तो उस में ऐसे शब्दों के (दोनों प्रकार के शब्दों के) प्रयोग (उच्चारण) बहुतायत से न पाये जाते। बहुतायत से प्रयोगों के पाये जाने से स्पष्ट सिद्ध है कि ऋक्संहिता प्राकृतभाषा में है, संस्कृतभाषा में नहीं, है। इस रहस्य को विज्ञ जनता के बुद्धितलपर ठीक ठीक (अच्छीतरह) बैठाने के लिये अर्थात् उसकी समझ में अच्छी तरह लाने के लिये अब नमूने के तौर पर कुछ ऐसे शब्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं; जिन को पढ़ कर वह अच्छी तरह समझ सके और उस का विश्वासअतीव दृढ़ हो जाये कि निःसन्देह ऋक्संहिता संस्कृतभाषा में नहीं, किन्तु ईश्वरदत्त प्राकृतभाषा में है।

(१) संस्कृतभाषा में पशु-शब्द से आगे द्वितीयाविभक्ति का एकवचन 'अम्' आने पर "पशुम्" या "पशुं" रूप बनता है और वह "मन्यमानः" पद के साथ जोड़ देने से "पशुं मन्यमानः" उच्चारण किया जाता है। ऋक्संहिता में "पशुं मन्यमानः" उच्चारण न करके "पशु मन्यमानः" (ऋ० ३। ५३। २३) उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा में ही हो सकता है, संस्कृतभाषा में नहीं।

जैसे ऋक्संहिता में द्वितीयाविभक्ति के विना "पशु" शब्द का उच्चारण हुआ है, वैसे सप्तमीविभक्ति के विना "व्योमन्" शब्द का उच्चारण हुआ है। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (ऋ० १।१६४।३९) "यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्" (ऋ० १०।१२९।७) इत्यादि उस के अनेक उदाहरण हैं।

(२) संस्कृतभाषा में 'अक्षन्' शब्द से मतुप्-प्रत्यय आने पर प्रथमा-विभक्ति के बहुवचन में "अक्षिमन्तः" रूप होता है। ऋक्संहिता में "अक्षण्वन्तः" (ऋ० १०।७१।७) उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी संस्कृतभाषा की दृष्टि से शुद्ध नहीं है। संस्कृतभाषा में "वृध" धातु से शानच् (आन) प्रत्यय आने पर "वर्धमानः" रूप होता है, ऋक्संहिता में "वृधसानः" (ऋ० ४।३।६)

उच्चारण किया है और ण्वुल् (अक्) प्रत्यय आने पर 'वर्धकः' रूप होता है, ऋक्संहिता में "वृधीकः" (ऋ० ८।६७–७८।४) उच्चारण किया है, ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा में ही हो सकता और ठीक समझा जा सकता है, संस्कृतभाषा में नहीं।

(३) संस्कृतभाषा में सर्वनाम "एतद्" शब्द का तृतीयविभक्ति के बहुवचन में "एतैः" तद्-शब्द का "तैः" पूर्व-शब्द का "पूर्वैः" तथा कर्ण शब्द का "कर्णैः" दिवोदास शब्द का " दिवोदासैः " कुशिक शब्द का "कुशिकैः" विश्वामित्र शब्द का "विश्वामित्रैः" और स्तोम शब्द का " स्तोमैः " रूप होता है। ऋक्संहिता में प्रायः "एतेभिः" (ऋ०५।१२।१०) "तेभिः" (ऋ० १०।९४।९) "पूर्वेभिः" (ऋ० १।१।२) "कर्णेभिः" (ऋ० १।८९।८) "दिवोदासेभिः" (ऋ० १।१३०।१०) "कुशिकेभिः" (ऋ० ३।२६।३) "विश्वामित्रेभिः" (ऋ० ३।१।२१) "स्तोमेभिः" (ऋ० ७।८०।१) रूप उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा में ही शुद्ध समझा जा सकता है, संस्कृतभाषा में नहीं।

(४) संस्कृतभाषा में "आत्मन्" शब्द का तृतीयाविभक्ति के एकवचन में "आत्मा" रूप, चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में "आत्मने" रूप, सप्तमीविभक्ति के एकवचन में "आत्मनि" रूप होता है। ऋक्संहिता में तृतीया और चतुर्थी विभक्ति के रूप में विभक्ति का लोप न करते हुए आदि अक्षर (आ) का ही लोप करके आत्मना का "त्मना" (ऋ० १ । ६९ । ५) और आत्मने का "त्मने" (ऋ० ७ । ६३ । ६) उच्चारण किया है और सप्तमीविभक्ति के रूपमें विभक्ति तथा आदि अक्षर (आ), दोनों का लोप करके केवल "त्मन्" (ऋ० ४ । ४ । ९) उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण संस्कृतभाषा में नहीं हो सकता और नहीं शुद्ध माना जा सकता है। प्राकृतभाषा में तो वह सब प्रकार से शुद्ध है, सब प्रकार से निर्दोष है। ऐसे ही अग्नि शब्द का सप्तमीविभक्ति के एकवचन में "अग्नौ" रूप, योनि शब्दका "योनौ" रूपऔर नाभि शब्द का "नाभौ" रूप होता है। ऋक्संहिता में यथाक्रम "अग्ना" (ऋ० १ । ५९ । ३) "योना" (ऋ०१ । १६४ । ३२) और "नाभा"

(ऋ० ८ । १३ । २९) उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा में ही हो सकता है, संस्कृतभाषा में नहीं।

(५) संस्कृतभाषा में 'कृ' धातु का लट् लकार के प्रथमपुरुष के एक वचन में "करोति" बहुवचन में "कुर्वन्ति" तथा मध्यमपुरुष के एक वचन में "करोषि" और लोट् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन में नियम से "कुरु" रूप होता है। ऋक्संहिता में यथाक्रम "करति" (ऋ० १ । ४३ । ६) "करन्ति" (ऋ० १०।४८।७) "करसि" (ऋ० ६ । ३५ । १) और "कर" (ऋ० ४ । ३३ । ५) उच्चारण किया है। ऐसे ही आत्मनेपद में "कुरुते" की जगह "करते" (ऋ०७ । ८८।१) "कुरुषे" की जगह "करसे" (ऋ० १० । २६ । ४) और कुरुष्व की जगह "कृष्व" (ऋ० १। १०। ९) उच्चारण किया है। ऐसा उच्चारण प्राकृतभाषा की दृष्टि से सर्वथा ठीक होने पर भी संस्कृतभाषा की दृष्टि से कदापि ठीक नहीं है। संस्कृतभाषा में भू धातुका लोट् लकार के प्रथमपुरुष के एकवचन में "भवतु"रूप, धा-धातु का "दधातु" तथा बहुवचन में "दधतु" और लिट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन में "दधिरे"और एकवचन में बन्ध-धातु का "बबन्ध" रूप होता है। ऋक्संहिता में भवतु के स्थान में "भूतु" (ऋ० ८।४४।२८), दधातु के स्थान में "धातु" (ऋ० ६ । ४७। ११), दधतु के स्थान में "दधन्तु" (ऋ० ७ । ६३ । ६), दधिरे के स्थान में "धिरे" (ऋ० १ । १६६ । १०) और ऐसे ही बबन्ध के स्थान में "बद्धे" (ऋ० १ । ८१ । ५) उच्चारण किया है। इसी प्रकार संस्कृतभाषा में वच्-धातु का कर्म में "उच्यते" रूप होता है, ऋक्संहिता में "वच्यते' (ऋ० १।१४२।४) उच्चारण किया है। इस प्रकार का स्वतन्त्र उच्चारण प्राकृतभाषा में ही हो सकता और सर्वथा शुद्ध समझा जा सकता है, संस्कृतभाषा में नहीं, क्योंकि वह व्याकरण के जटिल नियमों के अटूट बन्धनों में सिर से पांव तक बंधी हुई होने से सर्वथा परतन्त्रत है।

अब यहां संक्षेपदृष्टि से संस्कृतभाषा के और ऋक्संहिता की भाषा के कुछ शब्द नमूनेके तौर पर नीचे आमने सामने लिखे जाते हैं, जिन्हें

देखकर पाठकों के मन में अच्छी तरह जम जाये और पक्का निश्चय हो जाये कि समस्त हिन्दुजाति की धर्मपुस्तक ऋक्संहिता सचमुच प्राकृतभाषा में ही है, संस्कृतभाषा में नहीं है।

संस्कृतभाषा	ऋक्संहिताभाषा
(१) अनयोः	"अयोः (ऋ० १।१८५।१)
(२) युवयोः	"युवोः" (ऋ० २।२४।१२)
(३) भूम्ना	"भूना" (ऋ० १०।८२।४)
(४) मामकीना	"माकीना" (ऋ० ८।२७।८)
(५) कन्यानां	"कन्यनां" (ऋ० ८।३५।५)
(६) त्वयि	"त्वे" (ऋ० ७।४।४)
(७) तुभ्यं	"तुभ्य" (ऋ० ८।७१-८२।५)
(८) सर्वस्मिन्	"सस्मिन्" (ऋ० ४।१०।८)
(९) भयंकरः	"वकुरः" (ऋ० १।११७।२१)
(१०) उरु	"उद्रु" (ऋ० १०।१४।१२)
(११) कुर्वाणा	"क्राणा" (ऋ० १।५८।३)
(१२) गृहाण	"गृभाय" (ऋ० १०।११६।७)
(१३) कर्मी	"कूर्मिः" (ऋ० ६।२२।५)
(१४) ऋषिः	"ऋषुः" (ऋ० १।१२७।१०)
(१५) भद्रमानुषः	"भलानसः" (ऋ० ७।१८।७)
(१६) स्तेनाः	"स्तौनाः" (ऋ० ६।६६।५)
(१७) कुसखा	"कवासखा" (ऋ० ५।३४।३)
(१८) अस्य	"इमस्य" (ऋ० ८।१३।२१)
(१९) कस्य	"कयस्य" (ऋ० ८।२५।१५)
(२०) किंजः	"कीजः" (ऋ० ८।५५-६६।३)
(२१) आघोषः	"आङ्गूषः" (ऋ० १।६२।१)
(२२) वृहदुक्थं	"वृबदुक्थं" (ऋ० ८।३२।१०)

(२३) श्रोतव्येन	"श्रोमतेन" (ऋ० ८।५५-६।६।९)
(२४) उपस्थे	"उपसि" (ऋ० ६।४३।७)
(२५) कृतं	"कर्तं" (ऋ० ९।७३।९)
(२६) विषमः	"विषुणः" (ऋ० ४।६।६)
(२६) कुहचिद्	"कूचित्" (ऋ० ४।७।६)
(२८) रेतस्वी	"रेती" (ऋ० १०।४०।११)
(२९) उरुकुर्वाणः	"उराणः" (ऋ० ४।६।३)
(३०) दातव्यं	"दातं" (ऋ० ६।३९।१)
(३१) निद्राः	"निद्राः" (ऋ० ८।४८।१४)
(३२) शोभमाना	"शुम्भमाना" (ऋ० १०।१०७।१०)
(३३) अन्तिकतमः	"अन्तमः" (ऋ० ८।१३।३)
(३४) तूर्तं	"तूतुं" (ऋ० १०।५०।६)
(३५) अनवयवं	"अनवायं" (ऋ० ७।१०४।२)

ऊपर संस्कृतभाषाके शब्दोंके सामने जो ऋक्संहिता की भाषा के शब्द लिखे गये हैं,वे दिग्दर्शनमात्र अर्थात् केवल नमूना हैं। ऋक्संहिता में ऐसे शब्द अनगिनत हैं और वे सब यहां विस्तारके भयसे उद्धृत नहीं किये जा सकते। बुद्धिमान्, इन्हीं ऊपर आमने सामने उद्धृत किये गये थोड़ेसे शब्दों को तुलनात्मिक बुद्धिसे जांच कर स्थालीपुलाक न्यायसे अनायास ही इस परिणाम पर पहुंच सकता है कि यदि ऋक्संहिता की भाषा संस्कृतभाषा होती, तो संस्कृतभाषा के शब्दों से उसकी भाषा के शब्दोंका इतना भेद(वैलक्षण्य) कदापि न होता। भेद बहुत ही स्पष्ट है और इस अत्यन्त ही स्पष्ट भेद का,ऐसा माने विना कि ऋक्संहिता की भाषा,संस्कृतभाषा से भिन्न प्राकृतभाषा है, दूसरा कोई समाधान नहीं हो सकता। इसलिये अन्ततो गत्वा बलात् यही मानना पड़ता है कि निःसन्देह ऋक्संहिता की भाषा, संस्कृतभाषा नहीं, प्राकृतभाषा है।

ऋक्संहिता की भाषा और संस्कृतभाषा के शब्दों में जो थोड़ा सा सादृश्य देखने में आता है, उसका कारण यह नहीं कि ऋक्संहिता की भाषा संस्कृतभाषा है, किन्तु यह कारण है कि ऋक्संहिता की भाषा, संस्कृतभाषा की जननी अर्थात् माता है और संस्कृतभाषा

उससे जन्य अर्थात् उसकी पुत्री (लड़की) है। पितापुत्र की नाईं माता और पुत्री (बेटी) में भी थोड़े बहुत सादृश्य का होना आवश्यक तथा अनिवार्य है। और ऐसा सादृश्य, दोनों भाषाओं के अलग अलग होने में बाधक भी नहीं है, उलटा साधक है। क्योंकि भेद होने पर ही दोनों भाषायें सदृश हैं अर्थात् एक जैसी हैं, कहा जा सकता है, अभेद होने पर नहीं। इसलिये यदि कहीं ऋक्संहिता की भाषा को संस्कृतभाषा लिखा गया अथवा लिखा जाता है, तो वह गुणवृत्ति से अर्थात् जननी-जन्यभाव की दृष्टि से लिखा गया समझना चाहिये, मुख्यवृत्ति से अर्थात् ऋक्संहिता की भाषा को सचमुच संस्कृतभाषा मान कर, नहीं।

मीमांसकों के मत में वेद के दो भाग हैं—एक ब्राह्मणभाग और दूसरा मन्त्रभाग। ब्राह्मणभाग विधिरूप होने से प्रधान और उस ब्राह्मणभाग से विहित यज्ञदानादि कर्मों के अङ्गरूप द्रव्य तथा देवता का उपस्थापक (स्मारक) अथवा प्रकाशक होने से मन्त्रभाग गौण है। इसीलिये वे अपने मीमांसादर्शनमें ब्राह्मणभाग के वाक्यों की ही प्रधानरूपसे मीमांसा (विचार) करते हैं, मन्त्रभाग के वाक्यों की नहीं। ब्राह्मणभाग, सारे का सारा संस्कृतभाषा में है, बस उसीको दृष्टितल में रखते हुए उन्हों ने "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" (मी० १।२।३२) आदि सूत्रोंका आश्रय लेकर अपना यह सिद्धान्त स्थिर किया है—" ये एँव लौकिकाः शब्दाः, ते एँव वैदिकाः, ते एवं च तेषामर्थाः" अर्थात् जो ही लोकसिद्ध संस्कृतभाषा के शब्द हैं, वे ही 'वेद के शब्द हैं,' और 'वे' ही उनके अर्थ हैं, वह निःसन्देह मन्त्र और ब्राह्मण, दोनों भागों को दृष्टितल में रखते हुए स्थिर नहीं किया गया, क्योंकि मन्त्रों (ऋक्संहिता के मन्त्रों) की भाषा के शब्दों और संस्कृतभाषा के शब्दों में आकाश-पाताल का अन्तर (भेद) है और वह ऊपर के उदाहरणों से तथा पाणिनिमुनि के व्याकरण से निरपवाद सिद्ध है। ऐसी दशा में कोई भी बुद्धिमान् मीमांसकों के उक्त सिद्धान्त को ऋक्संहिता के मन्त्रों की भाषा के सम्बन्ध में नहीं मान सकता और नहीं उसे ऐसा मानना उचित है।

पाणिनि-मुनि से पहले लोकभाषा अर्थात् संस्कृतभाषा और ऋक्संहिता की भाषा, दोनों का व्याकरण अलग अलग था, पाणिनि मुनि ने ऋक्संहिता की भाषा के शब्दों को संस्कृतभाषा के शब्दों के नियमों में बांधकर एक व्याकरण बनाने का दृढ़ सङ्कल्प किया और अपने

इस सङ्कल्प के अनुसार बहुत सोच विचार के पश्चात् "अष्टाध्यायी" नाम का एक सूत्ररूप व्याकरण बनाया। परन्तु पाणिनिमुनि के लिये संस्कृतभाषा के शब्दों से ऋक्संहिता की भाषा के शब्दों का नैसर्गिक (कुदरती) वैलक्षण्य (भेद) कुछ असमाधेय सा हो गया और वह चिरकाल के सोच-विचार के पीछे भी उसका "बहुलं छन्दसि" (अष्टा० २।८३९) के सिवा दूसरा कोई सन्तोषजनक समाधान न कर सका और स्थल स्थल पर उसको यही समाधान ग्यारह ११ बार दुहराना पड़ा। इसीसे खिन्नचित्त हुआ पाणिनिमुनि ओकारान्त शब्दों के रूप बनाते समय ऋक्संहिता का "द्यो" शब्द एकदम भूल गया और "ओतो णित्" सूत्र बनाने की जगह उसने "गोतो णित्" (अष्टा० ७।१।९) सूत्र बना दिया।

पाणिनिमुनि के पीछे "कात्यायन" मुनि हुआ। उसने पाणिनिमुनि के पथ पर चलते हुए "अष्टाध्यायी" सूत्रों का टीकास्वरूप "वार्तिक" नाम का ग्रन्थ बनाया और उसमें "पाणिनि मुनि का व्याकरण, सब प्रकार से वेद का रक्षक है वेदार्थ जानने का एकमात्र उपाय अर्थात् साधन है, उसे वेदवादियों ने अपनाना चाहिये" बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा।

कात्यायनमुनि के पीछे पतञ्जलिमुनि ने अष्टाध्यायी और वार्तिक, दोनों पर बड़ा विस्तृत, बड़ा सरल तथा बड़ा ही मनोहर "भाष्य" नाम का टीका-ग्रन्थ लिखा और पाणिनिमुनि के सङ्कल्प को पूरा करने के लिये यथासामर्थ्य बड़ा प्रयत्न किया और कात्यायनमुनि के इस लेख का कि "पाणिनीय-व्याकरण वेद का रक्षक है, वेदार्थ जानने का एक मात्र उपाय है" बड़े बल से समर्थन किया। परन्तु पाणिनिमुनि की नाईं उसे भी ऋक्संहिता की भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में अथवा लोक-बोल चाल के अनुसार वैदिक शब्दोंके सम्बन्ध में "छन्दसि सर्वे विधयो विकल्पेन भवन्ति" अर्थात् गायत्री-आदि नाम के छन्दोंवाले वेद में, व्याकरण की सब विधियां (नियम) विकल्प से लागू होती अर्थात् कहीं लागू होती और कहीं लागू नहीं होती हैं (अष्टा० महा० १।४।९) के सिवा दूसरा कोई समाधान न सूझ पड़ा।

संस्कृतसाहित्यमें मीमांसक शिरोमणि कुमारिलभट्ट का नाम नामी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। कुमारिलभट्ट वेदका धुरन्धर

विद्वान् तथा कट्टर भक्त है। वह ब्राह्मणभाग और मन्त्रभाग, दोनों को एकसमान ही अपौरुषेय मानता है। उस का निश्चित मत है कि पाणिनिमुनि का व्याकरण संस्कृतसाहित्य के प्रचार में साधक होने पर भी वेद के प्रचार में साधक नहीं, उलटा बाधक है, क्योंकि उससे वेद (मन्त्रों) का तात्त्विक (वास्तव) अर्थ नहीं जाना जाता। हां, उसके सहारे वेदमन्त्रों का मन-माना अर्थ अवश्य किया जा सकता और अर्थ का अनर्थ करके वेद की श्रद्धालू हिन्दुजाति को वेदार्थ का धोखा जरूर दिया जा सकता है। इसलिये पाणिनीय-व्याकरण वेद का कदापि रक्षक नहीं। वेदभक्त भट्ट कुमारिल ने मीमांसाभाष्य के तन्त्रवार्तिक (१।३।१८) में अपने इस मत का विस्तार से उपपादन करते हुए पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि, तीनों मुनियों का बड़े तीव्र शब्दों में खण्डन किया है और बड़े स्पष्ट शब्दों में उनके व्याकरण को वेद का सर्वथा अरक्षक कहा है और यह भी कहा है कि वेद का अर्थ जानने के लिये व्याकरण आदि अङ्ग-नामी ग्रन्थों के पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं और नहीं उन का पढ़ना वेद की किसी भी शाखा में कहा गया है। भट्टजी का कथन (कहना) बड़ा लम्बा है, यहां पाठकों के परिचयार्थ उसमें से उन के एक दो वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"सूत्रवार्तिकभाष्येषु, दृश्यते चापशब्दनम्।
अश्वारूढाः कथं चाश्वान्, विस्मरेयुः सचेतनाः ॥१॥

अर्थ—पाणिनि के सूत्रों में, कात्यायन के वार्तिक में, पतञ्जलि के भाष्य में, निःसन्देह अपशब्दों अर्थात् अशुद्ध शब्दों का प्रयोग (उच्चारण) देखा जाता है। जागते हुए अर्थात् सावधान, घोड़सवार (वैयाकरण-मुनि) कैसे फिर अपनी सवारी के घोड़ों (शुद्ध शब्दों) को भूलेंगे ॥१॥

"यदि व्याकरणाद् रक्षां, मन्वीरन् वेदवादिनः।
वैयाकरणगेहेषु, छिन्द्युस्ते वेदसंशयान् ॥ २ ॥

अर्थ—वेदवादी यदि व्याकरण से वेद की रक्षा मानें। तो वे फिर वेदाध्यापकों के घरों को छोड़ कर वैयाकरणों के घरों में वेदसम्बन्धी संशयों को निवृत्त करें ॥२॥

"व्याकरणाद्यङ्गाध्ययनविधानं पुनर्न कस्यांचित् शाखायां श्रूयते" ।३॥

अर्थ—दूसरा वेद पढ़ने अर्थात् वेदार्थ जानने के लिये व्याकरण आदि अङ्गों के पढ़ने का विधान (आज्ञा) भी वेद की किसी शाखा में नहीं सुना जाता ॥३॥

जब वैराग्यवान् होकर भगवान् "बुद्ध" घर से चले गये, तो सब से पहले उन्होंने ज्ञानवृद्धि के लिये वेदादिशास्त्रों के पढ़ने का निश्चय किया और तीन तीन बरस भिन्न भिन्न विद्यालयों में रह कर समग्र वेदादि-शास्त्रों को पढ़ा। उससे उनका ज्ञान बहुत बढ़ गया और साथ ही उनके हृदय-पट्ट पर ऋक्संहिता(ऋग्वेद)की प्राकृतभाषा का अक्षय चित्र खिच गया। इसी लिये जब उनके उपदेशों को संस्कृतभाषा में लिखने का प्रस्ताव उपस्थित हुआ, तो आपने संस्कृतभाषा का निषेध करके उस समय की प्राकृतभाषा(मातृभाषा) में लेखबद्ध करने की आज्ञा प्रदान की और संस्कृतभाषा के निषेध का कारण पूछने पर उत्तर में कहा कि मेरा उपदेश जनता के सुखपूर्वक(आसानीसे) बोधके लिये है, वह जिस भाषा को बोलती और समझती है, उसी भाषा में मेरे उपदेश लिखने उचित हैं। संस्कृतभाषा, विद्वानों की भाषा है, जनता जैसे उसे बोल नहीं सकती, वैसे उसे समझ भी नहीं सकती, इसलिये उस में मेरे उपदेशों का लिखना व्यर्थ है। इसके सिवा मुझ से पहले ऋषियों(मधुच्छन्दा आदि)के उपदेश भी जनता की भाषामें ही,जिसे प्रकृतिसिद्ध होने से प्राकृतभाषा कहते हैं, लिखे गये हैं और आगे भी उसीमें ही लिखे जायेंगे,इसलिये मेरे उपदेशोंको मातृभाषा प्राकृतभाषा में ही लिखना ठीक है, संस्कृतभाषा में लिखना ठीक नहीं। जिस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के उपदेश लेखबद्ध करके संग्रह किये गये हैं, उसका शुभनाम "त्रिपिटिका" है।

जैसे ऋक्संहिता अर्थात् ऋग्वेद, प्राकृतभाषा में है, वैसे गुरुसंहिता अर्थात् गुरुग्रन्थ भी प्राकृतभाषा में है। भेद केवल इतना है कि ऋक्संहिता (ऋग्वेद) की भाषा आज से हजारों बरस पहले की है, और गुरुसंहिता की भाषा आज से सैंकड़ों बरस पहले की है, दूसरा कोई भी भेद नहीं। ऋक्संहितामें राजर्षि तथा ब्रह्मर्षि, दोनों की बाणी के साथ ऊंचनीचजाति के अनेक ऋषियों की वाणी का संग्रह है, गुरुसंहिता में भी राजर्षि गुरुओं की बाणी के साथ ऊंचनीचजाति के अनेक भक्तों तथा भट्टों की वाणी का संग्रह है।

इसके सिवा ऋक्संहिता के सूक्तों में षड्जादि के नाम से, और गुरुसंहिता के शब्दों में प्रथम, द्वितीय आदि घर के नाम से प्रत्येक मन्त्र के साथ स्वरों का विन्यास भी एकजैसा है । अधिक क्या, ऋक्संहिता और गुरुसंहिता, दोनों में शब्दोच्चारणशैली अर्थात् पदप्रयोगशैली भी एक जैसी है। ऋक्संहिता में "वनगुः" का "वनर्गुः" (ऋ० १।१४५।५) उच्चारण, गुरुसंहिता में "सगुण" का "सर्गुण" उच्चारण, ऋक्संहिता में "अधिगुः" का "अध्रिगुः" (ऋ० १।६१।१) उच्चारण, गुरुसंहिता में" विथा "(व्यथा) का "बिरथा" उच्चारण, ऋक्संहिता में "दर्शनीय" का "दृशीकं" (ऋ० १।२७।१) उच्चारण, गुरुसंहिता में दर्शनीय का "दर्शनीक" उच्चारण, ऋक्संहितामें आत्मना का "त्मना" (ऋ० १।६९।५) उच्चारण, गुरुसंहिता में काषायिक का "षायिक" (खायिक) उच्चारण, ऋक्संहिता में "अस्मद्" शब्द का तृतीया विभक्ति में "अस्मे" (ऋ० १।१६५।७) उच्चारण और गुरुसंहिता में "चुप" शब्द का "चुपे" उच्चारण, आदि, उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

ऋग्वेद अर्थात् ऋक्संहिता में मनुष्यमात्र के अनुष्ठान (अमल) में लाने योग्य जो जो बातें कही गई (कथन की गई) हैं, वे सब गुरुग्रन्थ अर्थात् गुरुसंहिता में आ गई हैं । इसके सिवा, दर्शपूर्णमासादि यज्ञ-कर्म में उपयोगी होनेके कारण हिन्दुजाति की मान्यपुस्तक यजुर्वेद तथा सामवेद का और लोकव्यवहार में उपयोगी होने के कारण हिन्दुजाति की माननीय पुस्तक अथर्ववेद का, ऐतरेयब्राह्मण आदि सभी ब्राह्मणों का, मुख्य मुख्य सभी उपनिषदों का तथा अष्टादश पुराणों और उपपुराणों का सारभूत उपदेश भी गुरुसंहिता में आ गया है। इसलिये गुरुसंहिता को यदि हिन्दुजाति की सर्वाङ्गपूर्ण (मुकम्मल) धर्मपुस्तक कहा जाये, तो इस में कुछ भी अतिशय-उक्ति नहीं ।

हिन्दुजाति की धर्मपुस्तक ऋक्संहिता अर्थात् ऋग्वेद की भाषा को बहुत चिरकाल की होने से हर एक मनुष्य नहीं पढ़ सकता और नहीं पाठमात्र से उसका अर्थ ठीक ठीक जान सकता तथा रहस्य समझ सकता है। गुरुसंहिता अर्थात् गुरुग्रन्थ की भाषा ऐसी नहीं, उसको हर एक मनुष्य बड़ी आसानी से पढ़ सकता और पाठमात्र से

उसका अर्थ अच्छी तरह जान सकता तथा रहस्य समझ सकता है। इतना ही क्यों, गुरुसंहिता अर्थात् श्रीगुरुग्रन्थ की भाषा, इतनी सरल, इतनी मधुर और इतनी प्रेम-भरी है कि उसके पढ़ने वालों का चित्त पढ़ते पढ़ते कभी उकताता तक नहीं और ईश्वरीय-प्रेम में इतना निमग्न हो जाता है कि उन्हें फिर दूसरा कुछ सूझता ही नहीं, मानों एकदम योगयुक्त हो जाता है,पास बैठ कर सुनने वालों के चित्त भी ईश्वर के रंग में पूरे पूरे रंग जाते हैं,अतुल श्रद्धा और अटूट विश्वास से एकदम मुंहों मुंह भर जाते हैं। निःसन्देह पढ़ने वालों और सुनने वालों, दोनों के चित्त,शान्ति और आनन्द के अथाह समुद्र में डूब जाते अर्थात् निमग्न हो जाते हैं। वास्तव में श्रीगुरुग्रन्थ(गुरुसंहिता)बड़ी ही अद्भुत तथा बहुमूल्य पुस्तक है। जो मनुष्य, स्त्री हो चाहे पुरुष, बाल हो चाहे वृद्ध, यावदायुः श्रद्धाभक्ति के साथ उसको प्रतिदिन नियम से पढ़ता है, वह निश्चय फिर चौरासी के चक्र में नहीं पड़ता, उसकी सारी कुल पवित्र,जननी कृतार्थ, जन्मभूमि भाग्यशालिनी और उसका जन्म सफल हो जाता है। यह अच्छी तरह निश्चित है,यह परम्परा से प्राप्त है और यही साम्प्रदायिक मत है कि श्रीगुरुग्रन्थजी के एक अखण्ड पाठ से मनुष्य निष्पाप हुआ परलोक में सद्गति को पाता है, पांच ५ अखण्ड पाठों से लोक में धन-धान्य,पुत्र,पौत्र और यश को,ग्यारह ११ अखण्ड पाठोंसे स्वर्गलोक में अनेकप्रकार के इन्द्रतुल्य ऐश्वर्य को, तथा इकवंजा ५१ अखण्ड पाठों से विष्णुलोक को और एकसौ एक १०१ अखण्डपाठोंसे सचखण्ड(सत्यलोक)में सदा के लिये निवासको पाता है। साप्ताहिक पाठोंसे सब प्रकार की मनःकामना पूरी होती हैं,नित्य पाठ से सब प्रकार का अचेतपाप निवृत्त होता है। धन्य हैं वे मनुष्य, जो निष्कामभाव से प्रतिदिन प्रातः श्रीगुरुग्रन्थजी के पाठसे अपना जन्म चरितार्थ (सफल) करते हैं। निःसन्देह वे सब आप संसारसागर से पार होते और दूसरों को पार करते हैं। सच मुच वे सदा वन्दनीय और अनुकरणीय हैं। हरएक मनुष्य को इन्हीं महाभागों के पथ का सदा पथिक हो कर अपना मनुष्यजन्म चरितार्थ करना चाहिये।

आकरः कर्मयोगस्य, भक्तिज्ञानस्य सागरः।
श्रद्धाविश्वासयोर्योनिः, शान्त्यानन्दैकनिर्झरः ॥१॥

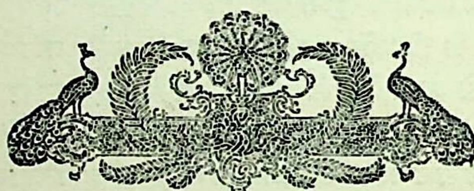
पठ्यतां श्रीगुरुग्रन्थो, रम्यतां पुत्रभार्यया ।
भुज्यतामुष्यतामन्ते, सच्चखण्डे जनाः ! सदा ॥२॥

प्रतिदिनमतिशस्तं श्रीगुरुग्रन्थमेतं,
पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तो नरो यः ।
स वसति मरणान्ते सच्चखण्डे तथाऽत्र,
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीर्तिमांश्च ॥३॥

अलौकिकज्ञानकरं महार्थं, सदादरार्हं श्रुतिकल्पवृक्षम् ।
ग्रन्थं गुरूणां प्रयतः पठेद् यः, सर्वार्थकामान् लभते स नूनम् ॥४॥

सुतं कलत्रं धनधान्यवस्त्रं, जनानुकूल्यं यश आदरं च ।
श्रुत्वा गुरुग्रन्थमिमं तु भक्त्या, प्राप्नोति सर्वां पुरुषोऽर्थसिद्धिम् ॥५॥

हरिप्रसाद-वैदिकमुनिः



पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१६	अवतीर्णम्,	अवातीर्णम् ।
१६२	१३	ऽनन्तरूपं सुरासुराः ।	ऽनन्तं रूपं सुरासुराः ।
१७२	७	देवांश्चक्रुः ।	देयांश्चक्रुः ।

अन्यत् स्वयमूह्यम् ।



अथ जपसंहिता ।

गुरुमन्त्र ।

१[१] ओङ्कार[२], सत-नाम[३], कर्ता[४], पुरुष[५], निर्भौ[६], निर्वैर[७], अकालमूर्त[८], अजूनि[९], संयभं[१०]*, गुरुप्रसाद[११] ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

एकः[१] ईश्वरः[२], सत्[३] तस्य नाम, स सर्वकर्ता[४], सर्वत्र[५] पूर्णः, निर्भयः[६], निर्वैरः[७],अकालमूर्तिः[८],अयोनिः[९],स्वयंभाः[१०],तत्प्राप्त्युपायो गुरुप्रसादः[११] ।

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर[२] एक[१] है, सत्[३] उसका नाम है, सब[४] का कर्ता है, सब[५] में पूर्ण है, भय[६] से रहित है, वैर[७] से रहित है, अकालस्वरूप[८] है, योनि[९] (कारण) के विना अर्थात् स्वयंभू है, स्वंप्रकाश[१०] है, गुरु[११] का प्रसाद (अनुग्रह) उसकी प्राप्ति का उपाय है ।

भाष्य—सर्वाकारं निराकारं, निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वशक्तिमयं वन्दे, सर्वेशं पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥
श्रीगुरुं नानकं नौमि, वेदिनं वेददेशिकम् ।
विष्णुं साक्षादवतीर्णम्, आचार्यं धर्मरक्षकम् ॥ २ ॥
जातिदेशसमुद्धर्ता, कर्मयोगेश्वरो विभुः ।
राजतां मे धियां श्रीमान्, गोविन्दकेसरी प्रभुः ॥३॥

---

* सैभं

वेदादिसर्वशास्त्राणां, रहस्यज्ञो महामतिः।
श्रीजपसंहिताभाष्यं, कुरुते वैदिको मुनिः ॥ ४ ॥

१—एक अखण्ड सच्चिदानन्द ईश्वर, अपनी सृष्टिनिर्माणशक्ति से, जिसका दूसरा नाम माया, प्रकृति अथवा स्वधा है, जड़ चेतन भेद से अर्थात् भोग्य भोक्तृ-भेदसे अनेकरूप हुआ भी आप स्वरूप से ज्यों का त्यों एक है। उसकी एकता में अनेक होने पर भी भेद नहीं हुआ, अर्थात नहीं उस में कुछ वृद्धि हुई है और नहीं कुछ ह्रास हुआ है। वह इस अनेकता से पहले जैसा एक था, वैसा ही एक अब है। अनेकता सदूवस्तु सी देखने में आती है, अनेक प्रकार के व्यवहारों को सिद्ध करती है, यह सब कुछ ठीक है,पर यह कीमत इस अनेकता की नहीं, किन्तु यह सब महिमा उस एक की है, जो इस रंग-बिरंगी अनेकता के परदे (छादन) के अन्दर छिपा हुआ है और अपनी सत्ता से इस अनेकता को सदूवस्तु की नाईं दिखाता हुआ अनेक प्रकार के व्यवहारों को उससे सिद्ध कराता है। अनेकता की अपनी कोई सत्ता नहीं,वह निःसन्देह उस एक की सत्ता से ही सत् है,उस एक की हस्ती से ही उसकी हस्ती है। यदि उस एक को इस अनेकता से अलग कर दिया जाये, तो न यह फिर सदूवस्तु सी देख पड़ेगी और नहीं कोई व्यवहार सिद्ध कर सकेगी । बस यही इसके अपनी सत्ता से रहित होने का भारी सबूत है और यही इसके कोई भी व्यवहार स्वयं न सिद्ध कर सकने का दृढ़ प्रमाण है। सदूवस्तु केवल एक ईश्वर है और अनेकता उसकी सृष्टिनिर्माण-शक्ति माया का विस्तारमात्र है,तथा उसी के सहारे से सत् है,यह ठीक ठीक समझने के लिये,बुद्धि में ठीक ठीक लाने के लिये गुरुमन्त्र के आरम्भ में एक शब्द के स्थान में संख्या के एक (१) अङ्क को रखा है। संख्या का एक अङ्क दस, सौ, हज़ार, लाख, करोड़, अर्ब, खर्ब आदि भेदों से अनेकरूप होता है और आप ज्यों का त्यों एक का एक ही रहता है। उन सब अनेकों की अपनी कोई सत्ता नहीं, वे सब इस एक की सत्ता से ही सत् हुए अनेक प्रकार के व्यवहारों को सिद्ध करते हैं। यदि इस एक को उन सब अनेकों से अलग कर दिया जाये, तो वे सब असत् हो जाते हैं और नहीं फिर कोई व्यवहार सिद्ध कर सकते हैं। इस से स्फुट है कि एक की सत्ता ही उन सब की सत्ता है और वह एक ही उन सब के व्यवहारों की सिद्धि

का एकमात्र सहारा है। जिस एक की सत्ता, उन सब की सत्ता है, जिस एक के सहारे से उन सब के व्यवहारों की सिद्धि है,वह एक ही सत् है, अनेक सत् नहीं। या यों कहो कि वे सब अनेक, इस एक का ही विस्तार हैं, इस एक की ही महिमा अर्थात् विभूति हैं, एक के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं। इसी प्रकार एक ईश्वर ही सद् वस्तु है, उस के सिवा दूसरी जड़ अथवा चेतन, भोग्य अथवा भोक्तृ, कोई भी वस्तु सत् नहीं, या यों कहो कि दूसरी जड़चेतन या भोग्यभोक्तृ सब वस्तु उसी एक ईश्वर की महिमा अर्थात् विभूति है। बस यही गुरुमन्त्र के आरम्भ में एक शब्द की जगह एक अङ्क के रखने का अभिप्राय है और ऐसा ही सब साम्प्रदायिक मानते हैं।

ओङ्कार} जैसे स्वाहा के आगे कार (प्रत्यय) लगाने से स्वाहाकार और वषट् के आगे कार लगाने से वषट्कार (शत० ९।३।३।१४) बनता है, वैसे ओम् के आगे कार लगाने से ओङ्कार बनता है। परन्तु स्वाहा और स्वाहाकार का अर्थ जैसे एक है, वषट् और वषट्कार का अर्थ जैसे एक है, वैसे ओम् और ओङ्कार का अर्थ एक नहीं है। ओम् के अर्थ अङ्गीकार आदि अनेक हैं और ओङ्कार का अर्थ केवल एक ईश्वर है। इसलिये जहां ओम् है, वहां ओम् ही उच्चारण करना चाहिये और जहां ओङ्कार है, वहां ओङ्कार ही पढ़ना चाहिये। गुरुमन्त्र में ओम् नहीं, ओङ्कार है। इसलिये वहां सदा ओङ्कार ही उच्चारण करना उचित है, ओम् उच्चारण करना उचित नहीं।

संस्कृतभाषा के ग्रन्थों में ओम्, प्रायः दो प्रकार से लिखा जाता है–एक ॐ इस प्रकार और दूसरा ओम्–इस प्रकार। इन दोनों में से ओम् को ॐ इस प्रकार से लिखने की पद्धति मन्त्रकाल से है और ओम्,इस प्रकार से लिखने की पद्धति उस से बहुत पीछे की है। जैसे यजुर्वेदियों का ग्वङ, उच्चारण में अनेक अक्षरों का समुदाय प्रतीत होने पर भी वास्तव में एक विन्दु-मात्र है, वैसे उच्चारण में अनेक अक्षरों का समुदाय प्रतीत होने पर भी ओम्,वास्तव में एक ही अक्षर है*और एक अक्षर परमात्मा ही उसका अर्थ है, इस रहस्य को जब

---

*"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (गी०८।१३)। "गिरामस्मि एकमक्षरम्" (गी० १०।२५)। "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म" (कठो० २।१६) "ओमित्येतदक्षरम्" (छां०उ० १।१।१ / १।४।१)

तक ऋषिसन्तानों ने स्मरण रखा, तब तक वह (ओम्) ॐ इस प्रकार से ही लिखा जाता रहा। पीछे कालगति से जब यह परम्परागत रहस्य ऋषिसन्तानों के स्मृतिपथ से उतर गया, तब उन्हों ने उच्चारण के आधार पर ओम् को अ,उ,म्, इन तीन अक्षरों (वर्णों) का समुदाय मान लिया और उस को पूर्व प्रकार से न लिख कर ओम्, इस प्रकार से लिखना आरम्भ कर दिया। साथ ही उस के और उस के तीनों अक्षरों के अनेक अर्थ भी कल्पना कर लिये। ओम्–लिखने के दोनों प्रकारों में से पहला प्रकार–ओम् का व्यञ्जक-मात्र एक सांकेतिक आकार-विशेष है और दूसरा–नियमबद्ध अक्षर-रूप है। गुरुमत में ओम्, तीन अक्षरों का समुदाय मान्य नहीं, और नहीं उन अक्षरों के अनेक अर्थ ही मान्य हैं, किन्तु वह (ओम्) एक ही अक्षर मान्य है और एक ही अक्षर परमात्मा, उसका अर्थ इष्ट है, इस गुरुमत को दृढ़ करने के लिए और संस्कृतभाषा की पुस्तकों के पढ़ने से प्रायः उत्पन्न हुए इस विपर्यय ज्ञान को कि गुरुमत में भी ओम्, अनेक अक्षरों का समुदाय है और उस एक एक अक्षर के अपने अपने अनेक अर्थ हैं, मूल सहित निवृत्त करने के लिए, श्री गुरुग्रन्थ में ओम् उच्चारण न करके ओंकार उच्चारण किया है। ओंकार में कार–प्रत्यय का अर्थ यही है, या यों कहो कि वह (कार प्रत्यय) यही कहता अथवा जनाता है कि जिस ओम् के साथ लगा कर उसे उच्चारण किया है, वह एक ही अक्षर है, दो अथवा तीन अक्षरों का समुदाय नहीं। बस इस के सिवा उस कार प्रत्यय का दूसरा कोई भी अर्थ नहीं और न ही कहीं माना जाता है। ककार, गकार, चकार, छकार, तकार थकार, ये सब उस के सर्वसम्मत उदाहरण हैं। वषट्कार, स्वाहाकार, नमस्कार, इत्यादि कारप्रत्ययान्त जितने शब्द ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थों में जहां तहां पाये जाते हैं, उन्हें अगतिक-गति से छान्दस अथवा आर्ष मान कर कथञ्चित् ठीक मान लिया गया है, इसलिये वे यहां प्रत्युदाहरण के योग्य नहीं।

जैसे यजुर्वेद में सकार, हकार आदि वर्णों (अक्षरों) के परे होने पर अनुस्वार (बिंदी) को ग्वङ उच्चारण करने के लिये उस का व्यञ्जक–ँ इस प्रकार का अथवा–§– इस प्रकार का एक साङ्केतिक आकार-विशेष नियत किया गया है और वह (आकार-विशेष) यजुर्वेद को पढ़ते समय वस्तुतः ग्वङ न होने पर भी नियम से ग्वङ ही पढ़ा

जाता है, वैसे ही श्रीगुरुग्रन्थ में भी ग्वड की नाईं ओंकार उच्चारण करने के लिये उस का व्यञ्जकमात्र एक-ੴ इस प्रकार का साङ्केतिक आकार-विशेष नियत कर दिया गया है। इसलिये सदा श्रीगुरुग्रन्थ को पढ़ते समय उस (आकार विशेष)को भी ग्वड की नाईं ओंकार ही पढ़ना चाहिये,संस्कृतभाषा के ग्रन्थों के संस्कारों से उत्पन्न हुई अनेक-विध मानस कल्पनाओं के आधार पर ओंकार अथवा ओम्, न पढ़ना चाहिये। और जो श्री गुरुग्रन्थ में कहीं साङ्केतिक आकार-विशेष में और कहीं अक्षरों में ओंकार लिखा गया है, उसका स्फुट तात्पर्य यही है कि श्री-गुरुग्रन्थ में कहीं भी ओम् उच्चारण अभीष्ट नहीं, करना किन्तु सर्वत्र ओंकार उच्चारण करना ही अभीष्ट है और उसी का व्यञ्जकमात्र यह साङ्केतिक आकारविशेष है। जो लोग इस साङ्केतिक आकार-विशेष को अक्षर-रूप समझ कर अनुस्वार या बिंदी (·) के न देख पड़ने से ओ उच्चारण करते हैं,अथवा आकार-विशेष के अन्तिम भाग को बिंदी या मकार मान कर ओं या ओम् उच्चारण करते हैं, वे भूलते हैं, उन्हें ऐसा न करना चाहिये और सदा ओंकार ही उच्चारण करना चाहिये, बस यही गुरुमत है और यही सांप्रदायिक सिद्धान्त है।

ओङ्कार का दूसरा पर्याय प्रणव है। ऋग्वेदी प्रायः ओङ्कार को प्रणव कहते हैं। योगसूत्रों के कर्ता महामुनि पतञ्जलि ने एक सूत्र में लिखा है कि प्रणव का अर्थ ईश्वर है। सूत्र का आकार इस प्रकार है— "तस्य वाचकः प्रणवः"=उस(ईश्वर)का कहने वाला शब्द प्रणव अर्थात् ओङ्कार है (१।२७) प्रश्नोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में भी ओङ्कार का अर्थ ईश्वर कहा है। श्रुतिवाक्य यह है—"एतद् वै सत्यकाम! परं च अपरं च ब्रह्म, यद् ओङ्कारः" अर्थात् हे सत्यकाम! निश्चय यह, परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) और अपर ब्रह्म, दोनों है (दोनों का वाचक है) जो ओङ्कार है (प्रश्नो० ५। २)

सत नाम} महाभाष्य के प्रत्याहाराह्निक में महामुनि पतञ्जलि ने लिखा है कि नाम चार प्रकार का होता है—जातिनाम, गुणनाम, क्रियानाम और यदृच्छानाम। जो नाम,गुण तथा क्रिया,दोनों के सम्बन्ध के बिना केवल अपनी इच्छा से रखा जाता है,उसे यदृच्छानाम कहते हैं। यदृच्छानाम का ही दूसरा पर्याय पारिभाषिक या सांकेतिक नाम है। मनुष्य पशु, ज्ञानी मानी, पाचक पाठक, परमानन्द सत्यानन्द, ये उन

चारों नामों के यथासंख्य दो दो उदाहरण हैं। ईश्वर एक है, इसलिये ओम् को जातिनाम नहीं मान सकते। नहीं उसे गुणनाम कह सकते हैं, क्योंकि इन्द्र मित्र, दयालु कृपालु आदि नामों की नाईं ओम् के उच्चारण से ईश्वर के किसी गुण विशेष की प्रतीति नहीं होती। शेष रहा क्रियानाम और यदृच्छानाम। वैयाकरणों का मत है कि अव-धातु से, जिसका अर्थ रक्षा करना है, कर्ता अर्थ में "मन्" प्रत्यय आने पर ओम् नाम बनता है और धातु प्रत्यय के अनुसार उसका अर्थ "रक्षा करने वाला" होता है। रक्षा करना क्रिया है और ईश्वर सब की रक्षा करता है, इसलिये ओम् ईश्वर का क्रियानाम है।

क्रियानाम में दो दोष होते हैं। एक तो वह यावद्वस्तु--भावी (वस्तु के रहने तक रहने वाला) नहीं होता। अर्थात् जब तक क्रिया है, तब तक ही रहता है, क्रिया के न होने काल में वह नहीं रहता। दूसरा दोष यह है कि जो कोई भी उस क्रिया को करे, उसका वह नाम हो जाता है। आज जिस क्रिया के करने से विष्णुशर्मा का पाचक और पाठक नाम है, कल उसी क्रिया के करने से शिवशर्मा भी पाचक और पाठक हो सकता है। उस उस क्रिया के सम्बन्ध से अमुक अमुक का वह नाम हो, अमुक का न हो,यह नियम नहीं किया जा सकता। इसलिये अनेक विद्वानों का मत है कि ओम् ईश्वर का जैसे जातिनाम नहीं, गुणनाम नहीं, वैसे क्रियानाम भी नहीं, किन्तु यदृच्छा नाम है।

यह मानी हुई बात है कि यदृच्छानाम से नामी वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होता है, विशेषरूप से नहीं होता। जिस नाम से नामी वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होता है, वह गौणनाम और जिस नाम से नामी वस्तु का विशेषरूप से ज्ञान होता है, वह मुख्यनाम अर्थात् प्रधाननाम माना जाता है। प्रधाननाम का ही दूसरा पर्याय स्वरूपनाम है। क्योंकि वह नामी वस्तु के निज रूप का बोधक अर्थात् जनाने वाला है। यद्यपि ईश्वर के सभी नाम पवित्र हैं, मूल्यवान् हैं। गुणनाम हो, अथवा क्रियानाम, अथवा यदृच्छानाम, जो भी कोई नाम श्रद्धा भक्ति के साथ उच्चारण किया जाये,वह सब महा-पुण्य का जनक होता है, तथापि मुख्यनाम का जो मूल्य है, जो कीमत है तथा जो माहात्म्य है, वह यदृच्छानाम, क्रियानाम तथा जातिनाम, तीनों नामों की अपेक्षा बहुत अधिक है। क्योंकि उसके उच्चारण

करने से ईश्वर का वास्तविक निज रूप तत्काल बुद्धि में प्रकाशित हो जाता है और मनुष्य उसके साथ एकमेक हुआ परमानन्द को पाता है। वह ईश्वर का मुख्यनाम कौन है ? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये गुरुमन्त्र का तीसरा पद है "सत नाम"। जो सत्ता, सदा एकरस है, जिस सत्ता का कभी नाश नहीं होता, उस अविनाशी एकरस सत्ता अर्थात् हस्ती को ही सत् कहते हैं। ऐसी सत्ता(हस्ती) केवल एक ईश्वर है। इसलिये उसका नाम सत् है। उचथ-पिता और ममता-माता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने अपने मन्त्र में ईश्वर का मुख्यनाम सत् ही कहा है। मन्त्र यह है—

"एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"

अर्थ—एक सत् को अर्थात् सत् नाम वाले को बुद्धिमान् ऋषि, बहुत प्रकार से कहते अर्थात् अनेक प्रकार के अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि गुणनामों तथा क्रियानामों से कहते हैं (ऋ० १।१६४।४६)।

छान्दोग्योपनिषद् के कर्ता ऋषिने भी ईश्वर का नाम सत् ही लिखा है। लेख यह है—"सद् एव सोम्य! इदमग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् हे सोम्य! यह सब जगत्, सृष्टि से पहले, केवल सत् (सद् ब्रह्म) था निश्चय एक, बिना किसी दूसरी वस्तु के (छान्दो० ६।२।१)।

"श्रीगुरुग्रन्थ" नाम की संहिता के कर्ता अर्थात् पुस्तक के रूप में गुरुबाणी के संग्रहकर्ता श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने भी मारु-राग में ईश्वर के अनेक नामों को कहते हुए अन्त में सत् नाम को ही ईश्वर का मुख्यनाम कहा है। उन के कथन (कहने) का आकार यह है—

"किरतम नाम कथे तेरे जिहभा। सत नाम तेरा परा पूर्बला"॥२०॥

अर्थ—हे ईश्वर! आपके जितने नाम जिह्वा अर्थात् वागिन्द्रिय से कथन किये (कहे) हैं, वे सब आपके कृत्रिम अर्थात् गुणों और कर्मों की दृष्टि से कल्पना किये हुए गुणनाम अथवा क्रियानाम हैं, आप का ऊंचे से ऊंचा और पहले से पहला मुख्य सनातन नाम सत् है ॥२०॥

कर्ता} वाचक शब्द को नाम कहते हैं। गुरुमन्त्र में सत्-शब्द, चित् और आनन्द, दोनों का उपलक्षण है। ईश्वर का नाम सत् है, चित् है, आनन्द है, अर्थात् ईश्वर सत-चित्-आनन्द-रूप है,

यह सतनाम-शब्द से कहा गया,अब ईश्वर को सर्वज्ञ,सर्वशक्ति कहना है। ईश्वर से भिन्न जितना कुछ चराचर जगत् है, उस सब का जानने वाला सर्वज्ञ शब्द का और ईश्वर से भिन्न जितना कुछ चराचर जगत् है, उस सब के उत्पन्न करने, पालन करने और संहार करने की शक्तिवाला, सर्वशक्ति-शब्द का अर्थ है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, यह कहने के लिये गुरुमन्त्र में कहा है "कर्ता" । पहले सृष्टि होती है, पीछे पालन होता है और फिर संहार होता है। जब तक सृष्टि न कही जाये, तब तक पालन और संहार की उपस्थिति नहीं होती, इसलिये कर्ता पद का अर्थ यहां सृष्टिकर्ता है। पालनकर्ता और संहारकर्ता, दोनों अर्थ से प्राप्त हैं, क्योंकि इस चराचर जगत् की सृष्टि अर्थात् उत्पत्ति, जैसे एक ईश्वर के सिवा किसी दूसरे से नहीं हो सकती, वैसे पालन और संहार भी किसी दूसरे से नहीं हो सकता। चराचर जगत् को उत्पन्न करके जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल देना, उनके जीवन के साधन अनेक प्रकार के उपभोग्य पदार्थों (वस्तुओं) को और भविष्य में उनकी उन्नति के लिये अनेक प्रकार के साधन उपसाधनों को उपस्थित करना पालन-शब्द का और फैलाये हुए इस चराचर जगत् के जाल को अन्त में समेटना अर्थात् कारण में लीन करना या कारणरूप बनाना संहार-शब्द का अर्थ है। संहार के स्थान में कहीं कहीं नाश और लय शब्द का प्रयोग भी होता है। नाश शब्द का अर्थ वस्तु को दृष्टिके परे करना अर्थात् कार्य को कारणरूप करके छिपा देना और कारण में कार्य को मिलाना अर्थात् कार्य को कारण से अविभक्त(अभिन्न) करना या कारण रूप करना,लय शब्द का अर्थ है। पालन करना, रक्षा करना,जीवन प्रदान करना,ये तीनों पर्याय शब्द हैं। दार्शनिक परिभाषा में पालन का ही दूसरा पर्याय स्थिति है। ईश्वर इस चराचर जगत् का उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है, यह गुरुमन्त्र के कर्ता शब्द का पर्यवसित अर्थ है। जब वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा कि आप मुझे ब्रह्म (ईश्वर) का उपदेश करें, तब वरुण ने भी उत्तर में यही कहा कि जो इस चराचर जगत् का उत्पन्न करने वाला है, पालन करने वाला और संहार करने वाला है, वह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है। तैत्तिरीय-उपनिषद् में भृगु के पिता वरुण का वाक्य इस प्रकार है—

"यतो वै इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म" (तै०उ० ३।१)।

अर्थ—जिससे निश्चय ये प्राणी अप्राणी सब चराचर भूत(वस्तु) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए जिससे जीते हुए अर्थात् रक्षा पाये हुए या पाले हुए होते हैं और यहां से जाते हुए अर्थात् मरते हुए जिस में प्रवेश करते अर्थात् लीन होते या मिल जाते हैं, उसके जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है ॥ १ ॥

तैत्तिरीयोपनिषद् के इस श्रुतिवाक्य के आधार पर ही बादरायण मुनि ने "ब्रह्ममीमांसा"(उत्तरमीमांसा)नाम के दर्शन में यह सूत्र लिखा है—"जन्मादि-अस्य यतः" अर्थात् इस चराचर जगत् का जन्म, स्थिति (पालन) और नाश, जिससे होता या यों कहो कि जो इस चराचर जगत् का जन्मदाता, जीवनदाता और फिर अपने में लयकर्ता है, उसका नाम ब्रह्म (ईश्वर) है (वे० १ । १ । २) ।

जैसे चराचर जगत् का उत्पन्न करना और संहार करना, विना सर्वशक्ति हुए नहीं वन सकता, वैसे चराचर जगत् का पालन करना अर्थात् हर एक को ठीक ठीक कर्मों का फल देना भी विना सर्वज्ञ हुए नहीं वन सकता। ईश्वर इस चराचर जगत् का जनयिता है, पालयिता (कर्मफलदाता) है और संहर्ता है, इसलिए सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है,यह अर्थ से अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध है। जो मनुष्य दिन में नहीं खाता और हृष्ट पुष्ट है,वह रात्रि में किसी समय खाता है,यह अर्थापत्ति प्रमाण का लोक-शास्त्रसिद्ध उदाहरण है। ईश्वर इस चराचर जगत् का जनयिता,पालयिता और संहर्ता है,इसालिये सर्वज्ञ औरस र्वशक्ति है,यह ब्रह्ममीमांसादर्शन के भाष्यकर्ता श्रीशङ्कराचार्य जी ने भी "जन्माद्यस्य यतः"(वे० १।१।२)सूत्र के भाष्य में लिखा है। उनके लेख का आकार इस प्रकार है—"अस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म" अर्थात् इस जगत् का जन्म,स्थिति और नाश,जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति कारण से होता है,वह ब्रह्म (ईश्वर) है ॥२॥

पुरुष } ईश्वर, इस चराचर जगत् का कर्ता है, ऐसा कहने से स्वतःही मन में यह भाव (ख्याल) उत्पन्न होता है कि ईश्वर के सिवा,इस

चराचर जगत् का मूल कारण कोई दूसरी वस्तु है, जिस से इस चराचर जगत् को ईश्वर उत्पन्न करता, जिस में स्थित हुए को पालता और अन्त में लय करता है। इस भाव की निवृत्ति के लिये कर्ता पद से आगे कहा है "पुरुष"। ईश्वर इस चराचर जगत् में अन्दर बाहर पूर्ण है, यह पुरुष शब्द का अर्थ है। निरुक्त के कर्ता यास्क-मुनि ने पुरुष-शब्द की बनावट में धातुभेद करते हुए यही अर्थ किया है। उसका अर्थ यह है—"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा, पूरयति अन्तर् इति अन्तरपुरुषमभिप्रेत्य"= पुरुष, इसलिये कहा जाता है कि त्रिलोकी रूपी पुर में(ब्रह्माण्डरूपी शरीर में) अर्थात् चराचर जगत् में बैठा हुआ है, लेटा हुआ है, अथवा पूर्ण अर्थ वाले "पूरि" धातु से पुरुष-शब्द बना है, सब चराचर जगत् को, अन्दर रह कर, पूर्ण करता है, इसलिये पुरुष है, यह अन्तरात्मा ईश्वर की दृष्टि से पुरुष शब्द का अर्थ है (निरु०उपो०२।३)। यास्कमुनि ने पुरुषशब्द के इस अर्थ की पुष्टि में कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर–शाखा का जो मन्त्र उद्धृत किया है, वह यह है—

"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्, यस्मात् नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्षः इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः, तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वता० ३।९)।

अर्थ—जिससे न कुछ परे है, न कुछ वरे है,जिस से न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। जो अकेला,आकाश में वृक्ष की नाईं अचल अपने प्रकाशमय स्वरूप में स्थित है, उस पुरुष से यह सब पूर्ण है अर्थात् वह, सब चराचर जगत् में भरपूर है ॥९॥

यद्यपि 'ईश्वर सब चराचर जगत् में पूर्ण है,कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर कारण होनेसे अपने कार्य चराचर जगत् में ऐसे ही पूर्ण है, जैसे सुवर्ण और मिट्टी, कारण होनेसे अपने कार्य कटक कुण्डल, तथा घट, उदञ्चन आदि कार्यों में पूर्ण है, तथापि कोई यह कह सकता है कि उसका तात्पर्य यह नहीं, किन्तु यह तात्पर्य है कि जैसे आकाश (स्पेस) तटस्थ कारण होने पर भी व्यापक होने से सभी कार्य-वस्तुओं में पूर्ण है, वैसे ईश्वर तटस्थ कारण होने पर भी व्यापक

होनेसे सभी चराचर जगत् में पूर्ण है। इसका उत्तर ऋक्संहिता के मन्त्र (१०।९०।२) से पूरा पूरा हो जाता है, अधिक लिखना आवश्यक नहीं। मन्त्र यह है "पुरुषः एव इदं सर्वं,यद् भूतं यत् च भव्यम्" अर्थात् पुरुष ही यह सब है, जो हुआ है और जो होनेवाला है ॥ २॥ यदि ईश्वर आकाश की नाईं तटस्थ कारण होने से सब चराचर जगत् में पूर्ण होता, तो "यह सब, पुरुष (ईश्वर) ही है" न कहा जाता, क्योंकि तटस्थ कारण 'कार्य ही है, नहीं कहा जा सकता। पुरुष (ईश्वर) ही है यह सब कुछ, कहने से साफ प्रकट है कि ईश्वर सुवर्ण अथवा मिट्टी की नाईं इस सब चराचर जगत् का कारण है, आकाश की नाईं तटस्थ कारण नहीं। यजुर्वेदसंहिता के मन्त्र से यह और भी स्फुट हो जाता है। मन्त्र यह है—

"वेनस्तत् पश्यत् नि-हितं गुहा सद्,यत्र विश्वं भवति एकनीड़म्। तस्मिन् इदं सं च वि च एति सर्वं, स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु" (यजु० ३२।८)।

अर्थ—विवेकी मनुष्य उस सत् ईश्वर को देखता है, जो हृदयरूपी गुफा में स्थित है और जिस में यह सब जगत् अद्वितीयाश्रय-वाला (जिसके समान कोई दूसरा आश्रय नहीं, ऐसे आश्रय वाला) हुआ विद्यमान है। उस में ही यह सब जगत् प्रलयकाल में एक होता और उत्पत्तिकाल में फिर अनेक होता है, वह विभूतिवाला (ऐश्वर्यवान्) जड चेतन सब प्रजाओं में अर्थात् सभी चराचर वस्तुओं में ताने बाने की नाईं निश्चय ओत और प्रोत है ॥ ८॥

छान्दोग्योपनिषद् के श्रुतिवाक्य में भी ऐसा ही कहा है। श्रुति-वाक्य यह है "सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः, सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" अर्थात् हे सोम्य! ये सब प्रजायें (सभी चराचर जगत्) सत् मूल-वाली अर्थात् सत् ईश्वर से उत्पत्तिवाली, सत् आश्रय-वाली अर्थात् सत् ईश्वर में स्थिति वाली और सत् में प्रतिष्ठावाली अर्थात् प्रलय के समय सत् ईश्वर में ही ठहरने वाली हैं (छां० ६।८।४)।

जिस सत् ईश्वर से इस सब चराचर जगत् की उत्पत्ति है, जिस सत् ईश्वर में इस सब चराचर जगत् की स्थिति और प्रलय है, वह

सत् ईश्वर इस सब चराचर जगत् में अन्दर बाहर पूर्ण है, बस यही गुरुमन्त्र के पुरुष पद से विवक्षित है।

निर्भौ निर्वैर } ईश्वर एक है, सत् उसका नाम है, वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, सब का कर्ता है, सब में पूर्ण है, यह कहा गया। अब कोई उससे अधिक नहीं और कोई उसके सम नहीं, यह कहने के लिये गुरुमन्त्र के दो पद हैं "निर्भौं और निर्वैर"। भौ का उच्चारण दो प्रकार से होता है—एक भय और दूसरा भौ। भय, संस्कृतभाषा का और भौ, पञ्जावीभाषा का शब्द है। अर्थ दोनों का एक (भय) और एकसा दोनों के पाठ का माहात्म्य है। यह उच्चारणकर्ता (प्रयोक्ता) की इच्छा पर निर्भर है कि वह बाणी-विशेष का उच्चारण करता हुआ उसमें संस्कृतभाषा के शब्द का उच्चारण करे अथवा अपने समय की किसी प्रान्तिक भाषा के शब्द का उच्चारण करे, इसमें उसके लिये कोई बन्धन नहीं और नहीं कोई बन्धन होना उचित है। जैसे श्रीगुरु नानकदेव जीने गुरुमन्त्र में संस्कृतभाषा के भय शब्द के स्थान में अपने समय की प्रान्तिकभाषा के भौ शब्द का उच्चारण किया है, वैसे ऋक्संहिता के पांचवें मण्डल के द्रष्टा "अत्रि" ऋषि ने अपने एक मन्त्र में संस्कृतभाषा के द्वार शब्द के स्थान में लाटभाषा के वार शब्द का प्रयोग (उच्चारण) किया है, जो मन्त्रभाषा (संस्कृतभाषा) के समय 'लोदीहाना' प्रान्त के दस्युओं में बोली जाती थी। अत्रि ऋषि का प्रयोगमन्त्र यह है—

"नीचीनवारं वरुणः कवन्धं, प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेनं विश्वस्य भुवनस्य राजा, यवं न वृष्टिःव्युनत्ति भूम" (ऋ०५।८५।३)।

अर्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक पर अनुग्रह करते हुए अर्थात् तीनों लोकों का भला चाहते हुए वरुण ने मेघ को नीचे की ओर वार वाला बनाया। और उससे सब लोकों के राजा वरुण ने संपूर्ण पृथिवी लोक को सींचा, जैसे वृष्टि जौं के खेत को सींचती है ॥३॥

मीमांसादर्शन के वार्तिककार भट्ट-कुमारिल ने वैदिक ऋषियों के स्वछन्दतापूर्वक उच्चारण किये हुए शब्दों की विवेचना करते हुए अत्रि ऋषि के उच्चारण किये हुए वार शब्द के सम्बन्ध में यह लिखा

है "नापि द्वारशब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र वारशब्दःसम्भवति" अर्थात् नहीं कभी द्वार शब्द के स्थान में वार-शब्द का प्रयोग लाट-भाषा के सिवा किसी दूसरी भाषा में हो सकता है(मी०वा० ३।१।१८)। वार्तिककार कुमारिल-भट्ट वेदों का वड़ा भक्त है, शिरोमणि पण्डित है और आचार्यों का आचार्य है,संस्कृत-साहित्य में उसका लेख प्रमाण माना जाता है,वह वारशब्द के सम्बन्ध में अन्यथा नहीं लिख सकता। अब यदि कोई यह कहे कि यदि अत्रि ऋषि संस्कृत पढ़ा होता,तो द्वार के स्थान में वार उच्चारण न करता, तो समझदार पण्डित उसे अबुद्ध कहेंगे। सचमुच ऐसे ही यदि कोई श्रीगुरु नानकदेव जी के सम्बन्ध में यह कहे कि यदि वे संस्कृत पढ़े होते,तो भय के स्थान में भौ उच्चारण न करते, तो उसे क्या कहना चाहिये, यह समझदार पण्डित ही जानें, हमें इस पर कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

वास्तव में मन्त्रद्रष्टा ऋषि और श्रीगुरु जी, जान बूझ कर अपनी वाणी में ऐसे शब्दों का प्रयोग (उच्चारण) नहीं करते, किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से उनके निर्मल अन्तःकरण (मन) में जो जो और जैसा जैसा शब्द स्फुरण होता है,वे ज्यों का त्यों वह वैसा ही उच्चारण करते हैं, उच्चारण में उनका अपना सम्बन्ध यत्किञ्चित् भी नहीं, यह स्वयं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने स्वीकार किया है। उन में से कश्यप के पुत्र अवत्सार ऋषि का स्वीकार-वचन इस प्रकार है 'यादृग् ऐव ददृशे, तादृग् उच्यते"=जैसा निश्चय दीखता है अर्थात् अपने देखेहुए अर्थों को कहने के लिये ईश्वर की प्रेरणा से जैसा जैसा शब्द मन में स्फुरण होता है, वैसा ही कहते अर्थात् उच्चारण करते हैं (ऋ० ५।४४।६)। गुरु जी का वचन भी ऐसा ही है " जैसी आवे खसम की वाणी, तैसे करीं ज्ञान वे लालो !"='हे लालो ! अपने स्वामी (ईश्वर) की ओर से जैसी वाणी आती अर्थात् मन में स्फुरण होती है, मैं वैसे ही ज्ञानोपदेश करता अर्थात् वैसी ही वाणी में जनता को उपदेश देता हूं। जब मन्त्रद्रष्टा ऋषियों और श्रीगुरु जी महाराज का,शब्दों के उच्चारण करने में अपना सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, तब यह स्पष्ट सिद्ध है कि उनके मुखकमल से निकले हुए सभी शब्द जगद्गुरु ईश्वर के शब्द होने से जैसे हैं, वैसे ही शुद्ध हैं,परम पवित्र हैं और पाठ करने

में पुण्य के जनक हैं। परन्तु जो स्थूलदर्शी हैं, मन्दमति हैं, वेद के झूठे पण्डित हैं, वे इस रहस्य को नहीं समझ सकते, इसलिये सदा क्षमा के योग्य हैं।

कई एक वेदवेत्ता विद्वानों का मत है कि जैसे 'स्तेन' का उच्चारण "स्तौन" (ऋ० ६।५६।५) है, वैसे यहां 'भय' का उच्चारण "भौ" है।

भय सदा दूसरे से होता है, जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है'द्वितीयाद् वै भयं भवति'अर्थात् भय निःसन्देह दूसरे से होता है (बृ० उ० १।४।२)। परन्तु दूसरा वह, जो बल में अधिक है। बल मुख्य दो हैं—एक ज्ञानबल और दूसरा क्रियाबल। जानने की शक्ति को ज्ञानबल और करने की शक्ति को क्रियाबल कहते हैं। जितना ज्ञानबल, जितना क्रियाबल, जगत्कर्ता ईश्वर में है, उससे अधिक ज्ञानबल, उससे अधिक क्रियाबल, किसी दूसरे में नहीं है। क्योंकि सबसे अधिक ज्ञानबल तथा क्रियाबल जिसमें है, उसीका नाम ईश्वर है। ईश्वर में सबसे अधिक ज्ञानबल है, सबसे अधिक क्रियाबल है, यह योगसूत्रों के कर्ता पतञ्जलि मुनि ने कहा है— "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्"=उस (ईश्वर) में सबके जानने वाला बनाने का बीज (शक्ति) अर्थात् ज्ञानबल, सब से अधिक है (यो० १।२५)। ज्ञानबल यहां क्रियाबल का उपलक्षण है। ज्ञानबल में अधिक और क्रियाबल में अधिक, किसी दूसरे के न होने से ईश्वर सदा भय से रहित है। भय से रहित को ही संस्कृत भाषा में निर्भय और पंजाबी भाषा में निर्भौ कहते हैं।

शत्रुता (दुश्मनी) का नाम वैर है। शत्रु प्रायः सम ही होता है। ईश्वर के सिवा जड़ और चेतन, जितने पदार्थ हैं, वे सब उस (ईश्वर) के अधिकार में होने से उससे न्यून हैं, उसके सम नहीं। दो ईश्वर मान नहीं सकते, क्योंकि दोनों का ज्ञानबल और क्रियाबल, सम होने से कदाचित् मतभेद हो जाने पर एक सृष्टि करना चाहे और दूसरा प्रलय, तो न कभी सृष्टि होगी और नहीं प्रलय होगी। यदि मतभेद नहीं होता माना जाए, तो जो काम वे दोनों मिलकर कर सकते हैं, वह, सर्वज्ञ सर्वशक्ति होने से एक भी कर सकता है, दो के मानने की आवश्यकता नहीं, या यों कहो कि दूसरा ईश्वर मानना व्यर्थ है। यदि कोई दूसरा,ईश्वर के सम नहीं और नहीं माना जा सकता है,तो किसी

अधिक के न होने से ईश्वर जैसे निर्भय अर्थात् भय से रहित है, वैसे सम के न होने से निर्वैर अर्थात् वैर से रहित है। कोई ईश्वर से अधिक नहीं, कोई ईश्वर के सम नहीं, यह कृष्ण-यजुर्वेद-संहिता की श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्र (६।८) में कहा है। मन्त्र यह है—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"।

अर्थ—उसका शरीर नहीं और न कोई इन्द्रिय है, न कोई उसके सम अर्थात् बराबर और नहीं कोई निश्चय उससे अधिक देखा जाता है। इस की शक्ति सब से बड़ी और अनेक प्रकार की सुनी जाती है, वह (शक्ति) सनातनी और ज्ञानबल तथा क्रियाबलरूप सुनी जाती है॥८॥

अकालमूर्त } यहां मूर्ति का पर्याय मूर्त और उसका अर्थ स्वरूप है। नहीं है काल अर्थात् कालकृत अन्त जिसका, ऐसी मूर्ति अर्थात् ऐसा स्वरूप है जिसका, उसको अकालमूर्त कहते हैं। जो वस्तु सखण्ड (सावयव) होती है, उसका काल से अन्त होता है, यह नियम है। ईश्वर अखण्ड वस्तु है, इसलिये उसके स्वरूप का काल से अन्त नहीं होता। वह सदा अकाल है और काल का भी काल होने से महाकाल है। और यह श्वेताश्वतरशाखा के मन्त्र में कहा है। मन्त्र यह है—

"स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः, ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधान-क्षेत्रज्ञ-पतिः गुणेशः, संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतुः"।

अर्थ—वह सब का बनाने वाला (कर्ता), सब का जानने वाला (ज्ञाता), स्वयम्भू, चेतन, काल का काल, सब गुणों (हुनरों) वाला, और सब विद्याओं वाला है। प्रधान अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा, दोनों का स्वामी, प्रकृति और जीवात्मा, दोनों का शासक, जगत् की प्रलय, स्थिति और उत्पत्ति का हेतु अर्थात् कारण है (श्वेता० ६। १६)।

कठोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब जगत् ईश्वर का भात (खाद्यवस्तु) और काल चटनी है। जिस का आशय यह है कि ईश्वर जगत् और काल, दोनों का काल अर्थात् महाकाल है। श्रुतिवाक्य यह है—

"यस्य ब्रह्म च, क्षत्रं च, उभे भवतः आदेनः। मृत्युः यस्योपसेचनं कः इत्था वेद यत्र सः" (कठो० १।२।४)॥

अर्थ—जिस ईश्वर का ब्राह्मण और क्षत्रिय, दोनों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सब चराचर जगत् निश्चय भात अर्थात् भात के समान खाद्य वस्तु है, तथा सब का मारने वाला काल, जिस की चटनी अर्थात् चटनी के तुल्य है, उसे अधिकारी मनुष्य के सिवा दूसरा कौन इस रूप से जानता है, जिस रूप में वह वस्तुतः है ॥ २४ ॥

अजूनि } — जैसे मूर्धन्य ष का उच्चारण कहीं ख और कहीं श के समान होता है, वैसे तालव्य य का उच्चारण भी कहीं ज और कहीं य के सामान होने से अयोनि का उच्चारण अजोनि और अजोनि का उच्चारण अजूनि है, जैसे कर्मी का उच्चारण "कूर्मी" (ऋ०८।६८।१)। अर्थ तीनों का एक ही है। "योनिः ते इन्द्र ! निषदे अकारि"=हे इन्द्र ! तेरे बैठने के लिये स्थान बनाया है (ऋ० १।१०४।१)। "स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठः"=वह प्रियतम हमारे स्थान में आ कर बैठे (ऋ० ७।९६।४) इत्यादि मन्त्रों में स्थानविशेष के अर्थ में योनि-शब्द का प्रयोग (उच्चारण) हुआ है। लोक-भाषा में भी स्थानविशेष (खास जगह) के अर्थ में ही योनि शब्द का प्रयोग होता है। कार्य की उत्पत्ति का स्थानविशेष भी नियम से कारण ही सर्वसम्मत है। इसलिये योनि का अर्थ प्रायः कारण किया जाता है । ब्रह्ममीमांसा दर्शन के "शास्त्रयोनित्वात्"(वे०१।१।३)सूत्र में बादरायणमुनि ने कारण अर्थ में ही योनि शब्द का प्रयोग किया है। सब का कारण ईश्वर है, उसका कोई कारण नहीं, इसलिये उसे गुरुमन्त्र में अयोनि अर्थात् अकारण कहा है। योनि से रहित अर्थात् कारण से रहित, यह अयोनि पद का अर्थ है। अजोनि तथा अजूनि का अर्थ भी यही है अर्थात् कारण से रहित। ईश्वर सब का कारण है, उसका कोई कारण नहीं, यह यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्र (६।९) में कहा है—

"न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके, न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः"॥

अर्थ—लोक में अर्थात् चराचर जगत् में कोई उसका स्वामी नहीं है और नहीं कोई उसका शासक है और नहीं उसका निश्चय कोई चिन्ह है। वह सब चराचर जगत् का कारण अर्थात् बनाने वाला है। इन्द्रियों के राजा जीवात्मा पुरुष का राजा है, निःसन्देह इसका कोई उत्पन्न करने वाला (बनाने वाला) अर्थात् कारण नहीं और नहीं कोई राजा है अर्थात् वह स्वयंभू स्वतःसिद्ध राजों का राजा है ॥९॥

सयभं} यहां स्वयंभा का संक्षिप्त उच्चारण, "सयभा" है, जैसे ऋक्संहिता में "कम्पना"का सांक्षिप्त उच्चारण"कपना"(ऋ० ५।५४।६) और "प्रेम्णा" का संक्षिप्त उच्चारण"प्रेणा"(ऋ०१०।७१।१)है।"सयभा" का पुनः भाषिक उच्चारण "सयभं"(सैभं) है, जैसे"छन्दः" का भाषिक उच्चारण "छन्दं" और "परमात्मा" का भाषिक उच्चारण "परमात्मं" (तै० आ० ना० १०।३३)। प्रकाश का नाम "भा"और अपने आपको "स्वयं" कहते हैं। स्वयं का ही समानार्थक 'स्व' है। स्वयम्भा का अर्थ अपने आप प्रकाशने वाला अर्थात् स्वयंप्रकाश अथवा स्वप्रकाश,या खुद रोशन है। सयभा और सयभं का अर्थ भी यही है अर्थात् स्वप्रकाश। प्रकाशस्वरूप और स्वप्रकाश, ये दोनों पर्याय शब्द हैं। प्रकाशस्वरूप का ही दूसरा पर्याय भारूप है। छांदोग्योपनिषद् की शाण्डिल्य-विद्या में ईश्वर को भारूप अर्थात् प्रकाशस्वरूप कहा है—"भारूपः सत्य-सङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा" अर्थात् प्रकाशस्वरूप है,सत्यसङ्कल्प है, आकाश की नाईं व्यापक है, सब चराचर स्थूल सूक्ष्म जगत् जिसका कर्म अर्थात् किया हुआ है (३।१४।२)।

स्वयंभा का ही दूसरा पर्याय स्वयंज्योति है। जो सबको प्रकाशता है, जिसको प्रकाशस्वरूप होने से कोई दूसरा प्रकाशता नहीं, या यों कहो कि जो आप ज्योति हुआ सब ज्योतियों (प्रकाशों) का ज्योति (प्रकाश) है, उसको स्वयंज्योति कहते हैं। उपनिषदों के अनेक श्रुतिवाक्यों में ईश्वर को ज्योतियों का ज्योति कहा है। उनमें से एक श्रुतिवाक्य यह है—

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः, तद् यद् आत्मविदो विदुः" (मुं० उ० २।२।९)।

अर्थ—सुनहरी म्यान में तलवार की नाईं सब से ऊंचे अर्थात्

श्रेष्ठ हृदय-मन्दिर म वह शुद्ध ज्योतियों का ज्योति, निर्मल, निरवयव, ईश्वर रहता है। उसको जो आत्मवेत्ता हैं, वे जानते हैं ॥ ९ ॥

स्वयंज्योति का ही दूसरा नाम उत्तमज्योति है। ऋक्संहिता के मन्त्र में ईश्वर को उत्तमज्योति कहा है। मन्त्र यह है—

"उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्तः उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (ऋ० १।५०।११)।

अर्थ—हम उत्कृष्ट (भोग्य होने से श्रेष्ठ) प्रकृति और प्रकृति के कार्य जगत् से परे अति-उत्कृष्ट (श्रेष्ठतर) चैतन्य ज्योति (भोक्ता जीवात्मा) को देखते हुए अत्यन्त उत्कृष्ट (श्रेष्ठतम) चैतन्य ज्योति (नियन्ता ईश्वर) को प्राप्त हुए हैं, जो देवों का देव और सूरियों (विद्वानों) से प्राप्त होने योग्य है ॥१०॥

गुरुप्रसाद} उपदेष्टा का नाम यहां गुरु है, यह मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्, दोनों के श्रुतिवाक्यों से सिद्ध है। दोनों के श्रुतिवाक्य ये हैं—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिःश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"।

अर्थ—उस (अक्षर ब्रह्म) के ज्ञान (जानने) के लिये वह निश्चय हाथ में समिधा (यज्ञिय लकड़ियां) लिये हुआ गुरु के समीप जाये, जो वेद का पढ़ा हुआ और वेद के मुख्य अर्थ ब्रह्म (ईश्वर) में मन की निष्ठा (अचल स्थिति) वाला है (मण्डलको० १।२।१२)।

"यस्य देवे परा भक्तिः,यथा देवे तथा गुरौ। तस्य एते कथिताः हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" (श्वे० उ०६।२३)।

अर्थ—जिसकी देवों के देव ईश्वर में ऊंची से ऊंची भक्ति है, और जैसी ईश्वर में, वैसी ही उपदेष्टा गुरु में भक्ति है। उस महात्मा अर्थात् विशालहृदय मुमुक्षु को निःसन्देह उपनिषद् में कहे हुए ये सब अर्थ प्रकाशित होते अर्थात् समझ में आते हैं ॥२३॥

गुरु का दूसरा पर्याय "पिता" है। पिता पालक को कहते हैं, जैसाकि "निरुक्त" में कहा है "पिता पाता वा पालयिता वा" अर्थात् पिता रक्षक अथवा निश्चय पालक का नाम है(निरु०४।२१)।जब सुकेशा आदि मुनियों के प्रश्नों का उत्तर पिप्पलाद ऋषि ने देदिया, तब उन्हों

ने कृतज्ञता के प्रकाशनार्थ पिप्पलाद ऋषि से यह कहा "त्वं हि नः पिता, योऽस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि" अर्थात् तू (आप) निःसन्देह हमारा पिता है, जो हमें अविद्या-सागर के परले पार (किनारे) तार लाया है (प्रश्नो० ६।८)।

गुरु का ही तीसरा पर्याय "आचार्य" है। और वह "आचार्यस्ते गतिं वक्ता" अर्थात् आचार्य (गुरु) तुझे गति (विद्या का फल) कहेगा (छां० उ० ४।१४।१) "आचार्यवान् पुरुषो वेद" आचार्य-वाला पुरुष (स्त्री अथवा पुरुष) आत्मा (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) को जानता है (छां० उ० ६।१४।२) इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है। प्रसाद का प्रसन्नता अर्थ है। जब प्रसन्न होता है, तब अनुग्रह करता है, दया करता है, कृपा करता है, इसलिये प्रसाद का अर्थ प्रायशः अनुग्रह, दया, अथवा कृपा किया जाता है। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रसन्न होने की जो प्रार्थना की है, उस से ऐसा ही पाया जाता है। भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन का प्रार्थनाश्लोक यह है—

"अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव! रूपं, प्रसीद देवेश! जगन्निवास!"॥४५॥

अर्थ—न पहले देखे हुए रूप को देख कर हर्ष को प्राप्त हुआ हूं और साथ ही मेरा मन भय से बड़ा दुःखी हो रहा है। हे देव! वह ही पहला रूप मुझे दिखा, हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न हो ॥४५॥ गुरु और प्रसाद, दोनों के मिलने से "गुरुप्रसाद" बना है और गुरु की प्रसन्नता, कृपा, दया अथवा अनुग्रह, उसका अर्थ है। बोधायन-धर्मसूत्रों में गुरुप्रसाद-शब्द, इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रयोगसूत्र का आकार है "सहस्रं दक्षिणा ऋषभैकादशं, गुरुप्रसादो वा" अर्थात् एक हजार रुपया और साण्ड (सांढ) के सहित ग्यारह ११ गौओं की दक्षिणा अथवा गुरु की कृपा, विद्याप्राप्ति का उपाय है (बो०सू०४।४।१०)। ईश्वर एक है, सत् उसका नाम है, सब का कर्ता है, सब में पूर्ण है, निर्भय है, निर्वैर है, अकालस्वरूप है, अयोनि अर्थात् स्वयंभू है, स्वप्रकाश है, उसकी प्राप्ति का उपाय श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की प्रसन्नता, अनुग्रह, दया अथवा कृपा है, यह संक्षेप से गुरुमन्त्र का अर्थ है।

"शिरोमन्त्र"।

जप । आद सच, जुगाद सच । है भी सच, नानक होसी भी सच ॥ १ ॥

संस्कृतभाषानुवाद।

जप (मुहुर्मुहुरुच्चारय)। आदौ (सृष्टितः पुरा) सत्यः, युगादौ (सृष्ट्यारम्भे) सत्यः। अस्ति अधुनाऽपि (सृष्टिमध्येऽपि) सत्यः, भविष्यति अग्रेऽपि (सृष्ट्यन्तेऽपि) सत्यः, इति नानकः पश्यति॥१॥

हिन्दीभाषानुवाद।

वारंवार उच्चारण कर। आदि में (सृष्टि से पहले) सत्य था, युगों की आदि में (सृष्टि के आरम्भ में) सत्य था। अब भी (सृष्टि के मध्य में भी) सत्य है, आगे भी (सृष्टि के अन्त में भी) सत्य होगा, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ १ ॥

भाष्य–लोट्-लकार के मध्यम-पुरुष का रूप यहां "जप" है। जप में जप-धातु का अर्थ वारंवार उच्चारण करना और लोट्-लकार का विधि अर्थात् आज्ञा अर्थ है। "आद सच" से "नानक होसी भी सच" तक जितना मन्त्र है, उसका "शिरोमन्त्र" नाम है। गुरुमन्त्र और शिरोमन्त्र, दोनों का जप-क्रिया में एक साथ सम्बन्ध जनाने के लिये दोनों के मध्य में विधिक्रिया के वाचि जप-पद का प्रयोग (उच्चारण) हुआ है। जप-पद, गुरुमन्त्र का शेष और शिरोमन्त्र का प्रधान अङ्ग है। संहिता के "जपसंहिता" नाम होने का निमित्त भी यही जपपद है। हे मनुष्य! सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय हुआ, लोकसुख तथा परलोकसुख, दोनों की प्राप्ति के लिये शिरोमन्त्र के सहित गुरुमन्त्र का जप कर अर्थात् श्रद्धाभक्ति के साथ उसका वारंवार उच्चारण कर, यह विधि-क्रिया के वाची जप-पद का अर्थ है।

आद सच } शिरोमन्त्र के सब वाक्य चार हैं। उनमें से पहला वाक्य "आद सच" है। जैसे ऋक्संहिता में "भूमि" के स्थान में "भूम" (ऋ० १।८५।५) उच्चारण और "सखिविदं" के स्थान में "सचिविदं" (ऋ० १०।७१।६) उच्चारण हुआ है, वैसे यहां 'आदि' के स्थान "आद" उच्चारण

और "सत्य" के स्थान में "सच्च" उच्चारण हुआ है । अर्थ, आदि और आद, दोनों का तथा सत्य और सच्च, दोनों का एक है। जिस वस्तु में कभी किसी प्रकार का उलट पलट नहीं होता, अर्थात् जैसी है, वैसी ही सदा रहती है,या यों कहो कि तीनों कालों में एकरस, अपने स्वरूप में स्थित है, उसको सत्य कहते हैं। आद अर्थात् आदि का अर्थ यहां सृष्टि से पहला काल अभिप्रेत है। आदि और सच्च, दोनों के बीच सप्तमी विभक्ति "में" का लोप है। तीसरे वाक्य में वर्तमानक्रिया "है" का और चौथे वाक्य में भविष्यत्-क्रिया "होसी" का प्रयोग होने से, पहले ओर दूसरे वाक्य में भूतक्रिया "था" का अध्याहार है । ईश्वर का सम्बन्ध गुरुमन्त्र से प्राप्त है। वह ईश्वर आदि में अर्थात् सृष्टि से पहले सत्य था, यह "आद सच्च" का अर्थ है।

जुगाद सच्च} यकार और जकार, दोनों का उच्चारण, स्थान के एक होने से प्रायः एकसा होता है,जैसे दकार और धकार का "देहि" भी उच्चारण होता है और "धेहि"(ऋ०६।१०५) भी उच्चारण होता है। आदि के स्थान में आद उच्चारण और सत्य के स्थान में सच्च उच्चारण पूर्ववत् है। कृत-त्रेता आदि युगों की गणना का आरम्भ, सृष्टि के होने पर होता है, इसलिये यहां जुगाद का अर्थात् युगादि पद का अर्थ सृष्टि का आरम्भ विवक्षित है । वह ईश्वर युगों की आदि में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में सत्य था, यह "जुगाद सच्च" का अर्थ है।

है भी सच्च} 'है' वर्तमान-क्रियापद है और 'भी' को 'अब' की आकाङ्क्षा है, इसलिये अब का अध्याहार होता है। वह ईश्वर अब भी (सृष्टि-काल में भी) अर्थात् सृष्टि के मध्य में भी सत्य है, यह "है भी सच्च" का अर्थ है । जितनी जड-चेतन नानाविध सृष्टि देखने में आती है,वह सब ईश्वर की सृष्टिनिर्माण-शक्ति प्रकृति अथवा माया का विस्तारमात्र है । या यों कहो कि ईश्वर की ही यह एक मायिक लीलामात्र है। वह अपनी अद्भुत माया शक्ति की आड़ में जड-चेतनभेद से अनेक रूप हुआ अनेक प्रकार की अद्भुत लीला करता है। निःसन्देह वह अपनी माया के बल से अपनी एकता को अनेकता के रूप में दिखा कर यह सब खेल खेलता है। परन्तु यह सब विस्तार, यह सब लीला और खेल, माया में ही है, ईश्वर के स्वरूप में उसका कुछ भी

सम्बन्ध नहीं है, वह जैसा एक सृष्टि से पहले था, वैसा ही एक अब भी अपने आप में विद्यमान है। इसीलिये कहा है "है भी सचा"। वामदेव के पुत्र "बृहदुक्थ" ऋषि ने अपने मन्त्र में इन्द्र से यही कहा है कि आपके जितने युद्ध आदि कर्म हैं, जिनका मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने मन्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, वे सब आपकी केवल माया है। वामदेव के पुत्र बृहदुक्थ ऋषि का मन्त्र यह है—

"यद् अचरस्तन्वा वावृधानो बलानि इन्द्र ! प्रब्रुवाणो जनेषु । मायेत सा ते यानि युद्धानि आहुः, न अद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से" (ऋ० १० । ५४ । २)।

अर्थ—हे इन्द्र ! जो तू शरीर से फूला हुआ (बड़ा खुश हुआ) अपने बलों को (बल के कामों को) भक्तजनों में कहता हुआ विचरता है अर्थात् कहता फिरता है। यह व्यर्थ है, क्योंकि वह सब आपकी केवल माया है, जिन्हें तू अपने बल (बल के काम) कहता और मन्त्रद्रष्टा जिन्हें आपके युद्ध कहते हैं, तू ने आज तक न पहले कोई शत्रु पाया है, और नहीं कोई निश्चय आगे पायेगा ॥ २ ॥

नानक होसी भी सच } भविष्यत्-क्रिया 'होष्यति' का होसी संक्षिप्तरूप है। और भकार तथा हकार का आपस-में बदल होने से भविष्यति का रूपान्तर ही "होष्यति" है। होसी, और भी, दोनों के बीच, भविष्यत्काल के सूचक "आगे" पद का अध्याहार है। शेष सब पूर्ववत् है। वह ईश्वर आगे भी अर्थात् सृष्टि के अन्त में भी सत्य होगा, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है। ईश्वर की दया से जिस व्यक्तिविशेष के मन में किसी वाणीविशेष का स्फुरण होता है, या यों कहो कि वह उसे अपने मनरूपी नेत्र से देखता है, उसको वैदिकों की परिभाषा में "द्रष्टा" कहते हैं और उसकी उस वाणीविशेष में जो भी उपदेष्टव्य (उपदेश के योग्य) अर्थ होते हैं, उन्हें उस द्रष्टा की "दृष्टि" अथवा "देवता" कहा जाता है। दर्शन और दृष्टि, दोनों पर्याय-शब्द हैं। निरुक्त के कर्ता यास्क मुनि ने मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के अनेक प्रकार के उपदेष्टव्य अर्थों को लिखकर अन्त में उन्हें उन की दृष्टि लिखा है—"एवमुच्चावचैराभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति" अर्थात् इस

तरह ऊँच नीच-नाना प्रकार के अर्थों के कहने की कामनाओं से ऋषियों के मन्त्रों के दर्शन हैं अर्थात् ऋषियों की दृष्टि है(निरु०७।३)। गुरुमन्त्र के सहित शिरोमन्त्र, श्रीगुरु नानकदेवजी के मन में स्फुरण हुआ है, इसलिये उसे यहां नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि कहा है। वेद में जिस गायत्री सावित्री नाम के गुरुमन्त्र का द्रष्टा गाधि का पुत्र विश्वामित्र ऋषि है, उसका स्वरूप एवंरूप है—
"तत् सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमाहि। धियो यो नः प्रचोदयात्" (ऋ० ३।६२।१०)। मनुस्मृति में कहा है कि इस गुरुमन्त्र के आदि में "ओं भूर्भुवः स्वः" जोड़ कर सायं प्रातः जप करे (मनु० २।७८)। तैत्तिरीयारण्यक, याज्ञवल्क्यसंहिता और शङ्खस्मृति में लिखा है कि इस गुरुमन्त्र के अन्त में शिरोमन्त्र को जोड़ कर सायं प्रातः जप करे (शङ्ख स्मृति १२। १४)। शिरोमन्त्र का आकार इस प्रकार है "आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म"। प्राणायाम में जप के समय प्रणव और तीनों व्याहृतियों के जोड़ने से शिरोमन्त्र का आकार यह हो जाता है— "ओमापो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्" (तै० आ०१०।२७)। शिरोमन्त्र, प्रणव और उक्त तीनों व्याहृतियों के जोड़ने से गायत्री सावित्री नाम के गुरुमन्त्र का पाठ और अर्थ, इस प्रकार होता है—
"ओं भूर्भुवः स्वः, तत् सवितुर्वरेण्यं,भर्गो देवस्य धीमाहि। धियो यो नः प्रचोदयात्, ओम् आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म" अर्थात् ईश्वर सत् चित् आनन्द है, हम उस देवों के देव जगत्स्रष्टा ईश्वर के सब से श्रेष्ठ तेजोमय स्वरूप का ध्यान(चिन्तन) करते हैं। जो हमारी बुद्धियों को प्रेरे अर्थात् भले कर्मों में लगाये, ईश्वर सब में पूर्ण है, स्वप्रकाश है, सब का सार अर्थात् जीवन है, अमृत है और सबसे बड़ा है। जैसे विश्वामित्र ऋषि के दृष्ट(देखे हुए)शिरोमन्त्र के सहित गायत्री सावित्री नाम के गुरुमन्त्र के जप में मतभेद है, अधिकार में उपनीत, अनुपनीत का विवाद है,जप में स्वर और वर्ण का ठीक ठीक उच्चारण न होने से अनिष्ट का होना निश्चित है,बीच में नागा हो जाने पर प्रत्यवाय और कुछ दिन के पीछे छोड़ देने से, पहले किये हुए का व्यर्थ जाना, अवश्यम्भावी है, वैसे श्रीगुरुनानकदेव जी के दृष्ट शिरोमन्त्र के सहित गुरुमन्त्र के जप में यह सब झंझट नहीं है। उसका मार्ग कर्मयोग के

मार्ग की नाईं बड़ा सुगम, सरल, निष्कण्टक और विस्तृत है। उस पर निःसंकोच स्त्री पुरुष,बाल वृद्ध,अन्त्यज ब्राह्मण, सभी मनुष्य यथा-सामर्थ्य रात्रिन्दिवा स्वेच्छापूर्वक चल सकते और अपने मनोवाञ्छित फल को अनायास ही पा सकते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् ने कर्मयोग के सम्बन्ध में जो कुछ अर्जुन से कहा है,वह सब श्रीगुरु नानकदेव जी के इष्ट शिरोमन्त्र के सहित गुरुमन्त्र के जप के सम्बन्ध में बड़ा ही लागू पड़ता है। उस का आकार इस प्रकार है—

"न इहाभिक्रमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" (गी० २।४०)।

अर्थ—इस कर्मयोग में (शिरोमन्त्र के सहित गुरुमन्त्र के जप में) आरम्भ का नाश (विना फल दिये नष्ट हो जाना) नहीं है, नहीं बीच में नागा करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है। इस धर्म का (जपरूपी धर्म का) बहुत थोड़ा आचरण (अनुष्ठान) भी बड़े भय से (जन्म मरण आदि के भारी भय से) बचाता है॥ ४०॥

निःसंदेह शिरोमन्त्र के सहित गुरुमन्त्र के जप का माहात्म्य अपार और अकथनीय है, यह सिद्धमन्त्र होने से हमेशा मनुष्यमात्र के काम की बहुमूल्य वस्तु है, यह सच्चा कल्पतरु है, यह सच्ची चिन्तामणि है। इसे अपने पवित्र हृदयमान्दिर में, अपने स्वच्छ कण्ठ-प्रदेश में पूरी सावधानी के साथ सदा रखना चाहिये। जो स्त्री अथवा पुरुष, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण और मितभाषण आदि का व्रत धारण किये हुआ श्रद्धाभक्ति के साथ,शुक्ल-पक्ष के पहले रविवार से आरम्भ करके पूरे चालीस ४० दिन में इस सिद्ध-मन्त्र का सवा लाख जप करता है, उसकी सभी मनःकामना पूर्ण होती हैं और मरने के पीछे उसे सदा के लिये सच्च-खण्ड में वास प्राप्त होता है, यह साम्प्रदायिक मत है ॥१॥

शान्तानामग्रणीर्बुद्धः, ईशाश्च लोकविश्रुतः।
ताभ्यां शान्ततमं प्राहुः, श्रीगुरुं नानकं बुधः ॥१॥
तन्नामाङ्कितमन्त्रोऽयं, श्रद्धया येन जप्यते।
स देहे लभते कामान्, देहान्ते च विमुच्यते ॥२॥

————

"ईश्वरनिष्ठापर्व" ॥१॥

"सोचे सोच नँ होवँई, जे सोची लँख-वार ।
चुपे चुप नँ होवँई, जे लाय-रहा लिवँ-तार ॥१॥
भुक्खिया भुक्ख नँ उँत्तरी, जे बँन्ना पुरियाँ भाँर ।
सँहस स्याँणपा लँख होय, तँ ईक नँ चँल्ले नाँल ॥२॥
किवँ सँच्यारा होईए, किवँ कूँडे तुट्टे पाँल ।
हुँक्म रँजाई चँल्लना, नाँनक लिखिआ नाँल" ॥३॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

शोचन * शरीरस्य शौचेन देहस्य शुद्धया, शोचः + मनसः शौचम् ईश्वरनिष्ठाहेतुः चित्तस्य शुद्धिः नँ भँवति, यँदि लँक्षवारमपि मृज्जलाभ्याम् अशोचीत‡ शौचं शारीरं विदधीत कुर्वीत । चुपेन§ वाचो मन्दगत्या मौनेन, ईश्वरनिष्ठाहेतुः चुपो मनसो मन्दव्यापारो मौनम् ऐकाग्र्यं नँ भँवति, यँदि ताँरवदवच्छिन्नामपि मौनवृत्तिं यावदायुः आँलम्बेत ॥१॥ बुँभुक्षूणां कामकामानां बुँभुक्षा कामो विनेश्वरनिष्ठया नँ उँत्तरति=न निवर्तते, यँदि पुँरीणाम् अमरावतीप्रभृतीनां भाँरं समूहमपि तत्पुरतो वँध्नीयात्=वन्धं वन्धं तेभ्यो दद्यात्। ईश्वरनिष्ठाभावे सँहस्राणि लँक्षाणि सुँज्ञपणानि=सुज्ञत्वानि शास्त्रपाण्डित्यानि लोकचातुर्याणि च भँवेयुः, तँथापि साँर्धम् * एँकमपि नँ चँलेत=विपदि साहाय्यं नाचरेत् ॥२॥ कँथं तर्हि सँत्याधाराः=सत्येश्वराश्रयाः सत्येश्वरनिष्ठाः भँवेम ? कँथं च कूँटाधारो अनृताश्रयः पाँलो† जन्ममरणयोर्गतिः अविच्छिन्नधारा त्रुँट्येत्=विच्छिद्येत। निरँतृप्तस्य सदा सुप्रसन्नस्येश्वरस्य आँज्ञायाम् इच्छायां चँलनं, त्वदिच्छैव मदिच्छेति बुद्धया चरणं=वर्तनं, तदुभयोपायः, सोऽयम्

---

* कुत्वाभावश्छांदसः. यथा "वाजिनेषु" (ऋ० १० ।७१ । ५) इत्यत्र ।
† पूर्ववच्छान्दसः कुत्वाभावः । ‡ भविष्यति भूतप्रत्ययः ।§चुप मन्दगतौ,घनर्थे कः ।

ईश्वरः सौधम्=अन्तरात्मानि हृदये,नित्यं तेष्ठीयते,ऽलेखि च ऋषिभिः पूर्वैरिति नौनकः पश्यति ॥ ३ ॥ १ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

शरीर के शौच से अर्थात् शरीर की पवित्रता से, अथवा देह की शुद्धि से, मन का शौच अर्थात् मन की पवित्रता, अथवा शुद्धि, जो ईश्वरनिष्ठा का मुख्य साधन है, नहीं प्राप्त होती, चाहे लाख वार मिट्टी और जल से शरीर को पवित्र करे। चुप रहने से (मौन धारण करने से) मन की चुप (मौन) अर्थात् मन की एकाग्रता, जो केवल ईश्वरनिष्ठा से प्राप्त होती है, नहीं प्राप्त होती, चाहे आयुभर लगातार मौनवृत्ति लगाये रक्खे, अर्थात् मौन धारण करी रक्खे ॥१॥ सांसारिक पदार्थों के भूखों की (विषयभोगों की इच्छावाले मनुष्यों की) भूख (इच्छा), बिना ईश्वरनिष्ठा के नहीं निवृत्त होती, चाहे अमरावती पुरी से लेकर अनेक पुरियों के भार (ढेर), उनके सामने बांन्ध कर रख दिये जायें अर्थात् तीनों लोकों का राज्य उन्हें दे दिया जाये। हजारों और लाखों प्रकार की स्याणपां अर्थात् शास्त्रों की पण्डिताईयां और लोकव्यवहार की चातुरियां हों, पर ईश्वरनिष्ठा के बिना, विपदा के समय एक भी साथ नहीं चलती अर्थात् सहायता नहीं करती ॥२॥ फिर कैसे हम सच्यार अर्थात् सत्य के आधार (सत्य ईश्वर का आश्रय लिये हुए) अर्थात् सब आश्रयों को छोड कर एक सत्य ईश्वर का आश्रय पकड़े हुए हों? अर्थात् सत्य ईश्वर में मन की संशय विपर्यय से रहित धारणारूपी निष्ठा(स्थिति) वाले हों? और कैसे झूठ के आधार (आश्रय) स्थिति पाये हुई जन्ममरण-रूपी संसार की गति अर्थात् अविच्छिन्न धारा, टूटे अर्थात् जन्ममरण रूपी संसार

---

* णल वन्धने, वन्धः सम्बन्धः । † पल गतौ ।

की अत्यन्त निवृत्ति हो ? । सदा सुप्रसन्न ईश्वर की आज्ञा (इच्छा) में चलना अर्थात् ईश्वर के भाणे में किन्तु न करते हुए (खुश रहते हुए) सदा श्रद्धा भक्ति के साथ कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करते रहना, दोनों का उपाय है, वह यह सत्य ईश्वर आप के नाल (साथ) शरीर के भीतर हृदयदेश में स्थित है और ऐसा ही पहले ऋषियों ने लिखा है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥३॥१॥

भाष्य–गुरुमन्त्र में ईश्वर का स्वरूप निरूपण किया गया और शिरोमन्त्र में वह सदा एकरस अर्थात् सत्य है, कहा गया । अब यह कहना है कि जब यह मनुष्य सच्यार हुआ अर्थात् सब आधारों (आश्रयों) को छोड कर एक सत्य ईश्वर के आधार (आश्रय) हुआ, या यों कहो कि सब सहारों को परे फैंक कर एक सत्य ईश्वर का सहारा लिये हुआ, सब चराचर जगत् को ईश्वर का स्वरूप समझता है और जड़ हों अथवा चेतन, सब वस्तुओं (पदार्थों) के अन्दर अन्तरात्मारूप से एक सत्य ईश्वर को देखता हुआ श्रद्धा भक्ति के साथ कर्तव्य-बुद्धि से कर्मों को करता है, तब लोक और परलोक, दोनों में सुखी होता है, उसके जन्ममरण का चक्र एक-दम बन्द हो जाता और फिर वह सदा के लिये सच्चखण्ड में निवास पाता है । सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होने के लिये मन की स्वच्छता (निर्मलता), मन की एकाग्रता और सांसारिक पदार्थों में मन की वितृष्णता, ये तीन मुख्य साधन हैं, क्योंकि जब तक मन मलिन है, चञ्चल है और सांसारिक पदार्थों की तृष्णा से भरा हुआ है, तब तक मनुष्य दूसरे आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होने का साहस नहीं कर सकता। मन का यह सहज स्वभाव है कि वह जितना स्वच्छ होता है, जितना एकाग्र होता है, जितना तृष्णा से रहित होता है, उतना ही प्रबल (बलवान्) होता है और जितना मलिन, चञ्चल और तृष्णालु होता है, उतना ही निर्बल (बलहीन) होता है । मन की प्रबलता से मनुष्य की प्रबलता का और मन की निर्बलता से मनुष्य की निर्बलता का अटूट सम्बन्ध है । अर्थात् जिस मनुष्य का मन प्रबल है, वह प्रबल और जिस मनुष्य का मन निर्बल है, वह निर्बल, यह निश्चित सिद्धान्त है, इस में यत्किञ्चित् भी संशय नहीं । जो मनुष्य प्रबल है, उस में

दृढ़ता है,सहनशीलता है,सन्तोष है और जो मनुष्य निर्बल है,उस में न दृढ़ता है, न सहनशीलता है, न सन्तोष है । वह अपनी निर्बलता के कारण प्रथम तो सब आश्रयों को छोड़ नहीं सकता । यदि कदाचित् छोड़ भी दे,तो दृढ़ नहीं रह सकता। निःसन्देह सब आश्रयों को छोड़कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होना, एकमात्र प्रबल मनुष्य का ही काम है, निर्बल मनुष्य का काम नहीं। मनुष्य की प्रबलता, उस के मन की प्रबलता पर और मन की प्रबलता, उसकी स्वच्छता, एकाग्रता और वितृष्णता पर निर्भर है। इसलिये सभी शास्त्रकारों ने सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होने के लिये इन तीनों साधनों का पहले होना परमावश्यक माना है। इसलिये हर एक मनुष्य का प्रथम से प्रथम कर्तव्य यह है कि वह सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होने के लिये पहले अपने मन की स्वच्छता, एकाग्रता और वितृष्णता, सम्पादन (हासिल) करे।

मन,शरीर के अन्दर है,वह शरीर की स्वच्छता से स्वच्छ नहीं हो सकता। मन, नेत्र आदि सब इन्द्रियों का राजा है, उसकी क्रिया, इन्द्रियों की क्रिया के रोकने से नहीं रुक सकती। मन, विस्तृत आकाश है,वह कभी संसार के पदार्थों से भर नहीं सकता। उसके स्वच्छ होने, क्रियाहीन (एकाग्र) होने और भर जाने के साधन ये नहीं, किन्तु दूसरे हैं। बस इसी कथन से इस संहिता का आरम्भ होता है। संहिता का अवान्तर विभाग पर्वों अर्थात् पौड़ियों में किया गया है और वे सब पर्व गिनती में अठतीस ३८ हैं। इन अठतीस ३८ पर्वों में वे सब उपदेष्टव्य (उपदेश के योग्य) बातें आ गई हैं, जो "ऋक्संहिता" आदि सभी वेदसंहिताओं में कही गई हैं। उनके सिवा वे सब बातें भी आ गई हैं, जो अकाल पुरुष परमात्मा की अपार दया से श्रीगुरु नानकदेव जी के मन में नई स्फुरण हुई हैं। इसलिये इस संहिता का माहात्म्य बहुत ही बढ़ गया है । जो मनुष्य गुरुभक्त हुआ प्रतिदिन प्रातः, श्रद्धाभक्ति के साथ इस "जपसंहिता" का पाठ करता है, वह महापुण्यात्मा हुआ केवल अपने आपको ही भवसागर से पार नहीं करता, प्रत्युत अपने सब कुटुम्ब को भी संसारसागर से पार करता है। इसलिये स्त्री हो, चाहे पुरुष,बाल हो चाहे वृद्ध,अन्त्यज हो चाहे ब्राह्मण, गृहस्थ हो चाहे साधु, हर एक मनुष्य, अपनी और अपने कुटुम्ब की कल्याण के लिये

प्रतिदिन प्रातः स्वच्छ होकर इस जपसंहिता का श्रद्धाभक्तिपूर्वक पाठ करे। इस जपसंहिताके पहले पर्व का नाम 'ईश्वरनिष्ठापर्व' और उसके सब मन्त्रोंकी संख्या तीन ३ है। उनमें से पहले मन्त्रके पूर्वार्ध का पाठ है— "सोचे सोच न होवई, जे सोची लख वार"। गुरुभाषा में वेदभाषा की नाईं दन्ती सकार और तालव्य शकार, दोनों का उच्चारण एक-सा होने से शोचे के स्थान में "सोचे" उच्चारण हुआ है, जैसे ऋक्संहिता में स्वघ्नी के स्थान में "श्वघ्नी" (ऋ० २।१२।४) उच्चारण । यहां शोचे, तृतीया-विभक्ति का रूप है। अष्टाध्यायी के "सुपां-सु-लुक्-पूर्वसर्वण-आ-आत्-शे या-डा-ड्या" (अष्टा० ७।१।३९) सूत्र से तृतीया-विभक्ति (इन) के स्थान में शे (ए) होने से "शोचे" रूप (पद) बनता है। शोचे में, शोच का अर्थ शौच अर्थात् शुद्धि और तृतीया विभक्ति (ए) का अर्थ हेतु अर्थात् साधन है। दूसरा शोच (सोच) पद, प्रथमा विभक्ति का रूप है, जैसे ऋक्संहिता के "लोधं नयन्ति पशु मन्यमानः" (ऋ० ३।५३ २३) मन्त्र में द्वितीया विभक्ति का रूप "पशु" पद है। "सुपां सु-लुक्" (अष्टा०७।१।३९) सूत्र से शोच-पद में प्रथमा विभक्ति का और पशु-पद में द्वितीया विभक्ति का लुक् (अभाव) हुआ है। 'शोच' में शुच धातु और प्रत्यय घञ् (अ) है। जैसे "वाजिनेषु" (ऋ० १० । ७१ ५) पद में जकार (ज) को गकार (ग) नहीं हुआ, वैसे शोचे-पद में और शोच-पद में भी चकार को ककार (क) नहीं हुआ। शोचे (सोचे) पद से यहां शरीर का शौच अर्थात् शरीर की शुद्धि या पवित्रता और शोच (सोच) पद से मन का शौच अर्थात् मन की शुद्धि, या पवित्रता विवक्षित है और दोनों के हेतु-हेतुमद्-भाव अर्थात् साध्य-साधन-भाव का निषेध न (नकार) का अर्थ है। शरीर का शौच अर्थात् "शरीर की शुद्धि, मन के शौच अर्थात् मन की शुद्धि का हेतु या साधन नहीं" यह भवति-क्रिया के स्थानापन्न "होवई" क्रिया के सम्बन्ध से, मन्त्रवाक्य का अर्थ है। शरीर के शौच से मन का शौच अर्थात् शरीर की शुद्धि से मन की शुद्धि, तीनों कालों में भी सम्भव नहीं, यह कहने के लिये मन्त्र-वाक्य का शेष है "जे सोची लख-वार"। जैसे "अक्रन्दीत्" का छान्दस उच्चारण "क्रन्" (ऋ० ७।५।७) और वर्तमानकाल में भूतकाल

का प्रयोग है, वैसे "अशोचीत्" का छान्दस उच्चारण "शोची" (सोची) और भविष्यत्काल में भूतकाल का प्रयोग है। एक वार नहीं, लाख वार (अनेक वार) मिट्टी और जल से शरीर को शुद्ध करे, यह मन्त्रवाक्य के इस शेष भाग का अर्थ है।

कर्म, अवान्तर भेदों से चार प्रकार का माना है। उत्पत्तिकर्म, प्राप्तिकर्म, विकारकर्म और संस्कारकर्म, ये उन चारों भेदों के नाम हैं। वस्तुओंकी उत्पत्तिके लिये जो कर्म किया जाता है, उसको "उत्पत्तिकर्म" वस्तुओंकी प्राप्तिकेलिये जो कर्म किया जाता है, उसको "प्राप्तिकर्म" वस्तुओंमें विकार को (धर्मान्तररूपी विकृतिविशेष को) लाने के लिये जो ताप-दान आदि रूप कर्म किया जाता है, उसको "विकारकर्म" और वस्तुओं के संस्कार के लिये (वस्तुओंमें दोषों की निवृत्ति और गुणों की प्रवृत्ति के लिये) जो कर्म किया जाता है, उसको "संस्कारकर्म" कहते हैं। शुद्धि, पवित्रता अर्थात् शौच, संस्कारकर्म है और संस्कार्य (संस्कार के योग्य) वस्तुओं तथा उनके अनुरूप साधानों के भेद से अनेक प्रकार का है। शरीर के शुद्धिरूपी अर्थात् शौचरूपी संस्कारकर्म के जो साधन हैं, वे मन के शुद्धिरूपी अर्थात् शौचरूपी संस्कारकर्म के साधन (उपाय) नहीं हैं और नहीं हो सकते हैं। शरीर बाहर की वस्तु है, स्थूल है, तथा अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष है और मन अन्दरकी वस्तु है, सूक्ष्म है, तथा परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष है। इसलिये शरीर का शुद्धिरूपी अर्थात् शौचरूपी संस्कार-कर्म, जिन जल, मिट्टी आदि साधनों से किया जाता है, उन से शरीर ही शुद्ध, शुचि अथवा पवित्र हो सकता है, मन शुद्ध, शुचि अथवा पवित्र नहीं हो सकता। दूसरा, संस्कार-कर्म का एक यह भी स्वभाव है कि वह अपने विषय संस्कार्य वस्तु में ही फल का जनक होता है, दूसरे में नहीं होता। मल को निवृत्त कर के वस्तु में कुछ विशेषता लाने को संस्कार और संस्कार के योग्य वस्तु को संस्कार्य कहते हैं। शरीर के शौचरूपी अर्थात् शुद्धिरूपी संस्कारकर्म का विषय केवल देवशर्मा का शरीर है, देवशर्मा का मन नहीं। इसलिये देवशर्मा के शुद्धिरूपी अर्थात् शौचरूपी संस्कारकर्म से उसका विषय (संस्कार्य) केवल एक पांचभौतिक स्थूल शरीर ही संस्कृत अर्थात् शुद्ध, शुचि अथवा पवित्र हो सकता है, अभौतिक तथा सूक्ष्मतम मन, जो शरीर से

अलग और शरीर के अन्दर है, संस्कृत अर्थात् शुद्ध, शुचि अथवा पवित्र नहीं हो सकता और नहीं होना कभी सम्भव है। बस यही "जे सोची लख वार" का आशय है। यहां शरीरकी शुद्धि(पवित्रता)का,या उसके साधन स्नानादि संस्कारकर्म का निराकरण(खंडन)अभिप्रेत नहीं, क्योंकि वह लोक, शास्त्र, उभयसिद्ध और स्वास्थ्य का मुख्य साधन होने से सर्वदा सर्वथा सर्वत्र अपेक्षणीय है, किन्तु शरीर की शुद्धि ही मन की शुद्धि का एकमात्र उपाय(साधन) है और वही मनुष्य को रात्रिंदिवा मुख्यतया कर्तव्य है,इस मन्तव्य का निराकरण अभिप्रेत है।

शरीर का शौच } योगदर्शन में शौच के दो भेद किये हैं—एक बाह्य और दूसरा आन्तर। शरीरके शौच का नाम बाह्य शौच और मन के शौच का नाम आन्तर शौच है।जैसे शौच,शुद्धि और पवित्रता, तीनों पर्याय शब्द हैं, वैसे अशौच, अशुद्धि और अपवित्रता, ये तीनों भी समानार्थक शब्द हैं। जिसके शौच है, शुद्धि है या पवित्रता है, उसको शुचि, शुद्ध अथवा पवित्र और जिसके अशौच, अशुद्धि या अपवित्रता है,उसको अशुचि,अशुद्ध अथवा अपवित्र कहते हैं। शरीरके रोमकूपों से और आंख,नाक,कान,मुंह,गुदा,उपस्थ-नामके सभी छेदोंसे जो मल निरन्तर निकलता रहता है,उसके संस्पर्श से तथा मलिन वस्त्रों के पहनने और मलिन मनुष्यों के सहवास से शरीर अशुचि, अशुद्ध या अपवित्र होता है। प्रतिदिन नियम से स्नान करनेसे और मुंह,हाथ आदि अङ्गों के समय समय पर धोने से, तथा निर्मल वस्त्रों के पहनने और मलिन मनुष्यों का सहवास न करने से, शरीर शुचि, शुद्ध या पवित्र होता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें प्रतिदिनकी स्नानादिक्रियाके सम्बन्ध में यह लिखा है—'दतो धावते,स्नाति,अहतं वासः परिधत्ते' अर्थात् प्रतिदिन दान्तों को धोये (दातुन से साफ करे) स्नान करे, न फटा हुआ निर्मल वस्त्र पहने (तै०ब्रा० ३ । ८ । १)। नीतिकारों ने भी लिखा है कि जो मनुष्य,प्रतिदिन प्रातः सायं दान्तों को साफ नहीं करता, स्नान नहीं करता और स्वच्छ वस्त्र नहीं पहनता,उसे संसार का ऐश्वर्य छोड़ देता है। नीतिकारों का लेख यह है—

"कुचैलिनं दन्तमलावधारिणं, बह्वाशिनं नित्यकठोरभाषिणम्।
सूर्योदये चास्तमये च शायिनं, विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिनम्"॥१॥

अर्थ—जिसके वस्त्र मलिन हैं, दान्तों और शरीर पर मल जमी हुई है, बहुत खाता है और हमेशा सख्त बोलता है। सूर्य के उदयकाल और अस्तमय काल में सोता अर्थात् सन्ध्यावन्दन नहीं करता है, उसे संसार का ऐश्वर्य छोड़ देता है, चाहे वह साक्षात् विष्णु है॥ १॥

शरीर के शौच से नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, अङ्गों में स्फूर्ति और त्वचा में चमक,अधिक होती है,कोई चर्मरोग नहीं होता,नहीं काम के करने से शरीर थकता है, भूख खूब लगती और रात्रि में गाढ़ी नींद आती है,बस यही सब अच्छे स्वास्थ्यके चिन्ह हैं,जिसकी प्राणिमात्रको आवश्यकता है। इसलिये हर एक स्त्री को तथा पुरुष को चाहिये कि वह अपने शरीर के शौच की ओर विशेषरूप से ध्यान रखे और सदा हित, मित तथा पवित्र भोजन करे।

मन का शौच } योगियों के मत में मन के अशौच के कारण छे६मल हैं,जिनके होनेसे मन अशुचि,अशुद्ध अथवा अपवित्र होता है। राग, द्वेष,ईर्ष्या,असूया, परापकार-चिकीर्षा और अमर्ष,ये उन छे मलों के नाम हैं। उन छे मलोंमें से पहले दो मल क्लेश और शेष चारों मल क्लेशों के छोटे भाई उपक्लेश हैं। स्मृतिकारों ने इन्हीं छे ६ मलों को मन के दुष्टभाव कहा है। इन्हीं दुष्टभावों के होने पर मनुष्य अनेक प्रकार के अशुभ कर्मों को करता हुआ पाप का सञ्चय करता है। योग-दर्शनके कर्ता पतञ्जलि मुनिने इन छे ६ मलों की निवृत्ति का उपाय चार भावना कथन की हैं और लिखा है कि इन चारों भावनाओं के निरन्तर अभ्यास से रागादि मलों के निवृत्त हो जाने पर मन निर्मल, स्वच्छ अर्थात् पवित्र हो जाता है। पतञ्जलि मुनि का लेख यह है—
"[१]मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां [२]सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां [३]भावनातः चित्तप्रसादनम्" अर्थात् [१]सुखी, दुःखी, पुण्यी और पापी मनुष्यों में [२]मित्रता, दया,हर्ष और उदासीनता (उपेक्षा) के [३]पुनः पुनः चिन्तन रूपी अभ्यास से मन, निर्मल, शुद्ध अर्थात् पवित्र होता है (यो० १। ३३)। सुखी मनुष्यों को अर्थात् सुखके साधन धनधान्य आदि ऐश्वर्यसे युक्त (ऐश्वर्यवाले) मनुष्यों को देख कर ऐसी भावना करे कि मेरे देश-बन्धुओं को सुख अर्थात् सुख का साधन ऐश्वर्य प्राप्त हुआ, बहुत अच्छा हुआ, क्योंकि देशबन्धुता के नाते इन का ऐश्वर्य मेरा ही ऐश्वर्य

है, इस प्रकार मित्रभाव की भावना अर्थात् मित्रभाव का चिन्तन करने से ईर्ष्या मल की और ईर्ष्या मलके कारण उत्पन्न हुए अपने सुख (ऐश्वर्य) के लिये विहिताविहित कर्मों के करने की तीव्र इच्छा-रूपी राग-मल की निवृत्ति होती है । दुःखी मनुष्यों को अर्थात् दुःख के हेतु निर्धनता आदि से युक्त मनुष्यमात्र को देख कर ऐसी भावना करे कि मेरे देशबन्धुओं को दुःख अर्थात् दुःखों का कारण अनैश्वर्य(धनादि का अभाव) प्राप्त हुआ,बहुत बुरा हुआ, यह सब के लिये एकसा असह्य होता है, इस की निवृति का यथासामर्थ्य उपाय करना चाहिये । इस प्रकार करुणा (दया) की भावना करनेसे घृणा (ग्लानि)के कारण उत्पन्न हुए परापकारचिकीर्षा रूपी (दूसरे के तिरस्कार की इच्छा रूपी) मल की निवृत्ति होती है । पुण्यी मनुष्यों को देख कर ऐसी भावना करे कि वाह मनुष्यजन्म का और धन की प्राप्ति का फल यही है कि ऐसे महोपकारक पुण्य के काम करे,सब मनुष्यों को यथाशक्ति ऐसा ही करना चाहिये । इस प्रकार मुदिता (प्रसन्नता) नाम की भावना के करने से असूया (झूठी निन्द) और अमर्ष (असहिष्णुता) मल की निवृति होती है । पापी मनुष्यों को देख कर यह भावना करे कि जो जैसा करेगा, वैसा फल पायेगा, हम तो इन्हें बहुत समझा थके,नहीं मानते; तो हरि की इच्छा ।इस प्रकार उपेक्षा(उदासीनता)नाम की भावना के करने से द्वेष-मल की निवृति होती है,यह पतञ्जलि मुनि के लेख का आशय है। इन चारों भावनाओं के सिवा और भी अनेक उपाय हैं, जिन के करने से मन निर्मल होता है । वे सब आगे यथास्थान लिखे जायेंगे ।

व्याघ्रपाद ने लिखा है कि जिस मनुष्य के दुष्टभाव अर्थात् राग,द्वेष आदि मन के मल,नहीं निवृत हुए,वह चाहे जीवन-भर मिट्टी और जल से शरीर को शुद्ध करता रहे,या यों कहो कि वारंवार धोता रहे,उसका शरीर कदापि शुद्ध,शुचि अर्थात् पवित्र,नहीं हो सकता । व्याघ्रपाद का तात्पर्य यह है कि दुष्टभावों की निवृत्ति जैसे मन की पवित्रता(निर्मलता) का साधन है, वैसे शरीर की पवित्रता का भी साधन है । इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह पहले मैत्री आदि नाम की चारों भावनाओं से अपने मन के दुष्टभावों को निवृत्त करे, शरीर के वार वार धोने और न्हाने से ही मन शुद्ध हो जायगा, इस बुद्धि से दिनरात न्हाने धोने में ही न लगा रहे । व्याघ्रपाद का लेख यह है—

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं, भावशुद्धिस्तथाऽऽन्तरम्" ॥ १ ॥

अर्थ—शौच निश्चय शास्त्र में दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य (शरीर का शौच) और आभ्यन्तर (मन का शौच)। मिट्टी और जल से बाह्य और दुष्टभावों की निवृत्ति से आभ्यन्तर शौच, कहा गया है ॥१॥

"गङ्गातोयेन कृत्स्नेन, मृद्भारैर् नगोपमैः ।
आ मृत्योश्चाचरन् शौचं, भावदुष्टो न शुध्यति" ॥ २ ॥

अर्थ—सारे गङ्गाजल से और पर्वतों के तुल्य मिट्टी के ढेरों से मरने तक शरीर की शुद्धि करता हुआ भी मनुष्य नहीं शुद्ध होता, जिस के मन के भाव दुष्ट हैं, ॥ २ ॥

"चुपे चुप न होवई, जे लाय रहा लिव तार" ॥१॥ जैसे तृतीया-विभक्ति का 'शोचे' रूप है, वैसे यहां तृतीया-विभक्ति का 'चुपे' रूप है। और दूसरा चुप पद, विभक्ति के बिना प्रथमा-विभक्ति का रूप है। दोनों पदों की धातु 'चुप' है और उस का अर्थ 'वाक्-व्यापार-निरोध' अर्थात् वागिन्द्रिय के शब्दोच्चारण-रूपी व्यापार (क्रिया-विशेष) को रोकना, न बोलना, अथवा मौन धारण करना है। 'लगाय' का उच्चारण "लाय" है, जैसा कि "दमयन्" का उच्चारण "दन्" (ऋ० १०।९१।६) है। 'रहे' का उच्चारण रहा और अर्थ 'रखे' है । लिपि का उच्चारण 'लिबि' और लिबि का पुनः उच्चारण "लिव" है, जैसे भूमि का उच्चारण "भूम" (ऋ०७।८६।१) है। लिपि की नाईं धारावह होने से 'लिव' का अर्थ वृत्ति और यहां वृत्तिविशेष मौन अभिप्रेत है। 'तार' लुप्तोपमा पद अथवा क्रिया का विशेषण है। वागिन्द्रिय के व्यापार को रोकने से अर्थात् मौन के धारण करने से, मन का व्यापार (सङ्कल्प विकल्प-रूपी कर्म) नहीं रोका जा सकता, चाहे मनुष्य आयुभर लगातार मौन-वृत्ति लगाये रखे, यह पहले मन्त्र के दूसरे आधे भाग का अर्थ है।

इन्द्रियां दस हैं—पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां। मनुष्य जिन इन्द्रियों से कर्म को करता है, उन का नाम कर्मेन्द्रियां और जिन इन्द्रियों से बाहर की वस्तुओं को जानता है, अथवा ऐसा कहो कि

मनुष्य को बाहर की वस्तुओं का ज्ञान जिन इन्द्रियों से होता है,उनका नाम ज्ञानेन्द्रियां है। हाथ, पैर,गुदा, उपस्थ और वाणी या वाक् अर्थात् बोलने की इन्द्रिय,ये पांच कर्मेन्द्रियां,चक्षु(नेत्र),श्रोत्र(कान)घ्राण(नाक) रसना (जीभ) और त्वक् (त्वचा)अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय या छूनेकी इन्द्रिय, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। ज्ञान भी एक प्रकार की मानसी (मन की) क्रिया है, इस लिये क्रिया की जनक आत्मा की शक्तियों का नाम इन्द्रियां, यह इन्द्रिय शब्द का सर्वसम्मत अर्थ है । सुख, दुःख आदि का ज्ञान, जिस इन्द्रिय से होता है,उसका नाम "मन" है। वह कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, दोनों है और सब इन्द्रियों का अधिपति है। उस की प्रेरणा और सहायता से ही सब इन्द्रियां अपने अपने काम को करती हैं। यदि मन प्रेरक-रूप से और सहायक-रूप से उन के साथ न हो, तो वे अपना कोई काम नहीं कर सकतीं। यदि करें भी, तो उन का किया-हुआ वह काम,न किया सा होता है, यह बृहदारण्यकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य से स्फुट है "अन्यत्रमनाः अभूवं न अदर्शम्, अन्यत्रमनाः अभूवं,न अश्रौषम्" अर्थात् दूसरी जगह(दूसरी वस्तु में)मन वाला मैं था,इसलिये नहीं देखा,दूसरी जगह मनवाला मैं था,इसलिये नहीं सुना (बृह० १।५।३)। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि मन के व्यापार को रोकने से इन्द्रियों का व्यापार रोका जा सकता है, पर इन्द्रियों के व्यापार को रोकने से मन का व्यापार नहीं रोका जा सकता। जो मनुष्य, मन के व्यापार को नहीं रोकता और इन्द्रियों के व्यापार के रोकने को ही मन के व्यापार के रोकने का उपाय समझ कर इन्द्रियों के व्यापार को हठ से रोकता है, उसे भगवद्गीता में मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा है। भगवद्गीता का श्लोक यह है—

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, यः आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा,मिथ्याचारः स उच्यते"॥ (गी० ३ । ६)।

अर्थ—जो कर्मेन्द्रियों को अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को, रोक कर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता हुआ स्थित होता है। वह विवेकशून्य मन वाला मिथ्याचारी कहा जाता है ॥६॥ "चुपे चुप न होवई" मन्त्र में भी इसी दम्भ का निराकरण अभिप्रेत है,इन्द्रियों के संयम का निराकरण यहां अभिप्रेत नहीं। वह सर्वशास्त्र-

सम्मत और सर्वलोकमान्य होने से सर्वदा सर्वत्र स्वीकृत तथा आदरणीय है और स्त्री हो चाहे पुरुष, सब के लिये अवश्य कर्तव्य है ॥१॥

"भुक्खिआ भुक्ख न उत्तरी,जे बन्ना पुरिया भार"। सांसारिक पदार्थों की इच्छा (कामना) का नाम यहां भूख है। राजधानी को पुरी कहते हैं। पृथिवी का सब से बडा राजा सम्राट् और स्वर्ग का सब से बडा राजा इन्द्र कहा जाता है। इन्द्र की राजधानी का नाम अमरावती है। इच्छा का ही दूसरा पर्याय काम या कामना है। अत्यन्त बढ़ी हुई इच्छा ही तृष्णा नाम से कही जाती है। जिस के तृष्णा है, उस को तृष्णालु कहते हैं। सांसारिक पदार्थों के तृष्णालुओं की तृष्णा अर्थात् इच्छा, कभी निवृत्त नहीं होती, चाहे उन्हें अमरावती से ले कर सभी पुरियां इकट्ठी कर के दे दी जायें अर्थात् तीनों लोकों का साम्राज्य उन्हें दे दिया जाये, यह दूसरे मन्त्र के पहले भाग का अर्थ है। ऋग्वेद में कहा है "पुलुकामो हि मर्त्यः"=निःसन्देह मनुष्य बहुत (अनेक) कामनाओं वाला है (ऋ० १।१७९।५) "मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः"=ये सब कामनायें निश्चय मन में रहती हैं (ऐ० आ० १।३।२)। मनुष्य के मन में रहने वाली इन कामनाओं के अनेक होने से उन के विषय (सांसारिक पदार्थ)भी अनेक हैं। ब्रह्मचारी उपकोसल ने अपने गुरु की धर्मपत्नी से यही कहा है "बहवः इमे अस्मिन् पुरुषे कामाः नानात्ययाः"=हेमाता! इस पुरुष के मन में ये कामनायें अनेक हैं और अनेक ही उनके विषय हैं (छान्दो० ३०।४।१०।३)। इन अनेक कामनाओं में से एक एक कामना एक एक समुद्र है। जैसे सृष्टि के आरम्भ से ले कर आज तक भूमिमण्डल की सब नदियां सिर तोड यत्न करती हुईं भी अपने पानियों से भूमि के समुद्र को नहीं भर सकीं, वैसे मनुष्य आयु-भर यत्न करता हुआ भी अपनी कामना के समुद्र को सांसारिक पदार्थों के जल से नहीं भर सकता। आजतक भूमिमण्डल पर अनेक मनुष्य हुए और उन्होंने अपनी कामना के समुद्र को सांसारिक पदार्थों के जल से भरने के लिये अनेक प्रकार के यत्न किये,परन्तु वे उसे भर न सके और अन्त में निराश होकर बैठ गये, तथा इधर उधर देखकर नीचे मुख किये हुए बलात् यह बोले कि "समुद्रः इव हि कामः। न एवं हि कामस्य अन्तोऽस्ति"=कामना

निःसन्देह समुद्रके तुल्य है । निश्चय इस कामना की समाप्ति तीनकाल में भी नहीं है (तै०ब्रा० २।२।५)।योगदर्शनके भाष्य में व्यासदेव ने लिखा है "न चेन्द्रियणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्। कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः,कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' अर्थात् जो मनुष्य यह समझता है कि सांसारिक विषयों के भोग से इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं, मन शान्त हो जाता है, वह भूलता है, क्योंकि सांसारिक विषयों के भोग से इन्द्रियां अधिक चञ्चल होती हैं, मन पहले से भी अधिक अशान्त हो जाता है और उस की भोगलालसा और भी बढ़ जाती है (यो० २।१५) । मनुस्मृति में लिखा है कि जैसे घृत (घी) के डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, किन्तु अधिक प्रज्वलित होती है, वैसे सांसारिक पदार्थों के उपभोग से मनुष्य की कामना शान्त नहीं होती, किन्तु और भी बढ़ती है । मनुस्मृति का लेख यह है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्धते" (मनु० २ । ९४)।

अर्थ—सांसारिक विषयों (पदार्थों) की कामना, उनके भोगने से अर्थात् उनकी प्राप्ति से नहीं कभी निवृत्त होती । प्रत्युत, घृत से अग्नि की नाईं निश्चय बहुत से बहुत बढ़ती है ॥ ९४ ॥

जब महाराजा ययाति, विषयों को भोगते भोगते थक गया और इच्छा निवृत्त न हुई, तब उस ने अपने पुत्र पुरु से यह कहा—

"या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः, या न जीर्यति जीर्यताम् ।
तां तृष्णां संन्त्यजन् प्राज्ञः, सुखेनैवाभिपूर्यते" ॥ १ ॥

अर्थ—जो मलिनबुद्धि मनुष्यों से छूटनी कठिन है, जो शरीरों के जीर्ण होने पर भी नहीं जीर्ण होती है। उस तृष्णा को छोड़ता हुआ विमल बुद्धि-वाला मनुष्य निश्चय सुख से लबालब होता है ॥१॥
"भुक्खिया भुक्ख न उत्तरी" मन्त्र का आशय भी यही है कि सांसारिक पादार्थों के भूखों की भूख अर्थात् कामना (इच्छा), कभी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से नहीं निवृत्त होती, चाहे उन्हें पृथिवी-लोक से ले कर ब्रह्मलोक तक के सभी पदार्थ दे दिये जायें,किन्तु उस की निवृत्ति का एकमात्र उपाय सत्य ईश्वर के आधार(आश्रय)होना है।

जब मनुष्य सब आधारों(सहारों)को छोड़ कर अन्तरात्मा सत्य ईश्वर के आधार (सहारे) होता है, तब उसकी सांसारिक पदार्थों की कामना अपने आप मिट जाती है और वह उस सुख को पा लेता है, जिस से ऊंचा दूसरा कोई सुख नहीं है। वह सबसे ऊंचा सुख मनुष्य-मात्र को प्राप्त हो, यह मन में रखते हुए ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन से ऐसा कहा है—

"एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा, संस्तभ्य आत्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो !,कामरूपं दुरासदम्" (गी० ३ । ४३)।

अर्थ—इसप्रकार बुद्धि से परले आत्मा (सर्वान्तरात्मा) को जान कर और अपने आप से अपने आप को थाम कर हे-महाबाहु ! कामना-रूपी दुर्जेय शत्रु को मार ॥ ४३ ॥

जो लोग यह कहते हैं कि जिस को अनेक प्रकार के शास्त्रों का पूरा पूरा ज्ञान है और जो सांसारिक पदार्थों के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित है, लोक-व्यवहार में बड़ा कुशल है अर्थात् पदार्थों के संग्रह तथा भोगने में बड़ा निपुण है, उसको सत्य ईश्वर का आश्रय (आसरा) लेने की आवश्यकता क्या है ? उसका उत्तर है"सहस स्याणपा लख होय,त इक न चल्ले नाल"। यहां सुज्ञपणा के स्थान में'स्याणपा'उच्चारण हुआ है, जैसे ऋक्संहिता के मन्त्र में कुर्वाणा के स्थान में "क्राणा" (ऋ० १।५८।३)उच्चारण। नाल का अर्थ साथ और उस की धातु"णल" है। मनुष्य चाहे अनेक प्रकार के शास्त्रों का बड़ा ही भारी पण्डित हो, तथा अनेक प्रकार के पदार्थों के स्वभाव से पूरा पूरा परिचित हो,लोक-व्यवहार में बड़े से बड़ा चतुर हो,तो भी संसार के पदार्थ उस पर अपना प्रभाव डाले बिना और अपना अधिकार जमाये बिना नहीं रह सकते। वे, जब मनुष्य के पास आते हैं, तब अपने उत्कट सामर्थ्य को, अपनी अप्रतिहत शक्तियों को साथ लिये हुए आते हैं। मनुष्य अपने पाण्डित्य, पदार्थस्वभाव-परिचय और लोकव्यवहार-चातुर्य के भरोसे बे-परवाह हुआ रहता है और वे सने सने अपना अधिकार जमाते चले जाते हैं। वे, सब से पहले मनुष्य में प्रमाद, आलस्य और आसक्ति को उत्पन्न कर के उस के पाण्डित्य को, पदार्थस्वभाव के परिचय को और लोक-व्यवहार के चातुर्य को नष्ट करते हैं। जब वह(मनुष्य)पूरा पूरा प्रमादी,

आलसी और आसक्त हो जाता है, तब वे अवसर पा कर एक दिन ऐसा आक्रमण करते हैं कि मनुष्य उस का प्रतीकार न कर सकता हुआ एकदम चित हो जाता है। मनुष्यों में राजा पुरूरवा और देवताओं में अग्नि देवता, इस के उज्ज्वल उदाहरण हैं। शतपथ ब्राह्मण (११।५।१।१) में लिखा है कि एक दिन अपनी सखियों के साथ वन में भ्रमण करती हुई उर्वशी को पहचान कर व्याकुल हुए पुरूरवा ने यह कहा—

"हये जाये ! मनसा तिष्ठ घोरे !, वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्राः अनुदितासः एते, मयस्करन् परतरे चनाहन्"॥

अर्थ—हे जाया (स्त्री), हे मन की कठोर (सख्त)! खड़ी हो, ज़रा आपस की मिली हुई (सांझी) बातें, दोनों करें। इस समय हम दोनों की न कही हुई (न की हुई) आपस की बातें अगले से अगले दिन में भी न सुख करेंगी अर्थात् आपस में बातों के न करने का दुःख आगे कई दिनों तक रहेगा (ऋ० १०।९५।१)।

यहां उर्वशी का अन्तिम उत्तर भी सदा स्मरण रखने योग्य है—

"पुरूरवो ! मा मृथाः मा प्रपप्तो, मा त्वा वृकासो अशिवासः उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयानि एता"॥

अर्थ—हे पुरूरवा। न मर, न गिर और नहीं तुझे भयङ्कर भेडिये खायें। स्वैरिणी (वेश्या) स्त्रियां मित्र नहीं होती हैं, इन के हृदय निश्चय भेडियों के हृदय होते हैं (ऋ० १०।९५।१५)।

तैत्तिरीयसंहिता में अग्निदेवता के सम्बन्ध में यह लिखा है—

"देवासुराः संयत्ताः आसन्। ते देवाः विजयमुपयन्तोऽग्नौ वामं वसु संन्यदधत, इदम् उ नो भविष्यति, यदि नो जेष्यन्ति-इति। तद् अग्निः न्यकामयत। तेन अपाक्रमत। तद् देवाः विजित्य अवरुरुत्समानाः अन्वायन्। तद् अस्य सहसा आदित्सन्त, सोऽरोदीत्" (तै० सं० १।५।१)।

अर्थ—देवता और असुर, दोनों आपस में युद्ध करने के लिये तैयार हुए। विजय के लिये जाते हुए उन देवताओं ने अपना सबसे अच्छा धन (सुवर्ण) अग्नि देवता के पास इस ख्याल से धरोहड़

(इमानत) के तौर पर रखा कि यदि असुर हमें जीतेंगे, तो यह निश्चय हमारा होगा अर्थात् हमारे काम आयेगा। उस धन को अग्नि देवता ने बहुत चाहा अर्थात् अग्नि देवता के मन में उस धन का लोभ आ गया, वह उस के साथ अर्थात् उस को ले कर भागा। तब असुरों को जीत कर वापस आये देवता, उसे रोकना (पकड़ना) चाहते हुए पीछे दौड़े और इस से उस धन को बलात् लेना चाहा, तब वह (अग्नि देवता) रोया ॥ १ ॥

इन दोनों उदाहरणों का तात्पर्य यह है कि मनुष्य हो, अथवा देवता, जिसके पास ये सांसारिक पदार्थ आ जाते हैं, उसे वे अपनी उलझन में ऐसा उलझा लेते हैं,या यों कहो कि अपने जाल में ऐसा फांस लेते हैं कि वह फिर उनके जाल से निकलना चाहता हुआ भी नहीं निकल सकता। अब न उस की पण्डिताई काम देती है, न पदार्थों के स्वभाव का ज्ञान और नहीं दूसरी स्याणपां काम देती हैं। इधर लोभ और आसक्ति की मात्रा दिन प्रति दिन बड़े वेग से बढ़ती जाती है, आलस्य भी प्रतिक्षण अधिक होता जाता है,पूर्वोत्तर का स्मरण बिल्कुल नहीं रहता और बुद्धि (समझ)एक-दम नष्ट हो जाती है। अन्त में मनुष्य मनुष्यपण से गिर जाता है। बस यही मनुष्य का आत्मनाश है। इस आत्मनाश के समय,इस भारी विपदा के समय सब बन्धु उस से अलग हो जाते हैं और सब मित्र उस का साथ छोड़ देते हैं। अब उस के लिये एक ईश्वर के सिवा दूसरा कोई सहारा नहीं है, दूसरा कोई सहायक नहीं है। इसी आत्मनाश की स्थिति को प्राप्त हुए, इसी मुसीबत की हालत में पहुंचे हुए'उचथ'पिता और'ममता'माता के पुत्र"दीर्घतमा"ऋषि ने अपने इष्टदेवता अश्वियों से अर्थात् जगत् के पिता तथा माता द्युलोक और पृथिवीलोक के अन्तरात्मा ईश्वर से यह कहा है—

"उप-स्तुतिः औचथ्यम् उरुष्येत्,मा मामू इमे पतत्रिणी विदुग्धाम्। मा माम् एधो दशतयः चितो धाक्, प्र यद् वां बद्धः त्मनि खादति क्षाम्" (ऋ० १ । १५८ । ४)।

अर्थ—हे अश्वियो ! आपकी यह छोटी सी स्तुति, उचथ के पुत्र दीर्घतमा की रक्षा करे, ये लगातार उड़ने वाले अर्थात् आवर्तन-शील दिन और रात, मुझे न दोहें अर्थात् मेरा रुधिर न चूसें। और न

मुझे ये दंस प्रकार की चिंनी हुई (यथास्थन रखी हुई) इन्द्रिय-रूपी प्रज्वलित लंकड़ियां रात्रिन्दिवा जंलायें, जिसंलिये कामना अर्थात् एषणा (लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा) नाम की तीनों रस्सियों से शंरीर में सिर से पांव तक दृढ़ बँधा हुआ यह आंप का दीर्घतमा, पहले से ही खेह खांता अर्थात् दुःख के दिन काटता है ॥ ४ ॥

"सहस स्याणपा" मन्त्र का आशय भी यही है कि चाहे मनुष्य हजार-गुणा, चाहे लाख-गुणा, स्याणा (सुज्ञानः) हो, विपदा के समय बिना ईश्वर के आश्रय(शरण)के दूसरा कोई उस का आश्रय नहीं होता और नहीं उस का दुःख निवृत्त होता है ॥ २ ॥

तीसरा मन्त्र प्रश्नोत्तर-रूप है। आधे भाग में प्रश्न और आधे भाग में उत्तर है। प्रश्नभाग का पाठ है "किव सच्यारा होईये, किव कूडे तुट्टे पाल"। यहां कथं के अर्थ में "किव" उच्चारण हुआ है जैसे ऋक्संहिता के मन्त्र में कर्ता के अर्थ में "किर्"(ऋ० १०।५२।३) उच्चारण। सत्यवक्तार् का संक्षेप सच्यार, कूटे का उच्चारण 'कूडे' और त्रुट्येत का उच्चारण 'तुट्टे' है। पाल का अर्थ गति और उस की धातु "पल" है। यजुःसंहिता और ऋक्संहिता, दोनों में अनेक प्रश्नोत्तर-रूप मन्त्रवाक्य उच्चारण हुए हैं। उनमेंसे "किं स्विद् हिमस्य भेषजम्"= कौन है ठण्डी (सरदी) की ओषधि (यजु० २३।९), "अग्निः हिमस्य भेषजम्"=अग्नि है ठण्डी की ओषधि (यजु०२३।९)इत्यादि साधारण (मामूली) प्रश्न हैं और "किं स्विद् वनं, कः उ स वृक्षः आस"= कौन वह बन और कौन वह वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथवीलोक, दोनों घड़े ? (ऋ० १० । ८१ । ४) इत्यादि बहुत गम्भीर प्रश्न हैं। "किव सच्यारा" मन्त्र में प्रश्न दो और दोनों ही अत्यन्त गम्भीर हैं। गुरुमत में एक ईश्वर ही स्वरूप से सत्य है, उस के सिवा जो कुछ है, वह सब ईश्वर की सत्ता से सत्य होने पर भी स्वरूप से सत्य नहीं है, इसीलिये उस को कूट अर्थात् असत्य (झूठ) कहा है। जो मनुष्य सत्य ईश्वर का आश्रय लिये हुआ है, वही परमार्थ से सत्यवक्तार् (सत्यवादी) है। इसलिये सच्यार का वाच्यार्थ 'सत्य-वक्तार्' होने पर भी तात्पर्यार्थ 'सत्याधार' यहां विवक्षित है। "कूडे" में

एकार (ए) का अर्थ भी आधार है। आश्रय और आधार, दोनों पर्याय-शब्द हैं। पाल का अर्थ गति अर्थात् जन्ममरण की अविच्छिन्न-धारा है। जो मनुष्य सत्य ईश्वर का आश्रय छोड़ कर कूडे (झूठे) संसार के पदार्थों का आश्रय लेता हैं,उसके लिये सदा दुःख है,दुःख का हेतु जन्म-मरण की धारा है। जो सत्य ईश्वर का आश्रय लेता है, उस के जन्म मरण की धारा टूट जाती है, वह संसार में रहता हुआ भी सुखी है और आगे भी सुखी है। हम सत्य ईश्वर के आश्रय कैसे हों अर्थात् वह कौन आचरण है,जिस के करने से हम, सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर का आश्रय लिये हुए समझे जायें और हमारे जन्म-मरण की धारा हमेशा के लिये टूट जाये और अन्त में हमें वाहगुरु के सच-खण्ड में निवास प्राप्त हो?,यह उन दोनों प्रश्नों का स्वरूप है और यही मन्त्र के प्रश्नभाग का अर्थ है। उत्तरभाग का पाठ है "हुक्म रजाई चल्लुना,नानक लिखिआ नाल"। हुक्म का अर्थ शासन अर्थात् आज्ञा है। और यहां आज्ञा का पूर्वरूप इच्छा अभिप्रेत है। रज़ी का उच्चारण रजाई है, जैसे "पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाभायि" (तै० उ० ३।१०) मन्त्र में नाभि का "नाभायि" उच्चारण, अथवा "अग्निर्हि जानि" (ऋ० ८। ७।३६) मन्त्र में जनि का उच्चारण जानि है। रज़ी का अर्थ नित्यतृप्त अथवा सदा-सुप्रसन्न है। नित्यतृप्त सदा-सुप्रसन्न ईश्वर हमेशा मनुष्य के साथ है, अर्थात् अन्तर्यामी रूप से सदा मनुष्य के हृदय-देश में स्थित है, यह पहले ऋषियों ने लिखा है और यही नानक की दृष्टि अर्थात् नानक का दर्शन है। उस की आज्ञा अर्थात् इच्छा में चलना (अपनी इच्छा को उस की इच्छा से अलग न रखना) अर्थात् जो तेरी इच्छा, वही मेरी इच्छा, इस प्रकार उस की इच्छा में या यों कहो कि उस के भाणे में,सदा प्रसन्न रहते हुए कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करते रहना,दोनों का अर्थात् सच्यार होने और कूड का आश्रय पाये हुई जन्ममरण की धारा के टूटने का, उपाय है,यह मन्त्र के उत्तर-भाग का अर्थ है। सब जगत् अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर है और स्थावर जंगम,प्राणी अप्राणी,जो कुछ है,वह सब उस के शरीर का अङ्ग प्रत्यङ्ग है। जैसे मनुष्य का शरीर और उस के सब अङ्ग प्रत्यङ्ग, मनुष्य की इच्छा से चलते हैं, वैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-रूपी शरीर और

उस के अङ्ग प्रत्यङ्ग-रूपी जड चेतन सब पदार्थ भी, शरीरी ईश्वर की इच्छा से चलते हैं। वह जैसा उचित समझता है,वैसे सब को चलाता है। उस के चलाने से चलते हुए मनुष्यों की,उनके शरीरों और उनके मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की क्रिया, उस सूक्ष्मतम कीट के समान है,जो वेग से घूमते हुए लाट्टू के ऊपर अपनी खुराक की खोज में इधर उधर चल रहा है। उसे कुछ भी मालूम नहीं कि मैं चलता हुआ भी बलात् लाट्टू के साथ भमाया जा रहा हूं और मेरी अन्तिम दशा क्या होगी। सच-मुच मनुष्य का हाल भी यही है। जैसे लाट्टू का चलाने वाला,कीट की दृष्टी से परे है, वह उसे नहीं जानता और नहीं समझता कि मेरा और इस लाट्टू का चलाने वाला कोई और है,वैसे सब ब्रह्माण्ड का और उस के एक एक अङ्ग प्रत्यङ्ग रूपी पदार्थ-मात्र का चलाने वाला, तथा मनुष्य की बुद्धि और उस के मन तथा इन्द्रियों का चलाने वाला,मनुष्य की दृष्टि से परे है। वह उसे नहीं जानता और झूठा अभिमान करता है कि मैं अपनी बुद्धि, मन और इन्द्रियों का नियन्ता हूं। मैं ही उन का चलाने वाला हूं। वह नहीं समझता कि यदि मैं बुद्धि,मन और इन्द्रियों का नियन्ता तथा उन का चलाने वाला होता,तो जिस वस्तु का बुद्धि अथवा मन के सामने आना मैं नहीं चाहता, वह वस्तु बलात् मेरी बुद्धि या मन के सामने क्यों आती है,या यों कहो कि उस वस्तु की ओर मेरी बुद्धि और मेरा मन क्यों जाता है। यह एक रहस्य है,हर एक की समझ में नहीं आता। इसे समझने के लिये ही शिष्य ने गुरु से पूछा है—

"केन इषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केन इषितां वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति"।

अर्थ—हे गुरु ! किस का चाहा हुआ, किस का भेजा हुआ मन, इष्टानिष्ट विषयों (वस्तुओं) में जाता है ? किस की आज्ञा पाया हुआ मुख्य प्राण(श्वास,प्रश्वास)चलता है। किस से चाही हुई इस वाणी को बोलते हैं। और आंख तथा कान को कौन देव देखने तथा सुनने की आज्ञा देता है ? (के० उ० १।१)। वस्तुतः यह रहस्य गुरु की कृपा के विना समझ में नहीं आता। जब उद्दालक ने इस रहस्य को समझने के लिये याज्ञवल्क्य से पूछा, तो उस ने उसे अनेक पर्यायों (अनुवाकों) में समझाया। उन में से केवल तीन पर्याय नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः, यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः"।

अर्थ—जो सब प्राणियों के शरीरों में रहता हुआ, सब प्राणियों के शरीरों से अलग है, सब प्राणियों के शरीर जिस को नहीं जानते, सब प्राणियों के शरीर जिस का शरीर हैं, जो सब प्राणियों के शरीरों को अन्दर रह कर नियम में रखता अर्थात् जो सब प्राणियों के शरीरों का नियन्ता है, यह है हे-उद्दालक! तेरा पूछा हुआ अन्तर्यामी अमृत आत्मा (वृ० उ० ३ । ७ । १५)।

"यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरः, यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीरं, यो मनो अन्तरो यमयति, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"।

अर्थ—जो मन में रहता हुआ मन से अलग है, मन जिस को नहीं जानता, मन जिस का शरीर है, जो मन को अन्दर रह कर नियम में रखता अर्थात् जो मन का नियन्ता है, यह है हे-उद्दालक! तेरा पूछा हुआ अन्तर्यामी अमृत आत्मा (वृ० ३ । ७ । २०)।

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानाद् अन्तरः, यं विज्ञानं न वेद, यस्य विज्ञानं शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः" (वृ० उ० ३ । ७।२२)।

अर्थ—जो बुद्धि में रहता हुआ बुद्धि से अलग है, बुद्धि जिस को नही जानती, बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि को अन्दर रह कर नियम में रखता अर्थात् जो बुद्धि का नियन्ता है, यह है हे-उद्दालक! तेरा पूछा हुआ अन्तर्यामी अमृत आत्मा ॥ २२ ॥

जब सब जगत् (ब्रह्माण्ड) का अन्तरात्मा ईश्वर है, सब का नियन्ता तथा सब को नियम से चलाने वाला है और जैसा चलाना चाहता है, वैसा चलाता है, तब उस की इच्छा के अन्दर चलने में ही मनुष्य का कल्याण है, सब आश्रयों (सहारों) को छोड़ कर उस का आश्रय (सहारा) लेने में ही मनुष्य का श्रेय है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहा है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां, हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि, मायया" (गी० १८ । ६१)

अर्थ—हे अर्जुन ! प्रकृति-रूपी यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को अपनी माया (अद्भुत सामर्थ्य) से घुमाता हुआ (जन्म-मरण की धारा में बहाता हुआ) ईश्वर सब प्राणियों के हृदय देश में स्थित है॥६१॥

"तमेव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत! ।
तत्प्रसादात् परां शांतिं, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्"(गीता० १८।६२)।

अर्थ–हे भारत ! तू सब प्रकार से अर्थात् मन,वाणी और शरीर से निश्चय उस ईश्वर रूपी शरण(आश्रय)को प्राप्त हो । उस के अनुग्रह से परम शांति और सनातन धाम (सच्च खण्ड) को प्राप्त होगा ॥६२॥

जिस का मन शुद्ध है, एकाग्र है और ऐहिक तथा आमुष्मिक पदार्थों (विषयों) की तृष्णा (इच्छा) से रहित है, वह सब आश्रयों को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय होने का, अर्थात् एक ईश्वर में मन की निष्ठा (अचल स्थिति) वाला होने का, अथवा गुरुभाषा से यह कहो कि सच्यार होने का पूरा पूरा अधिकारी है । जो सच्यार है अर्थात् सब आश्रयों को छोड़ कर एक ईश्वर का आश्रय लिये हुआ है, अर्थात् ईश्वरनिष्ठ है, अथवा भगवद्गीता की परिभाषा से यह कहो कि ईश्वर-रूपी शरण (आश्रय) को प्राप्त है, वह घोर विपत्काल में भी अधीर नहीं होता, वह अपनी प्रकृति (स्वभाव) में पर्वत की नाईं सदा अचल और अडोल रहता है । वह यहां अपने जीने के दिनों को सुख से बिताता और अन्त में हमेशा के लिये मुक्ति-सुख को पाता है, यह "हुक्म रजाई" मन्त्र का अन्तराशय है ॥३॥१॥

देहशौचाद् भवेच्छौचं, शान्तिर्वा मौनसंश्रयात् ।
न जातु मनसो नृणां, तृप्तिर्वा कामसञ्चयात् ॥१॥
ईश्वरेच्छा ममेच्छेति, दृढं कृत्वा प्रवर्तते ।
कार्ये कर्मणि यो नित्यं, स सर्वः सुखमश्नुते ॥२॥

———

"ईश्वराज्ञापर्व" ॥२॥

"हुक्मी होवन आकार, हुक्म नें कहिया-जाई।
हुँक्मी होवन जीअ, हुंक्म मिले वडिआई ॥१॥ हुक्मी
उत्तम नीचें, हुक्मी लिखँ दुःख सुख पाईए। इकना
हुक्मी बखसीस; इक हुक्मी सदा भँवाईए ॥ २ ॥
हुक्मे अन्दर सब को, बाहर हुक्म नें कोएं।
नानक हुँक्मे जे बुझे, तँ हामै कहे नँ कोएं" ॥ ३ ॥ २ ॥

संस्कृतभाषानुवाद।

ईश्वरस्याज्ञया-एव आकाराः भोग्यपदार्थाकृतयो भवन्ति, सा तस्य आज्ञा (सङ्कल्पात्मिका वा, कामात्मिका वा, सृष्टिक्रियाहेतुः प्रयत्नविशेषो वा कश्चिद्, इति)विशिष्य नें कथयितुं शक्यते। तस्य आज्ञयैव जीवाः प्राणिनो भोक्तारो भवन्ति, तस्य आज्ञयैव तेषा वरिष्ठता श्रेष्ठता मिलति(सर्वेभ्यो भोग्यपदार्थेभ्यो भोक्तारः प्राणिनो जीवाः वरिष्ठाः श्रेष्ठाः प्रादुर्भवन्ति)॥१॥ तस्याज्ञयैव जीवानां तेषां ज्ञानशक्तेः क्रियाशक्तेश्चोत्कृष्टतमत्वाद् उत्तमाः मनुष्याः, तदपेक्षया हीनत्वात् च तस्याः शक्तेः नीचाः पश्वादयो बोभुवति। तस्याज्ञयैव ते सर्वे यथालिखितम् (अस्य कर्मणः फलं सुखम् ,अस्य कर्मणः फलं दुःखम्, इति कर्मप्रकृतिलेखन्या विधात्रा लिखितम्) सुखं दुःखं च स्वस्वकर्मफलं प्राप्नुवन्ति। तेषां मध्ये काँश्चिदेकान् सर्वात्मदर्शिनः कर्मयोगिनो भक्तान् ईश्वराज्ञया रातिः कर्मचक्राविनिर्मुक्तिलक्षणा दातिः मिलति प्राप्नोति, केचिदेके लोकार्थिनः सकामाः ईश्वराज्ञया कर्मचक्रे निबडं बद्धाः सर्वदा भ्राम्यन्ते ॥२॥ किं बहुना, यः कोऽपि भावोऽस्ति-भोग्यो वा, भोक्ता वा, सः सर्वः ईश्वराज्ञायाम् अन्तरे वर्तते, कोऽपि क्वचित् कदाचिद् ईश्वराज्ञातो बहिर्नास्ति।

यदि ईश्वराज्ञां बुध्येत, तदा कोऽपि अहमकार्षं, ममेदं कर्मेति न कथयेत्, इति नानकः पश्यति ॥३॥२॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर की आज्ञा से ही सब आकार अर्थात् भोग्य पदार्थ, उत्पन्न होते हैं, पर वह आज्ञा विशेषरूप से नहीं कही जा सकती अर्थात् वह इच्छा-रूप है, अथवा सङ्कल्प-रूप है, किंवा सृष्टिक्रिया का कारण कोई प्रयत्नविशेष है, इस प्रकार खोल कर आज्ञा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। ईश्वर की आज्ञा से ही भोक्ता जीव उत्पन्न होते हैं और ईश्वर की आज्ञा से ही उन्हें वडाई अर्थात् भोग्यपदार्थों की अपेक्षा वरिष्ठता (श्रेष्ठता) मिलती है ॥१॥ ईश्वर की आज्ञा से ही भोक्ता जीवों में भी मनुष्य उत्तम अर्थात् ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति से उत्कृष्टतम और पशु आदि सब नीच अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के न्यून होने से निकृष्टतम उत्पन्न होते हैं। ईश्वर की आज्ञा से ही वे सब जीव कर्म की प्रकृतिरूपी लेखनी से लिखे हुए विधाता के लेख के अनुसार, अपने अपने कर्म का फल सुख और दुःख पाते अर्थात् भोगते हैं। उन में से कई एक को ईश्वर की आज्ञा अर्थात् अनुग्रह दृष्टि से, संसार के जन्म-मरण-रूपी चक्र से मुक्ति की दात मिलती है और कई एक ईश्वर की आज्ञा से संसार के जन्म-मरण-रूपी चक्र में सदा भ्रमाये जाते हैं ॥२॥ सब कोई वस्तु ईश्वर की आज्ञा के अन्दर है, ईश्वर की आज्ञा से बाहर कोई भी वस्तु नहीं। यदि मनुष्य ईश्वर की आज्ञा को समझे अर्थात् सब कुछ करने वाली जाने, तो फिर कोई भी अहं मम(यह कर्म मैं ने किया,यह कर्म मेरा है) न कहे, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥३॥२॥

भाष्य–जो सच्यार है अर्थात् सब आश्रयों को छोड़ कर एक ईश्वर का आश्रय लिये हुआ है अथवा ऐसे कहो कि एक ईश्वर-रूपी शरण

को प्राप्त है, वह सदा उस की आज्ञा के अन्दर चलता अर्थात् उस की इच्छा को ही अपनी इच्छा बनाता है,या यों कहो कि उस के भाणे में सदा प्रसन्न रहता है और वस्तुमात्र में अन्तरात्मा रूप से एक ईश्वर को देखता हुआ यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धि से सब कर्मों को करता है, यह पहले पर्व में कहा गया । अब दूसरे पर्व में ईश्वर की आज्ञा का अर्थात् उस के अप्रतिहत शासन का महात्म्य कहा जाता है । इस दूसरे पर्व का नाम "ईश्वराज्ञापर्व" और मन्त्रों की संख्या तीन है । उन में से पहले मन्त्र का पहला चरण है"हुक्मी होवन आकार"।हुक्म से आगे तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति का लोप (लुक्) छान्दस है,जैसे ऋक्संहिता के "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (ऋ० १। १६४ ३९) मन्त्र में व्योमन् से आगे सप्तमी विभक्ति का । ई-निपात और अर्थ उस का अवधारण (ही) है । 'होवन' भूतक्रिया अभूवन् का रूपान्तर है और छान्दस होने से अर्थ वर्तमान क्रिया का होता है । आकृति का नामान्तर आकार है । आकृति शकल को कहते हैं । ईश्वर की आज्ञा से ही प्रथम भोग्य पदार्थों के आकार अर्थात् प्राणियों के भोग के योग्य(काम में लाने लायक)भूत, भौतिक सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, यह उस पहले चरण का अर्थ है । यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर की जिस आज्ञा से भूत,भौतिक सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उस का स्वरूप क्या है ? वह इच्छा-रूप है, अथवा सङ्कल्प-रूप है, या सृष्टिक्रिया का हेतु कोई प्रयत्न विशेष है,या स्वभाव विशेष है ? इस प्रश्न का उत्तर है"हुकम न कहिआ जाई" । ईश्वर का हुकम अर्थात् ईश्वर की आज्ञा इच्छारूप है, या सङ्कल्परूप है, या प्रयत्नरूप है,इस तरह खोल कर नहीं कही जा सकती,यह इस उत्तर-वाक्य का अर्थ है । ईश्वर का स्वरूप सर्वथा अगम्य है अर्थात् मनुष्य की इन्द्रियों के अगोचर (अविषय) है,या यों कहो कि मनुष्य की इन्द्रियों की पहुंच से परे है । वहां न मनुष्य का नेत्र पहुंच सकता है और नहीं मन पहुंच सकता है । इसलिये वाणी भी उस के स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकती । क्योंकि बाणी भी उसी वस्तु के स्वरूप का वर्णन कर सकती है,जो मनुष्य के नेत्र का अथवा मन का गोचर (विषय) या नेत्र अथवा मन की पहुंच के अन्दर है । ईश्वर का स्वरूप मनुष्य के मन, नेत्र और वाणी का अगोचर है, इसका वर्णन केनोपनिषद् के श्रुति-वाक्यों में बड़ी अच्छी तरह किया है । श्रुतिवाक्य ये हैं—

"यत् मनसा न मनुते, येन आहुः मनो मतम् । तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं यद् इदम् उपासते" (के० उ० १।५)।

अर्थ—जिस को मन से कोई नहीं समझता (समझ सकता) है, जिससे मन समझा हुआ अर्थात् समझने की शक्ति पाया हुआ कहते हैं। उस को ही तू ब्रह्म (ईश्वर) जान, न इस को,जिसे को मनुष्य यह अर्थात् मन का विषय, जानते अर्थात् समझते हैं ॥५॥

"यत् चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति । तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं, यद् इदमुपासते" (के० उ० १।६)।

अर्थ—जिस को नेत्र से कोई नहीं देखता अर्थात् देख सकता,है, जिस से नेत्र सब को देखते हैं। उस को ही तू ब्रह्म (ईश्वर) जान, न इस को, जिसको मनुष्य यह अर्थात् नेत्र का विषय, जानते हैं ॥६॥

"यद् वाचा अनभ्युदितं, येन वाग् अभ्युद्यते । तद् एव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं यद् इदमुपासते" (के० उ० १।४)।

अर्थ—जो वाणी से नहीं कहा जाता,जिस से वाणी कही जाती अर्थात् कहने वाली होती है। उस को ही तूं ब्रह्म (ईश्वर) जान, न इस को, जिसे को मनुष्य यह अर्थात् वाणी का विषय, जानते हैं ॥४॥

ईश्वर का स्वरूप नेत्र, मन और वाणी का अगोचर (अविषय) होने से उस की आज्ञा भी नेत्र,मन और वाणी का अगोचर है,वह कभी गोचर(विषय)नहीं हो सकती,क्योंकि जो धर्मी,नेत्र,मन और वाणी का अगोचर है,उस का धर्म सुतरां नेत्र,मन और वाणी का अगोचर है,यह नियम है। दूसरा—आज्ञा के समय अर्थात् जिस समय इस चराचर जगत् की उत्पत्ति की आज्ञा हुई, उस समय नेत्र, मन और वाणी का अस्तित्व नहीं था।वे अपने अनास्तित्व-काल में होने वाली आज्ञा को किसी प्रकार भी विषय नहीं कर सकते अर्थात् उस का विषय करना उन के लिये सर्वथा असम्भव है। तो भी आज्ञा के होने का निषेध नहीं किया जा सकता,क्योंकि यह दृश्यमान चराचर जगत् ही उस के होने में दृढ़-तर प्रमाण है। जैसे इस चराचर जगत् की अद्भुत रचना को देख अथवा सुन कर उस के रचयिता अर्थात् रचनाकर्ता,सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वर के होने का अनुमान होता है, वैसे इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की रचना

के लिये रचयिता ईश्वर की आज्ञा के होने का भी अनुमान होता है। यह मानना बहुत ही कठिन और साहस-मात्र है कि इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की रचना, सर्वज्ञ सर्वशक्ति रचयिता ईश्वर की आज्ञा के बिना हुई है। अनुमान और प्रत्यक्ष में बहुत बड़ा भेद है। प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु का सामान्य-रूप और विशेष-रूप, दोनों जाने जाते हैं, अर्थात् वस्तु है, यह भी जाना जाता है और वस्तु कैसी है, यह भी जाना जाता है। परन्तु अनुमान प्रमाण से वस्तु के दोनों रूप नहीं जाने जाते। उस से केवल वस्तु का सामान्यरूप अर्थात् वस्तु है, इतना ही जाना जाता है, विशेषरूप अर्थात् वस्तु कैसी है, यह नहीं जाना जाता। यही कारण है कि अनुमान प्रमाण से जानी हुई वस्तुओं में मनुष्यों को अपने भावों के भरने का और अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर उन सब वस्तुओं के स्वरूप, गुण तथा नामों की कल्पना करने का बहुत कुछ अवकाश मिल जाता है। वे अनुमान प्रमाण से जानी हुई वस्तुओं के स्वरूपों और उन के गुणों के कल्पना करने में जितना अपनी बुद्धि से काम लेते हैं, नामों की कल्पना करने में भी उतना ही काम लेते हैं। मनुष्यों की बुद्धि और उस की कल्पनाशक्ति बड़ी परिमित है, वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं तक नहीं पहुंच सकती और नहीं कुछ उन के सम्बन्ध में यथार्थ कल्पना कर सकती है। उस की जितनी कुछ भी कल्पना है, वह सब लोक-दृष्ट के आधार पर ही है, स्वतन्त्र कुछ भी नहीं। मनुष्य प्रतिदिन लोक में देखते हैं कि घट का बनाने वाला, घट के बनाने से पहले घट के बनाने की इच्छा करता है, अथवा घट के बनाने का सङ्कल्प करता किंवा प्रयत्न करता है। बस वे इसी लोकदृष्ट को अपनी बुद्धि की कल्पना का आधार बना कर इस चराचर जगत् के कर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर की आज्ञा के नामों की कल्पना करते हैं। कोई उसका नाम इच्छा कहता है, कोई सङ्कल्प और कोई प्रयत्न कहता है। ये सब नाम-भेद मनुष्यों की अपनी अपनी कल्पना है। उस चराचर जगत् के कर्ता सर्वज्ञ सर्व-शक्ति ईश्वर की आज्ञा सच-मुच इच्छारूप है, या सङ्कल्परूप है, अथवा प्रयत्नरूप है, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ईश्वर की आज्ञा के साथ मनुष्यों की अल्पबुद्धियों से उत्पन्न हुई क्षुद्र कल्पनाओं का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे ईश्वर का स्वरूप अचिन्त्य होने से कल्पनाओं की पहुंच से परे है, वैसे ईश्वर की आज्ञा भी अचिन्त्य होने

से कल्पनाओं की पहुंच से परे है। जो वस्तु बुद्धि की तथा बुद्धि की कल्पनाओं की पहुंच से परे है,निःसन्देह उस को खोल कर नहीं कहा जा सकता। "हुक्म न कहिया जाई" मन्त्र का आशय भी यही है।

ईश्वर की जिस आज्ञा से भूत तथा भौतिक,सब प्रकार के भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और जिस आज्ञा का स्वरूप खोल कर नहीं कहा जा सकता, ईश्वर की उसी आज्ञा से भोक्ता जीव भी उत्पन्न होते हैं, यह अब कहा जाता है"हुक्मी होवन जीअ"। यहां जीव का संक्षिप्त उच्चारण जीअ है, जैसे "अनया" का संक्षिप्त उच्चारण "अया" (ऋ० ४।४। १५) है। शेष सब पूर्ववत् है। ईश्वर की आज्ञा से ही जीव अर्थात् स्थावर जंगम, सब प्राणधारी भोक्ता जीव उत्पन्न होते हैं, यह मन्त्रवाक्य का अर्थ है। इस सारे ब्रह्माण्ड में अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में दो ही पदार्थ हैं—एक भोग्य और दूसरा भोक्ता। भोग्य पदार्थों की जननी का नाम अपरा-शक्ति और भोक्ता पदार्थों की जननी का नाम परा-शक्ति है। अपरा-शक्ति का दूसरा नाम भोग्यशक्ति और परा-शक्ति का दूसरा नाम भोक्तृशक्ति है। योगदर्शन की परिभाषा से भोग्यशक्ति को दर्शनशक्ति तथा दृश्यशक्ति और भोक्तृशक्ति को दृक्शक्ति तथा चितिशक्ति कहते हैं।ईश्वर की आज्ञा से,या यों कहो कि ईश्वर के सृष्टिसङ्कल्प से सब से पहले ये दोनों शक्तियां उत्पन्न अर्थात् प्रकट होती हैं। उन दोनों शक्तियों में से भोग्यशक्ति तीन धातुओं का अथवा तीन गुणों का सम्मिश्रण है। इसलिये उस को ऋक्संहिता के अनेक मन्त्रों म"त्रिधातु"(ऋ० १।१५४।४) कहा है। सांख्यशास्त्र-वाले उस भोग्यशक्ति को तीन गुणों की साम्यावस्था-रूप प्रकृति और सत्त्व, रज (रजस्) तथा तम (तमस्),उन तीनों गुणों के नाम कहते हैं। वेदान्तियों की परिभाषा में इस त्रिगुण प्रकृति का ही दूसरा नाम अव्यक्त और अव्याकृत है। जब तक ये तीनों गुण आपस में सम (बराबर) रहते हैं, तब तक प्रकृति से कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। जब ईश्वर के नियमानुसार उन तीनों गुणों में कुछ विषमता आती है, तब सब से पहले महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि-बुद्धि या ऋक्संहिता की परिभाषा से समष्टि-मन (ऋ० १०।१२९।४) उत्पन्न होता है। फिर महत्तत्त्व से अहङ्कार-नामी तत्त्व,अहङ्कार-नामी तत्त्व से चक्षु आदि ग्यारह इन्द्रिया

तथा पांच तन्मात्र नाम के पांच सूक्ष्म-भूत और सूक्ष्म भूतों से पृथिवी आदि पांच स्थूल भूत और फिर उन पांच स्थूल भूतों से अनेक प्रकार के जीवों के शरीर तथा उन के उपभोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। बस भोग्य शक्ति त्रिगुण प्रकृति का इतना ही परिवार अथवा विस्तार है। सांख्य-शास्त्र के एक सूत्र में भोक्ता पुरुष को मिला कर प्रकृति और प्रकृति के इस परिवार अथवा विस्तार का निरूपण इस प्रकार किया है—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतितो महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः, इति पञ्चविंशतिर्गणः" (सां० १।६१)।

अर्थ—सत्त्व (प्रकाश-शक्ति) रज (क्रिया-शक्ति) और तम (अवष्टम्भन अथवा अकर्षण-शक्ति), तीनों की साम्यावस्था (समता की दशा) का नाम प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार, अहङ्कार से तन्मात्र नाम के पांच सूक्ष्म भूत, तथा दोनों प्रकार की ग्यारह इन्द्रियां और पांच सूक्ष्म भूतों से पांच स्थूल भूत, ये चौवीस और पचीसवां भोक्ता पुरुष, ये पच्चीस पदार्थ हैं ॥६१॥

भोक्तृशक्ति पुरुष, वास्तव में चेतन वस्तु है और ईश्वर से भिन्न (अलग) नहीं है। केवल भोग्यशक्ति त्रिगुण प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियां और मन के सम्बन्ध से उसे (चेतन वस्तु को) भोक्तृशक्ति नाम से कहा जाता है। सांख्यशास्त्र की परिभाषा से भोक्तृशक्ति का ही दूसरा नाम पुरुष है। यह भोक्तृशक्ति पुरुष (आत्मा) शरीर, इन्द्रियां और मन के सम्बन्ध से जो जो कर्म करता है, उस का फल भोगने के लिये नये शरीर को ग्रहण करता और पुराने शरीर को छोड़ता है । बस यही उस का जन्म और मरण अथवा उत्पत्ति और विनाश है। भोक्तृशक्ति पुरुष की ही संज्ञा क्षेत्रज्ञ है। प्राणों के सम्बन्धसे उसीको जीव अथवा जीवात्मा कहते हैं। यह जीवात्मा क्षेत्रज्ञ वास्तव में ईश्वर ही है, केवल शरीरादि के सम्बन्ध से उस को भोक्तृशक्ति पुरुष, जीवात्मा अथवा क्षेत्रज्ञ कहते हैं, यह भृगु ने भरद्वाज से कहा है—

"आत्मा क्षेत्रज्ञः इत्युक्तः, संयुक्तः प्राकृतैः गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः, परमात्मेति उदाहृतः"(महा० शां० १८७।२४)।

अर्थ—प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियां और मन से संयुक्त हुआ (जुड़ा हुआ) आत्मा (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा, ऐसा कहां जाता है। और उन के सम्बन्ध से छूटा हुआ निश्चय परमात्मा, ऐसा कहा जाता है॥ २४ ॥

भोग्यशक्ति (त्रिगुण-प्रकृति) और भोक्तृशक्ति (जीवात्मा क्षेत्रज्ञ), दोनों सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न(प्रकट)होते हैं,यह प्रश्नोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है। श्रुतिवाक्य यह है—

"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपो अतप्यत। स तपस्तप्त्वा, स मिथुनम् उत्पादयते रयिं च प्राणं च, इति, एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः इति" (प्रश्नो० १।४)।

अर्थ—प्रजापति निश्चय प्रजा की इच्छा वाला हुआ। उस ने तप तपा। उस ने तप तप कर,उस ने यह विचार कर भोग्यशक्ति (त्रिगुण प्रकृति) और जीवनशक्ति अर्थात् भोक्तृशक्ति (जीवात्मा क्षेत्रज्ञ),इन दोनों का एक जोड़ा उत्पन्न किया कि यह जोड़ा मेरी अनेक प्रकार की प्रजायें उत्पन्न करेगा॥ ४॥ तैत्तिरीय-उपनिषद् के श्रुतिवाक्य से इस का स्पष्टीकरण और भी ठीक होजाता है। श्रुतिवाक्य यह है—

"सोऽकामयत—बहु स्यां प्रजायेय इति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किं च" (तै० उ० २।६)।

अर्थ—उस ने यह इच्छा की कि मैं बहुत होवूं,मैं प्रजारूप से प्रकट होवूं। उस ने तप तपा। उस ने तप तप कर यह सब उत्पन्न किया, जो कुछ भी अर्थात् भोक्ता, भोग्य, जो कुछ भी, यह है॥६॥

भोग्यशक्ति त्रिगुण प्रकृति के अनेक आकार हैं और भोक्तृशक्ति जीवात्मा क्षेत्रज्ञ के अनेक प्रकार हैं, इसलिये जपसंहिता के इन दोनों मन्त्रों में बहुवचन 'होवन' का प्रयोग किया है।

भोग्यशक्ति त्रिगुण प्रकृति के अनेक आकार और भोक्तृशक्ति जीवात्मा क्षेत्रज्ञ के अनेक प्रकार, ईश्वर की आज्ञा से अर्थात् ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न होते हैं,यह कहा गया। अब उन दोनों में भोक्तृशक्ति जीवात्मा क्षेत्रज्ञ वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है,यह कहा जाता है"हुकम मिले वडिआई"। ईश्वर की आज्ञा से भोग्य पदार्थों की अपेक्षा,भोक्ता जीवों को वरिष्ठता

मिलती अर्थात् श्रेष्ठता प्राप्त होती है, यह मन्त्रवाक्य का अर्थ है। ऋक्संहिता के सृष्टिसूक्त के मन्त्र में भी ऐसा ही कहा है। मन्त्र यह है—

"तिरश्चीनो विततो रश्मिः एषाम्, अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विदासीत्। रेतोधाः आसन् महिमानः आसन्, स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्" (ऋ० १०। १२९। ५)।

अर्थ—छिपा हुआ तागा (सद् ईश्वररूपी तन्तु) विस्तार को प्राप्त हुआ (सृष्टिसङ्कल्प से लम्बा हुआ), इन के अर्थात् उत्पन्न होने वाले वस्त्ररूपी जड़ चेतन सब पदार्थों के नीचे भी था (ताना भी था) और ऊपर भी था (वाना भी था)। उन में से कुछ बीज डालने वाले भोक्ता जीव हुए और कुछ उन के भोग्य हुए, इन दोनों पदार्थों में भोग्य निकृष्ट (नीचली श्रेणी में) है और प्रयत्नवाला भोक्ता जीव उत्कृष्ट (ऊपरली श्रेणी में) अर्थात् श्रेष्ठ है॥ ५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से गीता के सातवें अध्याय में ऐसा ही कहा है कि मेरी दो प्रकृतियां अर्थात् सृष्टि के निर्माण के लिये उत्पन्न(प्रकट)की हुई मेरी दो शक्तियां हैं—एक परा अर्थात् उत्कृष्ट(श्रेष्ठ) है और दूसरी अपरा अर्थात् निकृष्ट है। मैं इन अपनी दोनों प्रकृतियों से सम्पूर्ण जगत् को बनाता और फिर सब को लय करता हूं। मेरी परा प्रकृति जीव और अपरा प्रकृति त्रिगुण माया है, जिस के पृथिवी आदि आठ भेद हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन यह है—

"भूमिरापोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कारः इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा"॥ ४॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (ईथर), मन, बुद्धि और अहङ्कार, इस प्रकार निश्चय आठ प्रकार के भेदों वाली, यह मेरी प्रकृति है॥ ४॥

"अपरा इयम् इतस्तु अन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो !, यया इदं धार्यते जगत्"॥ ५॥

अर्थ—यह (आठ भेदों वाली) मेरी अपरा प्रकृति है, इस से भिन्न दूसरी निश्चय मेरी जीवात्मा रूपी परा प्रकृति को हे-महाबाहु ! तू जान, जिस ने यह सब जगत् धारण किया हुआ (थामा हुआ) है॥५॥

"एतद्योनीनि भूतानि, सर्वाणि इत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस्तथा" ॥ ६ ॥

अर्थ—इन दोनों कारणों वाले (इन दोनों प्रकृतियों से बने हुए) सब जड़ चेतन पदार्थ हैं।और मैं सब जगत् का(ज़ड़-चेतन,पदार्थमात्र का) उत्पन्न करने वाला तथा लय करने वाला हूं, यह जान॥ ६ ॥ १ ॥

भोग्य और भोक्ता, दोनों में भोक्ता (जीवात्मा क्षेत्रज्ञ) श्रेष्ठ और भोग्य निकृष्ट है, यह कहा गया। अब भोक्ता जीवों में भी मनुष्य उत्तम अर्थात् ऊँच है और पशु पक्षी आदि शेष सब उस की अपेक्षा अनुत्तम अर्थात् नीच हैं, यह कहा जाता है "हुक्मी उत्तम नीच"। अर्थात् ईश्वर की आज्ञा (इच्छा) से ही भोक्ता जीवों में मनुष्य उत्तम और शेष सब नीच उत्पन्न होते हैं। ऐतरेयोपनिषद् में यह लिखा है कि जब ईश्वर ने अपनी इच्छा से सब लोकों को और उन सब लोकों में अनेक प्रकार के भोग्य पदार्थों को उत्पन्न कर दिया, तब भोक्ता जीवों की उत्पत्ति से पहले भोग के साधन इन्द्रियों को उत्पन्न किया और उन्हें भूख तथा प्यास लगा दी अर्थात् उन में भोग्य पदार्थों के भोगने (ग्रहण करने) की तीव्र अभिलाष और उन के संग्रह की उत्कट इच्छा उत्पन्न कर दी। उन्हों ने भूख तथा प्यास से व्याकुल होकर ईश्वर से कहा—हमें कोई जगह दो, जहां रहकर हम कुछ खायें और पियें। ईश्वर ने आरम्भ से लेकर अनेक शरीर उन के सामने खडे किये। वे उन सब को देखकर प्रसन्न न हुए और नहीं प्रसन्नता से उन सब में रहना स्वीकार किया। तब उन के लिये पहले गौ का फिर घोड़े का शरीर लाया गया।उनको भी उन्होंने पसन्द न किया।तब मनुष्य शरीर लाया गया। उसको देखकर उन्हों ने कहा सुकृतं बत इति। पुरुषो वाव सुकृतम्" अर्थात् बड़ी खुशी की बात है,यह बहुत अच्छा बनाया गया है।निःसंदेह मनुष्य का शरीर बहुत अच्छा बनाया गया है (ऐ०उ० २।३)। निरुक्त के कर्ता यास्क मुनि ने मनुष्य-नाम का अर्थ"मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति" अर्थात् समझ कर कर्म करते हैं, इसलिये इन का नाम मनुष्य है, लिख कर दूसरा अर्थ यह लिखा है कि"मनस्यमानेन सृष्टाः इति मनुष्याः" अर्थात् मन-वाले होते हुए, या यों कहो कि एकाग्र मन वाले हुए

प्रजापति (ईश्वर) ने उत्पन्न किये अर्थात् बनाये हैं, इसलिये इनका नाम मनुष्य है (निरु० ३ । ७) । इस दूसरे अर्थ के लिखने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के बनाने के समय ईश्वर पूरा पूरा सावधान था और उस ने ठीक समझ सोच कर मनुष्य को बनाया है, इसलिये मनुष्य सब से श्रेष्ठ है। ऐतरेयोपनिषद् के लेख का आशय भी यही है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने यह अर्थ किया है कि प्रसन्नचित्त हुए प्रजापति ने मनुष्य को बनाया है, इसलिये मनुष्य दूसरे सब जीवों से श्रेष्ठ है।

ईश्वर की आज्ञा से सृष्टि के आरम्भ में सब से पहले भोग्य पदार्थ और पीछे भोक्ता जीवात्मा क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होते हैं और ईश्वर की आज्ञा से ही उन्हें सब प्रकार के भोग्य पदार्थों की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त होती है, तथा ईश्वर की आज्ञा से ही उन में भी मनुष्य उत्तम और पशु पक्षी आदि सब नीच उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया । अब नीच और उत्तम, सभी भोक्ता जीवों को अनादि कर्म-प्रकृति के लेखानुसार अपने अपने कर्मों का फल सुख तथा दुःख,ईश्वर की आज्ञा से प्राप्त होता है, यह कहा जाता है "हुक्मी लिख दुःख सुख पाई-ए"। ईश्वर की आज्ञा से ही भोक्ता जीवों को कर्म की प्रकृतिरूपी लेखनी से लिखे हुए विधाता के लेखानुसार अपने अपने कर्मों का फल सुख और दुःख प्राप्त होता है, यह उसका अर्थ है । प्रकृति, स्वभाव को कहते हैं। स्वभाव, निजधर्म अथवा कार्य करने की अपनी शक्ति, ये सब पर्याय शब्द हैं । हर एक वस्तु की प्रकृति अर्थात् कार्य करने की निज शक्ति, जैसे अलग अलग है, वैसे कर्मों की प्रकृति भी अलग अलग है । कर्मों के भेद अनगिनत होने पर भी सामान्यरूप से दो भेद हैं-एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ को पुण्य-कर्म और अशुभ को पाप-कर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकार का किया हुआ कर्म,नियम से सुख और दुःख-रूपी फल (कार्य) को उत्पन्न करता है । इसलिये कर्मरहस्य के जानने वाले विद्वान् सुख-दुःख-रूपी फल को उत्पन्न करना अर्थात् बनाना, कर्म का स्वभाव या कर्म की प्रकृति मानते हैं। इस कर्म का फल सुख है,इस कर्म का फल दुःख है, इस प्रकार हर एक कर्म के साथ उस के फल सुख और दुःख का सम्बन्ध अनादि-प्रकृतिसिद्ध होने से या यों कहो कि कर्म की प्रकृति-रूपी लेखनी से लिखा हुआ होने से प्रकृति का लेख कहा जाता है। कर्म की

प्रकृति, सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर की आज्ञा से ही ऐसी है, यह समझता हुआ प्रत्येक आस्तिक समाज, प्रकृति के लेख को ही विधाता (ईश्वर) का लेख अथवा अपने मस्तक का लेख कहता और मानता है। यह कर्म-प्रकृति का लेख, या यों कहो कि कर्म की प्रकृतिरूपी लेखनी से लिखा हुआ विधाता का लेख, सर्वथा अमिट है। वह (विधाता का लेख) कर्मों के फल सुख अथवा दुःख को भोगे विना कभी मिट नहीं सकता। इसी से स्मृतिकारों ने कहा है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१॥

अर्थ—न भोगा हुआ कर्म, सौ-करोड कल्पों में भी नहीं नष्ट होता अर्थात् नहीं मिटता है। मनुष्य को अपना किया हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म, अवश्य (जरूर) भोगना होगा ॥ १ ॥ महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने कर्म के सम्बन्ध में यह कहा है कि यदि कर्म का कर्त्ता, अपना किया हुआ कर्म, प्रकृति के लेखानुसार, कदाचित् कोई प्रतिबन्ध हो जाने से, आप न भोग सके, तो उस के पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों को भोगना होगा। भीष्म का कथन यह है—

"पापं कर्म कृतं किञ्चिद्, यदि तस्मिन् न दृश्यते ।
नृपते ! तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु" (महा० शां० १२९।२१) ।

अर्थ—हे राजन् ! किया हुआ कोई भी पाप कर्म यदि उस के कर्त्ता में फल का जनक नहीं देखा जाता है। तो उस के पुत्रों, पौत्रों तथा प्रपौत्रों में निःसन्देह वह फल का जनक होगा ॥ २१ ॥

महाभारत के अन्तर्गत पराशरगीता में लिखा है कि यदि कोई पाप कर्म पहले फल दे रहा है, तो पुण्य कर्म फल देने के लिये कुछ काल तक उस की प्रतीक्षा करता है और उस पाप कर्म के फल दे चुकने पर फल देना आरम्भ करता है। पराशर गीता का लेख यह है—

"कदाचित् सुकृतं तात !, कूटस्थमिव तिष्ठति ।
मज्जमानस्य संसारे, यावद् दुःखाद् विमुच्यते" (महा० शा० २९०।१७)।

अर्थ—हे तात! संसार में निमग्न मनुष्य का पुण्य कर्म, कदाचित् (कभी) अचल (पर्वत) की नांई अर्थात् चुप सा, तब तक खड़ा रहता है। जब तक वह (मनुष्य) पाप के फल दुःख को भोग कर छूटता अर्थात् पाप कर्म का फल दुःख,भोग नहीं लेता है। ॥१७॥

इन सब लेखों का आशय यही है कि मनुष्यों का किया हुआ कोई भी कर्म विना फल दिये नहीं नष्ट होता,तुरत अथवा कुछ काल पीछे उन्हें अपने किये हुए कर्मों का फल सुख अथवा दुःख अवश्य भोगना होता है। शुभ कर्म (पुण्य कर्म) का फल सुख और अशुभ कर्म(पाप कर्म) का फल दुःख सर्वशास्त्रसम्मत है और वह पशुओं तथा पक्षियों की नांई मनुष्य-मात्र को अनादि कर्म की प्रकृतिरूपी लेखनी से लिखे हुए विधाता के (ईश्वर)लेखानुसार उसकी आज्ञा से यथासमय प्राप्त होता है। यही "हुक्मी लिख दुःख सुख पाई-ए" मन्त्र का सार है और यही ठीक है। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर की आज्ञा से,कर्मप्रकृति के लेखानुसार हर एक मनुष्य को प्राप्त होने वाले सुख-दुःखरूपी फल की समाप्ति होती है,अथवा नहीं होतीहै। इसका उत्तर है "इकना हुक्मी वख़सीस, इक हुक्मी सदा भवाईए"। अर्थात् कई एक को ईश्वर की आज्ञा से संसार के जन्ममरण-रूपी चक्र से मुक्ति की,या यों कहो कि सुख दुःखरूपी फल की समाप्ति की दात मिलती है और कई एक,ईश्वर की आज्ञा से संसार के जन्ममरणरूपी चक्र में सदा के लिये घुमाये जाते हैं, यह इस उत्तरवाक्य का अर्थ है। शुभ और अशुभ भेद से कर्म दो प्रकार का है, यह पीछे कहा है। उन दोनों में से अशुभ कर्म लोकशास्त्र-निषिद्ध होने से हमेशा त्याग के योग्य है, अनुष्ठान के योग्य नहीं, इसीलिये सब विद्यायें पढ़ कर घर को वापस जाते हुए ब्रह्मचारी से गुरु ने कहा है—

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यानि अनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वया उपस्यानि, नो इतराणि" (तै० उ० १।११)।

अर्थ—तू माता-रूपी देवता-वाला हो अर्थात् माता तेरे लिये देवता हो, पिता-रूपी देवतावाला हो, गुरु-रूपी देवतावाला हो, अतिथिरूपी देवतावाला हो । जो कर्म लोकशास्त्रविहित होने से निर्दोष अर्थात् शुभ हैं, वे तुझे करने योग्य हैं, दूसरे (अशुभ) नहीं । जो हमारे अच्छे आचरण हैं, वे तुझे उपासने योग्य अर्थात् अनुष्ठान में लाने योग्य हैं, दूसरे नहीं ॥ ११ ॥

शुभ कर्मों के दो भेद हैं—सकाम और निष्काम । जो कर्म लोक अथवा परलोक के पदार्थों की कामना (इच्छा) से किये जाते हैं, उन को सकाम और जो बिना किसी कामना के केवल कर्तव्यबुद्धि से किये जाते हैं, उन को निष्काम कर्म कहते हैं । संसार के जन्ममरण रूपी चक्र की प्राप्ति, सकाम कर्मों का फल और संसार के जन्ममरणरूपी चक्र से सदा की मुक्ति, निष्काम कर्मों का फल है । मनु की परिभाषासे सकाम कर्मों का नाम प्रवृत्त-कर्म और निष्काम कर्मों का निवृत्त-कर्म नाम है । मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में प्रवृत्त-कर्म तथा निवृत्त-कर्म और उन के फल का वर्णन इस प्रकार किया है—

"प्रवृत्तं च निवृत्तं च, द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥८८॥
इह चामुत्र वा काम्यं, प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु, निवृत्तमुपदिश्यते" ॥ ८९ ॥

अर्थ—प्रवृत्त और निवृत्त निश्चय दो प्रकार का वैदिक कर्म है । इस लोक के और अथवा उस लोक के पदार्थों की कामना से किया हुआ कर्म प्रवृत्त कर्म कहा जाता है । और जो ज्ञानपूर्वक बिना कामना के किया जाता है, वह निवृत्त कर्म कहा जाता है ॥ ८९ ॥

"प्रवृत्तं कर्म संसेव्य, देवानाम् एति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानि अत्येति पञ्च वै" ॥ ९० ॥

अर्थ—प्रवृत्त कर्म को करके मनुष्य, देवताओं की तुल्यता को पाता है । और निवृत्त कर्म को करता हुआ निश्चय पांचों भूतों को उलांघ जाता अर्थात् जन्ममरण के चक्र से छूट जाता है ॥ ९० ॥ यहां यह क्रम जानना आवश्यक है कि निष्काम कर्मों के करने से मनुष्य

का मन (अन्तःकरण) शुद्ध (निर्मल) होता है। मन के शुद्ध होने पर मनुष्य पहले सब प्राणियों को आत्मा के तुल्य (अपने समान) देखता है, फिर ईश्वरके परम अनुग्रह (दया) से ईश्वरकी परा-भक्तिको लभता है। ईश्वर की पराभक्ति से उसे ईश्वर के वास्तव स्वरूप का साक्षात्काररूपी ज्ञान प्राप्त होता है और वह फिर कृतकृत्य हुआ यावदायु लोक-संग्रह-बुद्धि से कर्मों को करता और अन्त में ईश्वर के वास्तव स्वरूप में लीन हो जाता है। उसके सुख दुख का सिलसिला एकदम टूट जाता है और वह अब हमेशा के लिये जन्ममरण के चक्र से छूट जाता है। गीता के अठारवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही कहा है—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा, न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम्" ॥ ४ ॥

अर्थ—ब्रह्मरूप हुआ निर्मल मन वाला, न नष्ट वस्तु का शोक करता है, न अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। सब प्राणियों में सम हुआ सब से ऊंची मेरी भक्ति को लभता(पाता) है ॥ ५४ ॥

"भक्त्या मामभिजानाति, यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम्" ॥ ५४ ॥

अर्थ—उस भक्ति से मुझे वास्तवरूप से जानता है जितना मैं हूं और जो मैं हूं। और उस वास्तवरूप से मुझ को जान कर उस के पीछे अर्थात् प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने पर मुझ में मिल जाता है ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य सकाम हैं और इस लोक अथवा उस लोक के पदार्थों की कामना से कर्म करते हैं, वे अपनी कामना के अनुसार कर्म का फल भोगने के लिये संसार के जन्म-मरण-रूपी चक्र में सदा घुमाये जाते हैं और जो निष्काम हैं, वे संसार के जन्म-मरण रूपी चक्र से सदा के लिये छूट जाते हैं, यह मुण्डकोपनिषद् तथा ऋक्संहिता के श्रुतिवाक्य से भी स्पष्ट है। दोनों के श्रुतिवाक्य यह हैं—

"कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ते कामाः"।

अर्थ—जो पदार्थों की कामना करता अर्थात् पदार्थों की कामना से कर्मों को श्रेष्ठ मानता हुआ करता है, वह कामनाओं के अनुसार

वहां वहां जन्म लेता है। परन्तु समाप्त हो गई हैं कामनायें जिसकी और प्राप्त कर लिया है आत्मा को जिसने, उस की सब कामनायें यहां ही लीन (नष्ट) हो जाती हैं (मुं०उ० ३।२।२)।

"भूमिरसि ऋषिकृत् मर्त्यानाम्" अर्थात् तू निःसन्देह कर्मयोगी भक्तों को अपनी ओर और कामी मनुष्यों को संसार के जन्ममरण चक्र में भमाने वाला है और तू ही मनुष्यों को ऋषि बनाने वाला है। (ऋ०१।३१।१६)।

ऊपर जितने वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उन सब का भाव यही है कि जो ईश्वरभक्त हैं, सर्वात्मदर्शी हैं, सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करते हैं, वे ईश्वर की आज्ञा से संसार के जन्ममरण-रूपी चक्र से मुक्ति की दात पाते हैं और दूसरे अपनी अपनी कामनाओं के अनुसार संसार के जन्ममरणरूपी चक्र में सदा घुमाये जाते हैं। जपसंहिता के मन्त्र का भाव भी यही है और अनुवाद-मात्र से स्फुट है ॥ २ ॥

जैसे मनुष्यों के कर्मों का फल ईश्वर की आज्ञा के अन्दर है, वैसे उनका हर एक कर्म भी ईश्वर की आज्ञा के अन्दर है। इतना ही क्यों ? इस सारे ब्रह्माण्ड में अणु से अणु और महान् से महान्, जो कोई भी वस्तु है जड़ अथवा चेतन, भोग्य अथवा भोक्ता, वह सब और उस का हर एक कर्म, ईश्वर की आज्ञा के अन्दर है, यह अब कहा जाता है "हुक्मे अन्दर सब को, वाहर हुक्म न कोए"। अर्थात् ईश्वर के हुक्म यानी शासन (आज्ञा) के अन्दर सब कोई है, बाहर कोई भी नहीं। राजा जनक की सभा में गार्गी के पूछने पर याज्ञवल्क्य ने भी ऐसा ही कहा है। याज्ञवल्क्य का कथन यह है—

"एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्यः अन्याः नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतीच्यः अन्याः, यां यां च दिशमनु। एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति" (बृहदा० ३।८।९)।

अर्थ—इस ही अक्षर अर्थात् अविनाशी ईश्वर के प्रशासन अर्थात् अनिवार्य आज्ञा में हे–गार्गी ! सूर्य और चन्द्रमा, दोनों मर्यादा में बंधे हुए कर्तव्य कर्म के पालन में स्थित (तत्पर) हैं । इस ही अक्षर की अनिवार्य आज्ञा में हे-गार्गी ! द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनों मर्यादा में बंधे हुए कर्तव्य कर्म के पालन में स्थित हैं । इस ही अक्षर की अनिवार्य आज्ञा में हे-गार्गी ! पूर्व को जाने वाली गंगा, यमुना आदि दूसरी नदियां बर्फानी पहाड़ों से निकलती हैं । और पश्चिम को जाने वाली सिन्धु आदि दूसरी नदियां और जिस जिस दिशा को जो जो छोटी अथवा बड़ी नदियां जाती हैं, वे सब इस ही अक्षर की अनिवार्य आज्ञा से वर्फानी पहाड़ों से निकलती हैं । इस ही अक्षर की अनिवार्य आज्ञा में हे गार्गी ! सब लोग, दानी मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं ॥ ९ ॥

इसी का वर्णन कठोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में इस प्रकार किया है—

"भयाद् अस्य अग्निस्तपति, भयात् तपति सूर्यः ।
भयाद् इन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः" (कठो० २ । ६ । ३) ।

अर्थ—इस के भय से (इस के शासन के भय से) अग्नि तपता है, इस के भय से सूर्य तपता है । इस के भय से इन्द्र (बिजली) और वायु और पांचवां काल दौड़ता है ॥ ३ ॥

ऋक्संहिता के तीसरे मण्डल का द्रष्टा गाधि का पुत्र विश्वामित्र ऋषि है । उसने अपने नदीसंवाद-नाम के तेतीसवें ३३सूक्त में व्यास-शतुद्रू-नाम की नदियों के मुख से ईश्वर के अप्रतिहत शासन (अनिवार्य आज्ञा) का उद्घाटन इस प्रकार कराया है—

"इन्द्रो अस्मान् अरदद् वज्रबाहुः, अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवो अनयत् सविता सुपाणिः, तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः" ।

अर्थ—इन्द्र (ईश्वर) ने हमें चलाया है, जिस के हाथ में वज्र (तलवार) है और जिस ने हम नदियों के पानी को रोकने वाले वृत्र (मेघ) को मारा है । वह देवों का देव हमें लाया है, जो सब का उत्पन्न करने वाला और सुन्दर हाथों वाला है, उस के शासन (आज्ञा) में हम बड़े प्रवाह वाली चलती हैं (ऋ० ३।३३।६) ।

अब उपसंहार में पर्व का फलित अर्थ (निचोड़ अर्थ) कहा जाता है "नानक हुक्मे जे बुझे, त हौ मै कहे न कोए"। अर्थात् यदि मनुष्य ईश्वर की आज्ञा के महात्म्य को समझे और जाने कि जड़ अथवा चेतन, स्त्री अथवा पुरुष, सब का कर्म, उस की आज्ञा के अन्दर है, उस की आज्ञा के बाहर किसी का भी कर्म नहीं, तो वह, यह कर्म मैं ने किया है, यह कर्म मेरा है, ऐसा कभी न कहे। क्योंकि वह और उस का कर्म, दोनों, ईश्वर के चलाये हुए संसारचक्र के अन्दर होने से ईश्वर की आज्ञा के अन्दर हैं, बाहर नहीं। इसी अभिप्राय से कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में यह कहा है—

"एष हि एव एनं साधु कर्म कारयति, यमेभ्यो: लोकेभ्य: उन्निनीषते। एष हि एवं एनम् असाधु कर्म कारयति, यमेभ्यो लोकेभ्यो अधो निनीषते" अर्थात् यह ही निश्चय इस से शुभ कर्म कराता है, जिस को इन लोकों से ऊपर ले-जाना चाहता है। यह ही निश्चय इस से अशुभ कर्म कराता है, जिस को इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है (कौ० उ० ३ । ९) ।

हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह ईश्वर की आज्ञा के इस रहस्य को समझे और समझ कर फल की कामना के बिना केवल कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करे और उन कर्मों में अहन्ता तथा ममता न करे। क्योंकि एक तो वह व्यर्थ है, दूसरा कर्मों के फल की कामना और उन में अहन्ता तथा ममता के करने से मनुष्य कर्मों के जाल में फंस जाता है और उस का मन कामना के अनुसार फल के न मिलने से अथवा यथासमय प्राप्त न होने से एक-दम अशांत हो जाता है। निःसन्देह मन की अशांति का मूल कामना तथा अहन्ता और ममता है और शांति का मूल तीनों का त्याग है। जो समझदार इन तीनों को त्यागता है, वह सब प्रकार के सुख को लभता और परम शांति को प्राप्त होता है, यह "नानक हुक्मे जे बुझे" मन्त्र का आशय है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से ऐसा ही कहा है—

"विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः, स शान्तिमधिगच्छति" ।। (गी० २। ७०)

अर्थ—जो मनुष्य सब विषयों को अर्थात् विषयों में मन की आसक्ति को छोड़ कर फल की स्पृहा अर्थात् इच्छा (कामना) से रहित, ममता से रहित और अहन्ता से रहित हुआ केवल कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ७० ॥ ३ ॥ २ ॥

अहन्ता-ममते प्राहुः, कर्मसु कर्मयोगिनः ।
मूलं दुःखस्य सर्वस्य, तस्मादेते परित्यजेत् ॥१॥
प्राप्तं यत् तदुपासीत, नाप्राप्तं परिचिन्तयेत् ।
आज्ञायां वर्तते सर्वं, बुद्ध्वा सत्पाश्रयो भवेत ॥२॥

"ईश्वरगुणगानपर्व" ॥ ३ ॥

"गावे को ताण, होवे किसे ताण । गावे को दात जाने नीसान ॥ १ ॥ गावे को गुण वडिआई आचार । गावे को विद्या विषम वीचार ॥ २ ॥ गावे को साज करे तनु खेह । गावे को जीअ ले फिर देह ॥ ३ ॥ गावे को जापे दिस्से दूर । गावे को वेखे हादरा हदूर ॥ ४ ॥ कथना कथी न आवे तोट । कथ कथ कथी, कोटी कोट कोट ॥ ५ ॥ देदा दे लैदे थक पाह । जुगा जुगन्तर खाही खाह ॥ ६ ॥ हुकमी हुकम चलाये राह । नानक विगसे वेपरवाह" ॥ ७ ॥ ३ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

कश्चिद् (ऋषिः) अस्याज्ञापयितुरीश्वरस्यानुग्रहदृष्ट्यै जगद्विस्तार-कारणं बलं वीर्यं सामर्थ्यं गायति (कथयति), यावदस्य बलं वीर्यं, यस्य कस्य चिद् (ऋषेः) ज्ञातं भवति । कश्चित् तस्य दातिं रातिं गायति, स यावतीं निरवसानां तां जानाति ॥ १ ॥ कश्चित्

तस्य गुणान्,वरिष्ठतां, आचारम् आचरणं=कर्म,च गायति । कश्चित् तस्य लोकविचारतो विषमां विलक्षणां विद्यां ज्ञानं च गायति॥२॥ कश्चित् सर्ज सर्ज (स्रष्ट्वा स्रष्ट्वा) तदनु क्षयं लयं करोति, सृजति संहरति चेति गायति । कश्चिद् एकेभ्यो जीवेभ्यो लाति गृह्णाति, पुनर् अपरेभ्यो ददाति यच्छति, इति गायति ॥ ३ ॥ कश्चित् स्थूलदर्शिभिः ईश्वरो दूरे ज्ञायते, सूक्ष्मदर्शिभिश्चान्तिके दृश्यते, इति गायति (कथयति)। कश्चिदसौ सत्काराहों भूतं भविष्यत्, सूक्ष्मं स्थूलं, सर्वं वस्तु पुरतोऽवस्थितमवेक्षते पश्यतीति गायति ॥ ४ ॥ किं बहुना, कथिनां गायकानां कथनस्य गानस्य त्रुटिः अन्तो न विद्यते । कोटिशः कोटिशः पुनः कोटिशः कथिनः कथयितारो गातारः कथयित्वा कथयित्वा गच्छन्ति ॥ ५ ॥ अतिशयदाता जगदीश्वरस्तेभ्यो गानफलं प्रददाति यथायथं सम्प्रयच्छति, लातारो ग्रहीतारस्ते तद्दत्तं फलं युगेषु युगान्तरेषु चात्म-वंशानुवंशेषु खादित्वा खादित्वा स्थाकं श्रमं प्राप्नुवन्ति, हस्ताभ्यां मुखेन चालमलमिति वक्तारो भवन्ति ॥६॥ जगदीश्वरस्या-ज्ञापयितुराज्ञायां वर्तमानैः गाथकैस्तैः यथादेशं यथाकालं परस्परतो विलक्षणः पन्थाः,चालितः, सम्प्रदायः प्रवर्तितः। अकामो नित्यतृप्तो जगदीश्वरः पश्यन् इदं क्रीडनं पुत्राणां तेषां पितेव विकसति=हृष्यति, प्रसासत्तीति नानकः पश्यति ॥ ७ ॥ ३ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

कोई (ऋषि) इस आज्ञादाता जगदीश्वर की अनुग्रह-दृष्टि अर्थात् प्रसन्नता के लिये उस के बल को गाता अर्थात् कहता है, जितना कुछ उस का बल, जिस किसी (ऋषि)को ज्ञात है। कोई (ऋषि) उस की दात (बखशीश) को गाता अर्थात् कहता है, जितना कुछ वह, उस न-अन्तवाली को जानता है ॥१॥ कोई (ऋषि) उस के गुणों को, महत्ता को और आचार अर्थात् कर्म

को, गाता अर्थात् कहता है। कोई (ऋषि) उस की लोकें विचार से विषम अर्थात् विलक्षण विद्या (ज्ञान) को गाता अर्थात् कहता है ॥२॥ कोई (ऋषि) सृष्टि को बना कर पीछे उसे क्षय (नाश) करता अर्थात् ईश्वर सृष्टिकर्ता और लयकर्ता है, गाता है। कोई (ऋषि) कई जीवों (मनुष्यों) से लेता और फिर कईओं को देता है, गाता है ॥ ३ ॥ कोई (ऋषि) 'स्थूलदर्शी मनुष्य, ईश्वर को दूर रहता जानते हैं, और सूक्ष्मदर्शी उसे समीप देखते हैं, गाता है। कोई (ऋषि) वह महान् (सत्कार के योग्य) भूत् भविष्यत्, सूक्ष्म स्थूल, सब वस्तु सामने स्थित (मौजूद) देखता है, गाता है ॥ ४ ॥ इस प्रकार गाने वालों अर्थात् कथन करने वालों के कथन का तोटा अर्थात् अन्त नहीं है। अनेक प्रकार के कथन करने वाले, अनेक ऋषि, अनेक प्रकार से कह कह कर चले जाते हैं ॥ ५ ॥ अतिशय (अधिक से अधिक) दाता ईश्वर उन्हें कथन करने का अर्थात् कहने (गाने) का फल, इतना देता है कि वे उसे ले कर अपनी आयुओं में और अपने पुत्र पौत्रादि वंशजों की आयुओं में खाते खाते थक जाते हैं ॥ ६ ॥ उस आज्ञावाले ईश्वर की आज्ञा में (इच्छा में) चलते हुए उन गायक ऋषियों ने एक दूसरे से विलक्षण अनेक पन्थ चलाये अर्थात् अनेक सम्प्रदाय (आम्ताय) प्रवृत्त किये हैं। वह बेपरवाह उनके इस खेल को देख कर प्रसन्न होता है, यह नानक का दर्शन अर्थात नानक की दृष्टि है ॥७॥

भाष्य—जिस ईश्वर की आज्ञा अनिवार्य है, जड तथा चेतन अर्थात् भोग्य और भोक्ता, दोनों जिस की आज्ञा के अन्दर हैं, उस की प्रसन्नता में ही मनुष्य का कल्याण है। उसकी प्रसन्नता के लिये अर्थात् अनुग्रह-दृष्टि के लिये जैसे फल की कामना के बिना केवल कर्तव्यबुद्धि से कर्मों का करना परमावश्यक है, वैसे सांझ सुवेले (रे) उस के गुणों का

गान भी अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करता हुआ सांझ सुवेरे उस के गुणों का गान करता है,निःसन्देह ईश्वर उस पर प्रसन्न होता है और अपनी अनुग्रहदृष्टि करता है। ऋक्संहिता के मन्त्रों में इसके (ईश्वरीय गुणों के गाने के) सम्बन्ध में यह कहा है "इन्द्रम् अभि प्रगायत" अर्थात् परमैश्वर्यवान्, जगदीश्वर के सामने उस के गुणों को गाओ(ऋ० १।५।१)। "तस्मै इन्द्राय गायत" अर्थात् उस परमैश्वर्यवान् के लिये (उस परमैश्वर्यवान् ईश्वर की प्रसन्नता के लिये) उस के गुणों को गाओ (ऋ० १।४।१०)। श्रीमद्-भगवद् गीता में भी कहा है—

"सततं कीर्तयन्तो मां, यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या,नित्ययुक्ता उपासते" (गी० ९।१४)।

अर्थ—निरन्तर सांझ सुवेले मुझको अर्थात् मेरे गुणों को गाते हुए, शरीर, इन्द्रियों और मन को वश (काबू) में रखने का यत्न करते हुए तथा दृढ (अटूट) व्रतों वाले और सदा कर्मयोग में युक्त अर्थात् सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों के करने में लगे हुए, श्रद्धा और भक्ति से नमस्कार करते हुए मुझे उपासते अर्थात् मेरा ध्यान करते हैं ॥ १४ ॥ इसके सिवा ईश्वर के गुणों का गान सदाचार से भी प्राप्त है अर्थात् उन सब ऋषियों ने भी ईश्वर की प्रसन्नता के लिये उस के गुणों को गाया है, जो हमारे पूर्वज हैं और वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति और सदाचार से प्राप्त,सांझ सुवेरे ईश्वर के गुणों का गाना, सविस्तर वर्णन करने के लिये अब जपसंहिता का तीसरा पर्व आरम्भ होता है। इस पर्व का नाम " ईश्वरगुणगानपर्व" और मन्त्रों की संख्या सात है। उन में से पहले मन्त्र का पूर्वार्ध है "गावे को तान, होवे किसे तान"। जैसे 'संपत्स्यते' का "संपत्स्ये" (छां० उ० ६।१४।२) उच्चारण छान्दस है, वैसे 'गायते' का छान्दस उच्चारण "गाये" है। जैसे लोक-भाषा में 'जाये' की जगह कहीं 'जावे' उच्चारण होता है, वैसे यहां 'गाये' का पुनः उच्चारण "गावे" है। छन्द में परस्मैपद,आत्मनेपद और काल का कोई नियम नहीं है। 'भवेत्' का छान्दस उच्चारण "भुवे" है; जैसे

'भवति'का छान्दस उच्चारण"भुवानि"(ऋ० ७।८६।२)है। यहां भुवे का अपभ्रंश रूप"होवे"और अर्थ"है"है। जगद्विस्तार (जगद्रचना)के कारण बल का नाम यहां तान है। जिस ऋषि को ईश्वर के जगद्विस्तार अर्थात् सृष्टिरचना के हेतु बल का जितना कुछ ज्ञान है,वह उस की प्रसन्नता के लिये अर्थात् उस की अनुग्रह-दृष्टि के लिये उस के उतने ही उस बल को गाता है। यहां उचथ-पिता और ममता-माता का पुत्र दीर्घतमा ऋषि गानकर्ता अभिप्रेत है। उसका गानमन्त्र यह है—

"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं, यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायद् उत्तरं सधस्थं, विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः"॥

अर्थ—मैं अब विष्णु (सर्वत्र परिपूर्ण ईश्वर)के किन किन बलों को कहूं,जिसने पृथिवी के कण कण को मापा अर्थात् व्यापा हुआ है।जिसने सब से ऊंचे द्युलोक को सहित स्थानों के अर्थात् नक्षत्र (तारा) नामके असंख्यात सूर्यमण्डलों और उन के अनुयायी असंख्यात भूमिलोकों को थामा हुआ है,जो अपने एक पांव को अर्थात् चौथे हिस्से को वैश्वानर (विराट्) तैजस (हिरण्यगर्भ) और प्राज्ञ (ईश्वर) रूप से तीन प्रकार का करके इस स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रूप जगत् का मापने (व्यापने) वाला और बड़ी प्रशंसा वाला है (ऋ० १।१५४।१)।

"गावे को दात जाने नीसान"। यहां दाति का रूपान्तर'दात' है। दाति और राति, दोनों पर्याय शब्द हैं, सान का अर्थ अवसान अर्थात् अन्त है। यहां 'निर्-सान' (निः-सान) के स्थान में,जिस का अर्थ अन्त से रहित (निरवसान) है, नीसान उच्चारण हुआ है,जैसे 'दुर्-दभ' के स्थान में "दूळभ"(ऋ० २। २८। ८) उच्चारण। कोई ऋषि ईश्वर की अनुग्रह-दृष्टि (प्रसन्नता)के लिये उस की दात को गाता है,जितना कुछ वह उस न-अन्तवाली को जानता है। यहां कण्व का पुत्र मेधातिथि ऋषि गानकर्ता विवक्षित है। उस का गानमन्त्र यह है—

"नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्। नकिर्वक्ता न दादिति"।

अर्थ—इसकी शक्तियों (बलों) का, सच्ची और मीठी वाणियों का कोई नियन्ता (सीमाबद्ध करने वाला) नहीं है। नहीं कोई यह

कहने वाला है कि उसने मुझे नहीं दिया है (ऋ० ८ । ३२ । १५) । ईश्वर की दात के सम्बन्ध में अत्रि ऋषि का गानमन्त्र यह है—

"उरोष्टे इन्द्र ! राधसो, विभ्वी रातिः शतक्रतो ! ।
अधा नो विश्वचर्षणे !, द्युम्ना सुक्षत्र ! मंहय" (ऋ० ५।३८।१) ।

अर्थ—हे-परमैश्वर्यवान् ! हे अनन्तज्ञान ! तेरे (आप के) बडे धन की बड़ी दात है । हे-सब पर दृष्टि वाले ! हे-क्षत्रियों के क्षत्रिय ! अब हम को धन और यश, दोनों दे ॥१॥

सुचीक के पुत्र अग्नि ऋषि ने ईश्वर की दात का वर्णन इस प्रकार किया है—

"अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददाति, अग्निर् वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम् ।
अग्नी रोदसी विचरत् समञ्जन्, अग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम्" ॥

अर्थ—अग्नि (सब का अगुआ जगद्गुरु ईश्वर) युद्ध का जीतने वाला घोड़ा देता है, अग्नि, विद्वान् और कर्मनिष्ठ पुत्र देता है । अग्नि, द्युलोक और पृथिवी लोक, दोनों में अच्छी तरह प्रकट करता हुआ अर्थात् यशस्वी बनाता हुआ खूब खलाता अर्थात् अनेक प्रकार के भोग भुगाता है, अग्नि, वीरपुत्रों के जनने वाली और बडी बुद्धिवाली स्त्री देता है (ऋ० १० । ८० । १) ।

यहां कण्व के पुत्र विश्वमना का मन्त्र भी स्मरण रखने योग्य है—

"यस्यामितानि वीर्या, न राधः पर्येतवे ।
ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा" ॥ (ऋ० ८।२४।२१) ।

अर्थ—जिस के बल अपरिमित हैं, धन पार पाने के लिये नहीं है । दात सूर्य के प्रकाश की नांई सब को दबा लेती है ॥ २१ ॥

"गावे को गुण वडिआई आचार" । यहां आचार का अर्थ आचरण अर्थात् कर्म है । कोई ऋषि, ईश्वर की प्रसन्नता के लिये उस के गुणों को, कोई उस के बडप्पन को और कोई उस के कर्म को गाता है । गानकर्ता ऋषि अनेक हैं । उन में से 'मान' के पुत्र अगस्त्य ऋषि का गुणगान मन्त्र यह है—

"त्वं राजा इन्द्र ! ये च देवाः, रक्षा नृन् पाहि असुर ! त्वमस्मान् ।
त्वं सत्पतिः मघवा नस्तरुत्रः, त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः" ॥

अर्थ—हे-परमैश्वर्यवान् ! तू राजा है उन का, जो मनुष्य हैं और जो देवता हैं, हे-प्राणदाता ! तू अपने जनों की रक्षा करता है, तू हम सब की रक्षा कर । तू सच्चा स्वामी (सच्चा पादशाह) है, धनवान् है, हम सब को संसार सागर से तारने वाला है, तू तीनों कालों में रहने वाला, सब को अपने देश में स्वतन्त्रतापूर्वक बसाने वाला और बल का देने वाला है (ऋ० १ । १७४ । १) ।

अङ्गिरा के पुत्र सव्य ऋषि ने ईश्वर की प्रसन्नता के लिये उस के बडप्पन को इस प्रकार गाया है—

"त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः, ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिः भूः ।
विश्वम् आप्राः अन्तरिक्षं महित्वा, सत्यमद्धा नकिरन्यः त्वावान्" ॥

अर्थ—हे-परमैश्वर्यवान् ! तू पृथिवीलोक का प्रत्यक्ष मापने(जानने) वाला है, तू दर्शनीय वीरों (नक्षत्रों) वाले बडे द्युलोक का स्वामी है । तू ने सब आकाश को अपने महत्त्व से (बडप्पन से) भर दिया है, यह बिल्कुल सत्य है कि कोई तेरे जैसा दूसरा नहीं है (ऋ०१।५२।१३) ।

गाधि (गाथी) के पुत्र विश्वामित्र ऋषि ने ईश्वर की प्रसन्नता के लिये उस के कर्म का गान इस प्रकार किया है—

"इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि, व्रतानि देवाः न मिनन्ति विश्वे ।
दाधार यः पृथिवीं द्याम् उतेमां, जजान सूर्यम् उषसं सुदंसाः" ॥

अर्थ—परमैश्वर्यवान् ईश्वर के कर्मों को, जो पवित्र, बहुत और नियमबद्ध हैं, सब विद्वान् मिल कर भी नहीं जानते हैं । जिस ने इस पृथिवीलोक को और द्युलोक को उत्पन्न करके धारण किया हुआ (थामा हुआ) है और जिस अच्छे कर्मों(आचरणों)वाले ने सूर्य को ओर उषा को उत्पन्न किया है (ऋ० ३। ३२। ८) ।

"गावे को विद्या विषम वीचार" । जैसे ऋक्संहिता के मन्त्र में "जित" के स्थान में उच्चारण "जीत" (ऋ० ९।९६।४) है और तैत्तिरीय-उपनिषद् के श्रुतिवाक्य में 'शिक्षा' के स्थान में उच्चारण "शीक्षा"

(तै० ९ । १ । २) है वैसे यहां 'विचार' के स्थान में उच्चारण "वीचार" है। कोई ऋषि ईश्वर के लोक-विचार से विषम अर्थात् विलक्षण, ज्ञान (विद्या) को गाता है। यहां अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि गानकर्ता विवक्षित है। उस का गानमन्त्र यह है—

"वेदा यो वीनां पदम्, अन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः"।

अर्थ—जो जानता है आकाश के मार्ग से जाने(उड़ने)वाले पक्षियों के पांव अर्थात् खोज को। और जो समुद्र में रहता हुआ नौकाओं (जहाजों) के पांव (खोज) को जानता है (ऋ० १ । २५ । ७)।

"वेद वातस्य वर्तनिम्, उरोः ऋष्वस्य बृहतः। वेदा ये अध्यासते"॥

अर्थ—वह जानता है वायु के भूमि के चारों ओर घूमने को, जो (वायु) दूर तक फैली हुई है, दर्शनीय अर्थात् सुहावनी है और गुणों से बहुत बड़ी है। वह उन सब को जानता है, जो इस वायु की पहुंच से ऊपर सूर्यादि लोक और तारागण रहते हैं (ऋ० १।२५।९) ॥२॥

"गावे को साज करे तनु खेह"। यहां 'सर्ज का' भाषिक उच्चारण "साज" है, जैसे "दुर्धियः" का छान्दस उच्चारण "दूढ्यः" (ऋ०१।१०५।६), और "तदनु" का संक्षिप्त उच्चारण "तनु" है जैसे "नृपवत्" का संक्षिप्त उच्चारण "नृवत्" (ऋ० ७।२६।१), अथवा "उपशब्द" का संक्षिप्त उच्चारण "उपब्द" (ऋ० ७।१०४।१६) है। 'क्षय' का उच्चारण यहां "खेह" है, जैसे ऋक्संहिता के मन्त्र में "क्षयण" का उच्चारण "क्षोण" (ऋ१।११७।८) है। कोई ऋषि यह गाता है कि ईश्वर सृष्टि को करके (बना कर) तत्पश्चात् क्षय अर्थात् लय करता है। यहां अथर्वा ऋषि गानकर्ता अभिप्रेत है। उसका गानमन्त्र यह है—

"यद् एजति पतति यत् च तिष्ठति, प्राणद् अपानत् निमिषत् च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं, तत् सम्भूय भवति एकमेव" (अथर्व० १० । ८ । ११)।

अर्थ—जो सृष्टिकाल में वृक्ष हुआ कांपता है, पक्षी हुआ उड़ता है और जो पर्वत हुआ खड़ा है, जो सांस लेता हुआ, परसांस लेता हुआ और जो आंख झपकता हुआ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक रूपों से

विद्यमान (मौजूद) है। वही सब (अनेक) रूपों वाला, पृथिवी को अर्थात् पृथिवीलोक और द्युलोक को धारण किये हुआ (थामे हुआ) है, वही निश्चय प्रलयकाल में सब को इकट्ठा करके एक होता है॥११॥ वाजसनेयी संहिता के कर्ता यज्ञवल्क्य ऋषि का मन्त्र भी यहां पढ़ने योग्य है—

"वेनः तत् पश्यत् निहितं गुहा सद्,यत्र विश्वं भवति एकनीडम्। तस्मिन् इदं सं च वि च एति सर्वं सः ओतश्चं प्रोतश्चं विभूः प्रजासु" (यजु० ३२।८)।

अर्थ—विवेकी मनुष्य उस सद् ब्रह्म (ईश्वर) को देखता है, जो हृदय की गुफा में रहता है और जिस में सब जगत् अद्वितीय आश्रय-वाला हुआ विद्यमान है। उस में ही यह सब जगत्, प्रलयकाल में एक होता और उत्पत्तिकाल में फिर अनेक होता है,वह विभूति वाला (ऐश्वर्य वाला) जड़ चेतन सब प्रजाओं में (सब पदार्थों में) ताने बाने की नाईं निश्चय ओत और प्रोत है ॥८॥

"गावे को जीअ ले फिर देह"। जीव का संक्षिप्त उच्चारण पूर्ववत् जीअ है। कोई ऋषि यह गाता है कि ईश्वर कई जीवों से लेता और फिर कई जीवों को देता है। यहां रहूगण का पुत्र गोतम ऋषि,विशेष-रूप से, उदाहरण के योग्य है। उसका गानमन्त्र यह है—

"यो अर्यो मर्तभोजनं परादादाति दाशुषे । इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु, विभजा भूरि ते वसु,भक्षीय तव राधसः" (ऋ०१।८१।६)।

अर्थ—जो स्वामी दान देने वाले को,मनुष्यों के भोगने योग्य सब पदार्थ (सब वस्तुएं) दूर से ला कर अर्थात् दूसरे से ले कर देता है। वह परमैश्वर्यवान् हमें दे,हे-धनवान् ! तेरे पास बहुत धन है,उसे बांट, हम तेरे उस धन को भोगें ॥६॥

गाधि के पुत्र विश्वामित्र ऋषि का मन्त्र भी यहां पढ़ने योग्य हैं—

"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो, नाशिरं दुहे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो, नैचाशाखं मघवन् ! रन्धया नः ॥

अर्थ—हे इन्द्र (ईश्वर) ! म्लेच्छ देश में गौएं तेरा कौन काम

करती हैं, न कोई सोम में मिलाने के लिये दूध दोहता है, न यज्ञ में आहुति के लिये तपाता है। इस भारी कदर्य का वह धन हमारे लिये ला और हे-मघवन् ! इस नीचे ख्याल वाले को हमारे वश में कर अर्थात् अपना अनुयायी वना (ऋ० ३।५३।१४)।

इस लेन-देन के सम्बन्ध में ईश्वर का अपना स्वीकारमन्त्र यह है—

"अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः, अहं धनानि संजयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवो, अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्" ॥

अर्थ— मैं हूं सब से पहला धन का स्वामी (मालिक), मैं सनातन से सब धनों को वश में किये हुआ हूं। मुझे पिता की नांई सब प्राणी, पुकारते हैं, मैं दान देने वाले को भोगने के योग्य सब प्रकार का धन, देता हूं (ऋ० १० । ४८ । १) ॥३॥

"गावे को जापे दिस्से दूर"। कोई ऋषि यह गाता (कहता) है कि स्थूलदर्शी मनुष्य (अज्ञानी स्त्री पुरुष) ईश्वर को दूर जानते अर्थात् दूर समझते हैं और सूक्ष्मदर्शी (ज्ञानी) उस को अत्यन्त समीप अर्थात् अपने हृदय की गुफा में मौजूद देखते हैं। यहां अथर्वा के पुत्र दधीचि ऋषि का गानमन्त्र उदाहरण के योग्य है। मन्त्र यह है—

"तद् एजति तत् न एजति, तद् दूरे तद् उ अन्तिके। तद् अन्तर् अस्य सर्वस्य, तद् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः" (यजु० ४०।५)।

अर्थ—वह सब को कम्पाता है, वह आप नहीं कांपता है, वह स्थूलदर्शियों के लिये दूर में और वह सूक्ष्मदर्शियों के लिये समीप में है। वह इस सब जगत्के अन्दर और वह इस सब जगत्के बाहर है॥५॥

इसी के समान मुण्डकोपनिषद् का श्रुतिवाक्य इस प्रकार है—

"बृहत् च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं, सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च, पश्यत्सु इह एव निहितं गुहायाम्" (मुण्डको० ३।१।७)।

अर्थ—वह निःसन्देह बड़ा है, आश्चर्यरूप और अचिन्त्यस्वरूप है, वह निश्चय सूक्ष्म से अत्यन्त सूक्ष्म है और सब को प्रकाशता है। वह यहां ही रहा हुआ दूर से बहुत दूर और निकट से बहुत निकट है, वह देखने वालों के लिये यहां ही हृदयगुफा में स्थित है ॥ ७ ॥

"गावे को वेखे हादरा हदूर"। कोई ऋषि अपने मन्त्र में यह गाता है कि माननीय ईश्वर, भूत भविष्यत्, सूक्ष्म स्थूल, सब वस्तुओं को सामने स्थित देखता है। यहां अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि गानकर्ता विवक्षित है। उसका गानमन्त्र यह है—

"अतो विश्वानि अद्भुता चिकित्वान् अभिपश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा" (ऋ० १।२५।११)।

अर्थ—इसी से (सब प्रजाओं में अन्तर्यामीरूप से बैठा हुआ होने से) वह विद्वान्, अद्भुत तथा अनद्भुत सब वस्तुओं को, सामने स्थित देखता है। जो उत्पन्न हो चुकी हैं और जो उत्पन्न होने वाली हैं ॥११॥४॥

"हुक्मी हुक्म चलाये राह"। आज्ञादाता ईश्वर की आज्ञा में चलते हुए गानकर्ता ऋषियों ने अपने अपने अनेक मार्ग (पन्थ) चलाये हैं, यह ऋक्संहिता के मन्त्र से स्पष्ट है। मन्त्र यह है--
"इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः" अर्थात् यह (कर्म) अर्पण है उन ऋषियों को, जो हमारे पूर्वज हैं और जो उन से भी पहले हैं और अनेक पन्थों के चलाने वाले हैं (ऋ०१०।१४।१५)।

यहां प्रजापति के पुत्र 'यज्ञ' ऋषि का मन्त्र भी पढ़ने योग्य है—
"पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्" अर्थात् पहले ऋषियों के चलाये हुए पन्थ को देखकर बुद्धिमानों ने उसे ऐसा पकड़ा, जैसाकि रथ का चलाने वाला (सारथी) घोड़ों की रश्मियों को अर्थात् लगाम-नामी रस्सियों को पकड़ता है (ऋ०१०।१३०।७) ॥७॥३॥

अनन्ताः भुवनस्रष्टुः, दातिप्रभृतयो गुणाः।
गायं गायं परिश्रान्ताः, ऋषीणामखिलाः गणाः ॥१॥

दर्शं दर्शं गतो हर्षं, दातिं तेभ्यो ददौ विभुः।
सकुलं तेन ते तृप्ताः, जगुर्धन्यो महाप्रभुः ॥२॥

—०—०—

"अमृतवेलापर्व" ॥ ४ ॥

"साचा साहिब साच नाय, भाखिआ भाओ अपार ।
आखे मंगे देहं देहं, दात करे दातार ॥ १ ॥ फेर कि
अग्गे रखिये, जित दिस्से दरबार । मुहों कि बोलन
बोलिये, जित सुन धरे पिआर ॥ २ ॥ अमृतवेला सच्च
नाओ वडिआई वीचार । कर्मी आवे कप्पडा, नदरी
मोख दआर। नानक एवे जानिये, सब आपे सच्यार"॥३॥४॥

संकृस्तभाषानुवाद ।

स सत्यो यथार्थः स्वामी, तस्य सत्यं यथार्थं नाम, तस्य अपारा=पाररहिता, न काचन एका नियता, भाषा=वाणी, तस्य अपारः=पाररहितो, न क्वचिदेकत्रैव समाप्तो भावो अनुरागः स्नेहः प्रीतिः, किन्तु सर्वेषु पञ्चसु जनेषु तुल्या । यः कश्चित् महते याचते स्वामिनं तम्, आख्याति च अमुकं वस्तु देहि, अमुकं वस्तु देहि, स दाता दातिं कुरुते, यथाभिलाषं दत्ते ॥ १ ॥ यदीदृशः स्वामी, तदा किं कर्म अग्रे सम्मुखे प्रथमकर्तव्यतया प्रतिदिनं रक्षेम निदधाम, येतमेन कर्मणा तस्य दर्शनीयद्वारो लोको निलयो दृश्येत लभ्येत । मुखाच्च किं वचनम् उच्चारयेम, येतमं वचनं श्रुत्वा प्रीतिं स्नेहम् अनुरागम् अस्मासु धारयेत् पोषयेत् ? ॥२॥ अमृतवेलायां ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्रातरुत्थाय सत्यस्य तस्य स्वामिनो नाम त्रिरुच्चारयेत्, तदनु तस्य वरिष्ठतां महत्तां महिमानं विचारयेत चिन्तयेत। कर्मभ्यः पुण्यपापमिश्रितेभ्यः शरीररूपं कार्पासं वस्त्रम् अवाप्यते, अनुग्रहदृष्ट्या च स्वामिनस्तस्य, मोक्षस्य द्वारम् आत्मनो ज्ञानं लभ्यते, इति विचारयेत् । जानीत मनुष्याः!—एवमाचरन् सर्वः आत्मतः एव सत्येश्वरनिष्ठो भवन् सर्वमवाप्नोति, तत्प्रीतिं चात्मसु धारयति पोषयति

वर्धयति, तदनुग्रहदृष्ट्या चात्मनो ज्ञानं मोक्षस्य द्वारं लभमानस्तस्य दर्शनीयवारं लोकमपि लोकयति लभते, इति नानकः पश्यति ॥३॥

हिन्दीभाषानुवाद।

वह सच्चा अर्थात् यथार्थ स्वामी (मालिक) है, उस का नाम भी सच्चा अर्थात् यथार्थ है। उस की भाषा का पाँर नहीं, अर्थात् उस की भाषा कोई एक नियत नहीं, उस के अनुराग का अर्थात् प्राणिमात्र में स्नेह का, पाँर नहीं, अर्थात् उस का स्नेह (प्यार) किसी व्यक्तिविशेष में अथवा किसी जातिविशेष में बद्ध नहीं। जो कुछ कोई उस से मांगता है और कहता है मुझे अमुक वस्तु दे, मुझे अमुक वस्तु दे, वह दाता उस की दात करता अर्थात् वह वस्तु उसे देता है ॥ १ ॥ फिर कौन कर्म मुख्य-रूप से करने के लिये, सदा आँगे रखना चाहिये, जिस के करने से उस का दर्शनीय बार (दरवाजे) वाला लोक (घर) देखं पड़े अर्थात् प्राप्त हो ? और मुख से कौन वचन बोलना अर्थात् उच्चारण करना चाहिये, जिस को सुन कर वह हम में अपने अनुराग अर्थात् स्नेह (प्रीति) को धरे अर्थात् वढ़ाये ? ॥२॥ प्रभात वेले उठ कर उस सच्चे स्वामी का नाम तीन वार उच्चारण करे, फिर उस के बडप्पन का विचार अर्थात् चिन्तन करे। कर्मों से शरीर-रूपी कपडा अर्थात् देहरूपी वस्त्र, प्राप्त होता और उस की कृपादृष्टि से आत्म-ज्ञानरूपी मोक्ष का द्वार लभता (प्राप्त होता) है, चिन्तन करे। हे मनुष्यो ! जानो कि इस प्रकार आचरण करता हुआ सब कोई अपने आप ही सच्यार अर्थात् उस सच्चे स्वामी में मन की दृढ धारणा वाला हुआ सब कुछ पा लेता अर्थात् अपने ऊपर उस के प्रेम को वढा लेता और उस की अनुग्रहदृष्टि से मोक्ष के द्वार आत्मज्ञान को लभता हुआ उस के दर्शनीय बार वाले लोक अर्थात्

वासगृह को देख लेता अर्थात् प्राप्त कर लेता है,यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ।।३।।४।।

भाष्य–जैसे ईश्वर की अनुग्रहदृष्टि के लिये सांझ सुवेले उस के गुणों का गान अत्यन्त आवश्यक है, वैसे उषाकाल में अपने कर्तव्य-विशेष का चिन्तन भी परम-आवश्यक है । वह कर्तव्यविशेष और उस का चिन्तन,दोनों का निरूपण करने के लिये अब ज़पसंहिता का चौथा पर्व आरम्भ होता है । इस पर्व का नाम "अमृतवेलापर्व" और मन्त्रसंख्या तीन है।प्रभातवेला और अमृतवेला,दोनों समानार्थक पद हैं। वैदिकों की परिभाषा में अमृतवेला का ही दूसरा नाम उषाकाल तथा ब्राह्ममुहूर्त्त है । स्त्री हो अथवा पुरुष, युवा हो अथवा वृद्ध,सूर्योदय से पहले अमृत-वेला में जाग कर सच्यार होने अर्थात् एक सत्य ईश्वर के आधार (ईश्वरनिष्ठ) होने और उस के लोक सचखण्ड में पहुंचने के लिये जिस कर्तव्यविशेष का चिन्तन करना चाहिये,वह सब इस चौथे पर्व में कहा गया है । इस पर्व के पहले मन्त्र का पूर्वार्ध है "साचा साहिब साच नाय, भाखिया भाओ अपार"। पारसी-भाषा में प्रायः स्वामी को साहिब कहते हैं। नाम का उच्चारण नां और नां का उच्चारण 'नाय' है। कहीं नाम का उच्चारण नाओ तथा नाव भी होता है। भाषा का भाखिया (भाख्या) उच्चारण, यजुःसंहिता और सामयिक बोलचाल की दृष्टि तथा परिपाटी से हुआ है। यजुःसंहिता में मूर्धन्य 'ष' वर्ण का उच्चारण नियम से 'ख' और सामयिक बोलचाल में भाषा (भाखा) का उच्चारण प्रायः भाष्या (भाख्या) होता है । भाव का उच्चारण भाओ और अर्थ यहां प्रेम है। तीनों मन्त्रों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है।।३।।४।।

सत्यं नाम च रूपं च, स्वामिनस्तस्य विद्यते ।
गातव्यं ब्राह्मवेलायाम्, अमृतत्वस्य सिद्धये ।।१।।

दुर्लभो मानुषो देहः, पुण्यपुञ्जैरवाप्यते ।
म्रियतेऽविद्यया तत्र, विद्यया चामृतायते ।। २ ।।

———

"ईश्वरस्वरूपाख्यानपर्व" ॥ ५ ॥

"थाप्या न जाय, कीता न होए । आपे आप नि-रंजन सोए ॥ १ ॥ जिन सेविआ, तिन पाया मान । नानक गाविये गुणी निधान ॥ २ ॥ गाविये सुनिये मन रखिये भाओ । दुःख परहर सुख-घर ले जाय ॥ ३ ॥

गुरू मुख नादं गुरू मुख वेदं, गुरू मुख रहिआ समाई । गुरू ईसर गुरू गोरख बरमा, गुरू पार्वती माँ ई ॥ ४ ॥ जे हंओ जाना आखा नाहीं, कहना कथन न जाई । गुरा इक देह बुझाई, सभना जीआ का इक दाता, सो मै विसर न जाई" ॥ ५ ॥ ५ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

स स्थाप्यो न जायते,क्वचित् स्थापनार्हो न विद्यते, कस्मिन्-चिदेकस्मिन् स्थाने न वसति, स केन-चित् कृतो न भवति, केनचित् न क्रियते । स निरञ्जनो निर्मलः सर्वान्तरात्मा आत्मतः एव बोभोति, स्वतः एव बोभूयते ॥ १ ॥ ये तं निरञ्जनं सर्वान्त-रात्मानं सेवन्ते तदाज्ञामनुवर्तन्ते, ते मानं प्राप्नुवन्ति=तद्गृहे बहुशः सत्कारं विन्दन्ति । नानकः पश्यति भो—जनाः ! तं कल्याणगुणगणनिधिं गायत, कथयत ॥ २ ॥ न केवलं गायत, अपि च साधुसन्तेभ्यः, परस्परतो वा शृणुत, मनसि च भावं=भक्तिं रक्षत । दुःखं परिहृत्य सुखस्य गृहं तल्लोकं, स्वम् आत्मानं यथासुखं, प्रापयत ॥३॥ स एव गुरुः ईश्वरो, मुख्यो नादः प्रणवः=प्रणवार्थः, स एव गुरुः ईश्वरो, मुख्यो वेदो=वेदार्थः, स एव गुरुः ईश्वरो, मुख्योऽन्तरात्मा, सर्वस्मिन् वस्तुनि पदार्थमात्रे समा-हितो विद्यते । स एव गुरु ईश्वरो भूतेश्वरः शिवः, स एव गुरुः

ईश्वरो गोरक्षो विष्णुः, स एव ब्रह्मा प्राणिमात्रस्रष्टा, स एव गुरुः ईश्वरः पार्वती, लक्ष्मीः, सरस्वती ॥ ४ ॥ पश्यत जनाः ! अस्य सर्वान्तरात्मनो गुरोरीश्वरस्य यादृशं नैजं रूपं, तादृशं स एव जानाति, यदि कश्चिद् "अहं जाने" इति कथयेत्, तदाऽहम् आख्यामि, नहि स यथार्थं कथयति, यतः तस्य कथनम् अशक्य-विषयत्वाद् यथार्थं कथनं न युज्यते । गुरुणा उपदेष्ट्रा सर्वं ब्रह्माण्डम् एकस्य गुरोरीश्वरस्य देहोऽबोधि, सर्वेभ्यो जीवेभ्यः स एव एकः कर्मफलस्य दाता, स मे विस्मरणं न यायादिति भावो भावयितव्यः ॥ ५ ॥ ५ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

वह सच्चा स्वामी, किसी एक स्थान में स्थापना के योग्य नहीं है, अर्थात् किसी एक स्थानविशेष में नहीं रहता है, नहीं किसी का किया हुआ (बनाया हुआ) है । वह निरञ्जन (निर्मल) अपने आप सब जगह विद्यमान (मौजूद) है ॥१॥ जो उस की सेवा (भक्ति) करते अर्थात् उस की आज्ञा (भाणे) के अन्दर चलते हैं, वे उस के घर (सच्च-खण्ड) में मान (सत्कार) को पाते हैं। हे मनुष्यो ! उस मङ्गलरूप सम्पूर्ण गुणों के भण्डार को गावो अर्थात् सायं प्रातः बखानो, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ २ ॥ आप गावो, यथावकाश एक दूसरे से अथवा साधुओं और सन्तों से सुनो और मन में भाव अर्थात् भक्ति को रखो, इस प्रकार दुःखों को दूर कर के उस सुख के घर में अपने आप को पहुंचाओ ॥३॥ वही जगद्गुरु ईश्वर, मुख्य प्रणव (नाद) अर्थात् प्रणव का मुख्य अर्थ है, वही जगद्गुरु ईश्वर मुख्य वेद अर्थात् वेद का मुख्य अर्थ है, वही जगद्गुरु ईश्वर मुख्य अन्तरात्मा रूप से सब वस्तुओं में समाया हुआ है । वही

जगद्गुरु ईश्वर शिव, वही जगद्गुरु ईश्वर गोरक्ष अर्थात् विष्णु और ब्रह्मा है, वही जगद्गुरु ईश्वर पार्वती, लक्ष्मी और सरस्वती है ॥ ४ ॥ देखो मनुष्यो ! इस सर्वान्तरात्मा जगद्गुरु ईश्वर का जैसा अपना रूप है, वैसा वही जानता है, यदि कोई कहे कि मैं उसे जानता हूं, तो मैं तुम्हें कहता हूं-वह यथार्थ (ठीक) नहीं कहता है, उस का कथन, मन तथा वाणी की पहुंच से परे वस्तु के सम्बन्ध में होने से किसी प्रकार भी यथार्थ कथन होने के योग्य नहीं है । उपदेष्टा गुरु ने संपूर्ण (सारे) ब्रह्माण्ड को उस एक जगद्गुरु ईश्वर का देह (शररी) उपदेश किया अर्थात् कहा है, वही एक, सब मनुष्यों को कर्मों के फल का देने वाला है । वह मुझे कभी विस्मरण न हो जाये, अर्थात् न कभी भूले, यह भाव (ख्याल) हर एक को पक्का करना चाहिये ॥५॥५॥

भाष्य—सांझ सुवेरे जिस ईश्वर के गुणों का गान करना-चाहिये और सब आधारों (आश्रयों) को छोड़ कर जिस सत्य ईश्वर के आधार (आश्रय) होने या एक सत्य ईश्वर में निष्ठा-वाला होने के लिये उषाकाल में अर्थात् अमृतवेला में अपने कर्तव्य-विशेष का चिन्तन (विचार) करना आवश्यक है, उस का स्वरूप वर्णन करने के लिये अब जपसंहिता का पांचवां पर्व आरम्भ होता है । इस पर्व का नाम "ईश्वरस्वरूपाख्यानपर्व" और मन्त्रसंख्या पांच है । पहला मन्त्र है–

"थाप्या न जाय, कीता न होए । आपे आप निरंजन सोए" ।

स्थाप्यः का 'थाप्या' उच्चारण छान्दस है । छन्द (ऋषिदृष्ट वाणी-विशेष) में आदि अक्षर के अनुच्चारण और प्रथमा विभक्ति (सु) के स्थान में "सुपां सु-लुक्-पूर्वसवर्ण-आ-आत्" (अष्टा० ७ । १ । ३९) सूत्र से 'आ' करने पर " थाप्या " रूप बनता है । ऋक्संहिता में आदिवर्ण के अनुच्चारण के उदाहरण अनेक हैं । उन में से कण्व के पुत्र "सध्वंस" ऋषि का 'कधप्रिया' के स्थान में उच्चारण किया हुआ "अधप्रिया" (ऋ० ८ । ८ । ४) और कण्व के पुत्र सोभरि ऋषि का " निष्कर्ते "

के स्थान में उच्चारण किया हुआ "इष्कर्त" (ऋ० ८।२०।२६) विशेषरूप से ध्यान में रखने योग्य है। 'कृतः' का अपभ्रंश उच्चारण "कीता" है, जैसे 'किंजः' का अपभ्रंश उच्चारण "कीजः"(ऋ० ८।६६।३)। ईश्वर किसी एक स्थान में नहीं रहता, वह सब स्थानों में मौजूद है, किसी का किया हुआ (बनाया हुआ) नहीं अर्थात् स्वयंसिद्ध है और अपना आधार आप है, यह यजुःसंहिता के मन्त्र में कहा है। मन्त्र यह है-

"स पर्यगात् शुक्रम् अकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (यजु० ४०।८)।

अर्थ—वह सब जगह रहा हुआ है अर्थात् सब जगह मौजूद है, प्रकाशस्वरूप है, शरीर से रहित, व्रण (घाव) से रहित और नाडियों से रहित है, शुद्ध है अर्थात् रागद्वेष आदि मल से रहित है और पुण्य-पाप से न बींधा हुआ है अर्थात् पुण्य-पाप के सम्बन्ध से रहित है। दूरदर्शी है, बुद्धिवाला है, सब के ऊपर अर्थात् सब का अधिष्ठाता है, स्वयंसिद्ध है अर्थात् किसी दूसरे का किया हुआ(बनाया हुआ)नहीं है, उस ने भूत-भौतिक सब पदार्थों (वस्तुओं) को जैसा होना चाहिये, वैसा ही, अनादि वर्षों से बनाया (उत्पन्न किया) है ॥ ८ ॥

यहां श्वेताश्वतरोपनिषद् का मन्त्र भी स्मरण रखने योग्य है—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्" (श्वे० उ० ६।१९)।

अर्थ—वह निरवयव अर्थात् न किसी का किया हुआ है,अचल अर्थात् व्यापक है, निर्विकार, निर्दोष और निर्मल (उज्ज्वल) है। वह अमृत का श्रेष्ठ बंधा और जले हुए ईंधन-वाले निर्धूम अग्नि (अंगार) के समान प्रकाशमय है ॥ १९ ॥

'नानक गाविये गुणी निधान'। यहां ऋक्संहिता का यह मन्त्र(८।९८।१) पढने योग्य है।

"इन्द्राय साम गायत, विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे"।

अर्थ—हे मनुष्यो! तुम उस परमैश्वर्यवान् ईश्वर के लिये बृहत्

साम (बड़े गाने) को गाओ, जो सब से बड़ा (महान्) है, मेधावी है, विद्वान् (सर्वज्ञ) है, धर्म का प्रवर्तक है और पूजा के योग्य है ॥१॥

जो ईश्वर के गुण गाता तथा सुनता है, मन में श्रद्धा और भक्ति रखता है,उस की सन्तान के दुःसह दुःखानल को शान्त करने के लिये अपने आत्मा की आहुति दे-कर उस की सेवा करता है,वह निःसन्देह यहां सब प्रकार के दुःखों से रहित हुआ अभ्युदय सुख को प्राप्त होता है, यह ऋक्संहिता के मन्त्र में कहा है । मन्त्र यह है—

"स इद् जनेन स विशा स जन्मना,स पुत्रैः वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति,श्रद्धामनाः हविषा ब्रह्मणस्पतिम्"॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रद्धा से युक्त मन वाला हुआ, निज आत्मा की हवि (आहुति) से विद्वान् अविद्वान्, सब के माता-पिता, ब्रह्माण्ड के स्वामी ईश्वर की सेवा करता अर्थात् उस के पुत्रों के दुःसह दुःखाग्नि को शान्त करने के लिये अपने आत्मा की बलि देता है । वह निश्चय बन्धुजनों के सहित, वह समस्त प्रजा के सहित, वह वीर-पुत्रों की जन्म दात्री जाया के सहित, वह पुत्रों के सहित, तथा भृत्यों के सहित अन्न (खाद्य वस्तुओं) को और स्थावर जंगम धनों को धारण करता अर्थात् अन्नवाला और धनवाला होता है (ऋ० २।२६।३) ॥ ३ ॥

"गुरु मुख नादं गुरु मुख वेदं" । यहां सर्वत्र गुरु-शब्द का अर्थ जगद्गुरु ईश्वर विवक्षित है । जैसे गुरुशब्द का अर्थ उपदेष्टा, सर्व-सम्मत है, वैसे जगद्गुरु ईश्वर भी गुरुशब्द का अर्थ सर्वसम्मत है। योगदर्शन के कर्ता पतञ्जलि मुनि ने जगद्गुरु ईश्वर के अर्थ में गुरु-शब्द का प्रयोग किया है । पतञ्जलि मुनि का प्रयोगसूत्र यह है—

पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्" (यो० १ । २६) ।

अर्थ—वह काल से न अवच्छेद (अन्त) वाला अर्थात् अकाल होने से पहले गुरुओं का भी अर्थात् ब्रह्मा,विष्णु आदि का भी गुरु है॥२६॥ विश्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की स्तुति करते हुए अर्जुन ने भी भगवान् को गुरुओं का गुरु कथन किया (कहा) है—

"पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य,त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्ति अभ्यधिकःकुतोऽन्यः,लोकत्रयेऽपि अप्रतिमप्रभाव!"

अर्थ—हे अतुल प्रतापावले ! तू इस चराचर जगत् का पिता

है, तू पूज्य गुरु है और सब से बढ़ कर गुरु अर्थात् गुरुओं का गुरु है। तीनों लोकों में निःसन्देह दूसरा कोई तेरे बराबर नहीं है, अधिक कहां से होगा (गी० ११।४३)॥

मुख का अर्थ यहां मुख्य अर्थात् गौण का प्रतिद्वन्द्वी प्रधान है। नाद का नादं और वेद का वेदं उच्चारण भाषिक है, जैसे "विन्दते ब्रह्मम् एतद्"(श्वे०उ० १।९)"ब्रह्मम् एतु मां, मधुम् एतु माम्"(तै०आ०१०।४८) आदि मन्त्रों में ब्रह्म का ब्रह्मं और मधु का मधुं उच्चारण भाषिक है। ध्वनि का नाम नाद है। उस (नाद)के दो भेद हैं—एक आहत और दूसरा अनाहत। व्यक्त (वर्णरूप-शब्द) को आहत और अव्यक्त (शब्द-मात्र) को अनाहत कहते हैं। आंख, कान, नाक और मुंह को बन्द कर के शान्तिपूर्वक आसन जमा कर बैठने से अनाहत नाम का नाद सुनने में आता है। आहत नाद'ओम्' का नामान्तर है। मुंह और खुले हुए दोनों ओठों से जो 'ओ' की और ओठों को बन्द करने से जो 'म्' की ध्वनि सी निकलती हुई सुनाई देती है, उन्हीं दोनों ध्वनियों के मेल से'ओम्' बना है। महाभाष्य के कर्ता पतञ्जलि मुनिने"प्रणवष्टेः"(अष्टा०८।२।८९) सूत्र के भाष्य में'ओ और ओम्,दोनों का नाम प्रणव बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है। लेख यह है—

"पादस्य वाऽर्धर्चस्य वाऽन्त्यम् अक्षरम् उपसंहृत्य तदाद्यक्षर-स्थाने त्रिमात्रम् ओकारम् ओङ्कारं वा विदधाति, तं प्रणवमित्या-चक्षते" अर्थात् यज्ञ-कर्म में ऋत्विज नाम का कर्मकर जो मन्त्र के एक पाद को अथवा आधे मन्त्र को समाप्त कर के अन्त के व्यञ्जन वर्ण(अक्षर)के सहित स्वर-वर्ण के स्थान में जो तीन मात्रावाला अर्थात् प्लुत ओकार (ओ) अथवा ओङ्कार (ओम्) उच्चारण करता है, याज्ञकों की परिभाषा (बोली) में उस को प्रणव, इस नाम से कहते हैं॥८९॥ ऋक्संहिता के मन्त्रों (ऋ० १।१०४।१) (ऋ०१०।१०।१) में 'ओ'का और यजुःसंहिता के अन्तले उपनिषद्ध्याय (४०।१५) में"ओम्" का प्रयोग मिलता है। ऋक्संहिता के ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है कि अ, उ और म्, तीनों के मेल से ओम् बना है। उसका लेख यह है—

"प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्याम् इति। स तपोऽ-

तप्यत । स तपस्तप्त्वा इमान् लोकान् असृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम् । तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींषि आजयन्त अग्निरेव पृथिव्याः, वायुरन्तरिक्षाद्, आदित्यो दिवः । तेभ्यः त्रयो वेदाः अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोः यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः । तेभ्यस्त्रीणि शुक्राणि अजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदात्, भुवः इति यजुर्वेदात्, स्वः इति सामवेदात् । तेभ्यस्त्रयो वर्णाः अजायन्त—अकारः उकारो मकार इति । तान् एकधा समभरत्, तदेतद् ओम् इति" (ए० ब्रा० २५ । ७) ।

अर्थ—प्रजापति ने यह इच्छा की कि मैं प्रकट होवूं और बहुत से बहुत होवूं । उसने तप तपा । उसने तप तप कर पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक को उत्पन्न किया । उन तीन लोकों से तीन ज्योतियां (अद्भुत वस्तु) उत्पन्न हुई, पृथिवीलोक से अग्नि, अन्तरिक्षलोक से वायु और द्युलोक से सूर्य । इन तीनों ज्योतियों से तीन वेद उत्पन्न हुए-अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेद । उन तीनों वेदों से तीन सारभूत शब्द उत्पन्न हुए-भूः, बस यह ऋग्वेद से, भुवः, यह यजुर्वेदसे, स्वः, यह सामवेदसे । इन तीनों शब्दोंसे तीन वर्ण उत्पन्न हुए-अकार, उकार और मकार । उसने उन तीनों वर्णोंको एक प्रकार से अर्थात् उत्पत्तिक्रम से इकट्ठा किया, बस वह यह ओम् है ॥७॥ दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थों के लेख भी ऐसे ही हैं और मनुस्मृति (२।७६) में भी ऐसा ही लिखा है । उपनिषदों के कर्ता ऋषियों ने ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर अ, उ, म् के अनेक यादृच्छिक अर्थ करके ओम्-नाम के अर्थ को बहुत ही गौरवान्वित किया है । कोषकारों ने भी ओम् के अङ्गीकार, अर्धाङ्गीकार, उपक्रम, मङ्गल, ईश्वर आदि अनेक अर्थ लिखे हैं । पर सब का मत एक-स्वर से यही है कि व्यस्त और समस्त-रूप से ओम् के अनेक अर्थ होने पर भी उसका मुख्य अर्थ एक ईश्वर ही है । "गुरु मुख नादं" का अर्थ भी यही है कि जगद्गुरु ईश्वर ही मुख्य नाद (ओम्) अर्थात् नाद (ओम्) का मुख्य अर्थ है । गुरु मुख नादं के तुल्य ही 'गुरु मुख वेदं' का अर्थ है । अर्थात् जगद्गुरु ईश्वर ही मुख्य वेद अर्थात् वेद का मुख्य अर्थ है । प्रकृति और प्रकृति के कार्यों से लेकर ईश्वर तक जितने जानने-योग्य पदार्थ (वस्तु) हैं, उन सब का प्रतिपादन (जनाना) वेद में किया है ।

परन्तु वे सब गौणरूप से वेद के प्रतिपाद्य (जनाने योग्य) अर्थ हैं, मुख्य रूपसे प्रतिपाद्य अर्थ नहीं, वेद का मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ केवल एक ईश्वर है, और उसके प्रतिपादन में ही वेद का प्रधान प्रयत्न है। इसीवास्ते स्वयं भगवान् वेद ने यह कहा है—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तद् विदुः, ते इमे समासते"

अर्थ—ऋचा-नाम के सब मन्त्र (सम्पूर्ण ऋग्वेद) सब से ऊंचे अविनाशी व्यापक ब्रह्म (ईश्वर) में जा कर ठहरते हैं, जिस ब्रह्म में प्रकृति और प्रकृति के कार्य अग्नि, वायु, सूर्य आदि सब दिव्य पदार्थ (अद्भुत वस्तु) ठहरे हुए हैं। जो उसे नहीं जानता, वह ऋचाओं से अर्थात् वेदमन्त्रों (वेदों) के पढने से क्या प्राप्त करेगा, अर्थात् उस का पढ़ना निष्फल है, जो निश्चय उसको जानते हैं, वे ये बैठ जाते अर्थात् संसार के जन्ममरणरूपी चक्र से (यातायात से) छूट कर सदा के लिये विश्राम पाते हैं (ऋ० १। १६४। ३९)।

कठोपनिषद् का श्रुतिवाक्य भी यहां पढ़ने योग्य है—

"सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"।

अर्थ—सब वेद, जिस पद (प्राप्त करने-योग्य वस्तु) को कहते हैं, और तपस्वियों के सब तप जिस पद को बोलते अर्थात् अपना लक्ष्य सूचन करते हैं। और जिस पद के पाने की इच्छा करते हुए जिज्ञासु-जन यथाविधि गुरु के समीप ब्रह्मचर्य-वास करते हैं वह पद मैं तुझे संक्षेप से कहता हूं, बस यह ओम् अर्थात् ईश्वर है (१। १५)। वेदान्तसूत्रों के कर्ता बादरायणाचार्य ने भी यही कहा है, कि सब वेदों का मुख्य अर्थ एक ईश्वर है और उस के प्रतिपादन में ही सब वेदों का तात्पर्य है। उसका सूत्र यह है— "तत्तु समन्वयात्" अर्थात् सब वेदों (श्रुतिवाक्यों) का एक ब्रह्म (ईश्वर) के प्रतिपादन में तात्पर्यरूपी सम्बन्ध होने से वह ब्रह्म ही सब वेदों का मुख्य अर्थ है (वे० १।१।४)। "गुरुमुख रहिआ समाई"। जगद्गुरु ईश्वर ही मुख्य अन्तरात्मा-रूप से सब में समाया हुआ है, यह कठोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्"।

अर्थ—जो वह अकेला सब को वश में रखने वाला और प्राणी अप्राणी सब भूतों का अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप को बहुत प्रकार से करता अर्थात् अनेकरूप बनाता है, उसको अपने शरीर में स्थित जो बुद्धिमान् देखते हैं, उनको सदा रहने वाला सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं (२। १२)।

यजुःसंहिता के इकतीसवें अध्याय का उन्नीसवां मन्त्र भी यहां पढ़ने योग्य है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्, अजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः, तस्मिन् ह तस्थुः भुवनानि विश्वा"।

अर्थ—प्रजा का स्वामी, सब पदार्थों के मध्य म अन्दर अन्तरात्मा-रूप से वर्तमान है और न उत्पन्न होता हुआ अनेकप्रकार के रूपों से उत्पन्न(प्रकट)होता है। उस के अनेक रूपों से उत्पन्न होने के कारण को बुद्धिमान् जानते हैं, उस में ही जड़ चेतन सब पदार्थ स्थित हैं॥१९॥४॥

"गुरा इक देह बुझाई"। उपदेष्टा गुरु ने सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड को एक ईश्वर का शरीर (देह) उपदेश किया है। उस के उपदेश किये हुए इस ब्रह्माण्डरूपी शरीर में सिर आदि अङ्गों की कल्पना अथर्वसंहिता के नमस्कारमन्त्रों में इस प्रकार की है—

"यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्ववे० १०।७।३२)।

अर्थ—जिस के पांव पृथिवी और जिस का पेट अर्थात् मध्य-भाग अन्तरिक्ष है। जिस ने द्युलोक को अपना सिर बनाया है, उस सब से बडे ब्रह्म (ईश्वर) को नमस्कार है॥३२॥

"यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्रे आस्यं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व० १०।७।३३)।

अर्थ—सूर्य और बार बार नया उदय होने वाला चन्द्रमा, जिसकी आंख हैं। जिस ने अग्नि को अपना मुंह बनाया है, उस सब से बडे ब्रह्म (ईश्वर) को नमस्कार है॥३३॥

मुण्डकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में जो ईश्वर के सिर आदि अङ्गों की कल्पना की है, वह अथर्वसंहिता की कल्पना से कुछ विलक्षण है। उस का स्वरूप एवंरूप है।

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा"।

अर्थ—इस (ईश्वर) का सिर द्युलोक, आंखें सूर्य और चांद, कान दिशायें और मनुष्यमात्र के लिये खुले वेद इस की वाणी है। वायु प्राण, विश्व (सब प्राणी) हृदय और पृथिवी पांव है, यह निःसन्देह प्राणी अप्राणी सब भूतों का अन्तरात्मा है (२।१।४)।

"सभना जीआ का इक दाता"। सर्वान्तरात्मा ईश्वर, सब को कर्मों का फल देता है, यह श्वेताश्वतरोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"(३।११)।

अर्थ—वह देवों का देव ईश्वर एक है, प्राणी अप्राणी सब भूतों में छिपा हुआ है, सब जगह रहने वाला और सब भूतों का अन्तरात्मा है। वह सब के कर्मों पर दृष्टि रखने वाला अर्थात् कर्मफल का देने वाला है, वह सब भूतों का निवासस्थान, पक्षपात से रहित द्रष्टा, चेतन, एकतत्त्व और तीनों गुणों से परे है॥ ११॥

"सो मै विसर न जाई"। जगद्गुरु ईश्वर के स्मरण से सदा सद्गति की और विस्मरण से असद्गति की प्राप्ति होती है। यहां विस्मरण के निषेध से उस के सदा स्मरण का विधान अभिप्रेत है। मनुष्य अपनी सद्गति के लिये सदा ईश्वर को स्मरण रखे, यह "सो मै विसर न जाई" मन्त्र का अन्तराशय है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से ईश्वर के सदा स्मरण का यही फल कथन किया है। कथन यह है—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः"(गीता० ८।१४)।

अर्थ—हे-पृथा के पुत्र! जो न दूसरे में मनवाला हुआ प्रतिदिन निरन्तर मुझे (मेरा) स्मरण करता है। मैं उस सदा मुझ में लगे-हुए मन-वाले कर्मयोगी को आसानी से प्राप्त होने वाला हूं॥१४॥५॥५॥

नैकदेशी न वा कार्यः, स्वतः-सिद्धो निरञ्जनः।
गुणानामाश्रयः श्रेष्ठः, सुखस्यैकपरायणः ॥१॥
ब्रह्माण्डं सकलं यस्य, देहो विश्वस्य साक्षिणः।
ये तं गायन्ति भावेन, ते सर्वेऽमृतभागिनः॥२॥

"कर्माङ्गश्रद्धापर्व" ॥ ६ ॥

"तीर्थ नावा जे तिस भावा, विन भाणे कि नाय करी। जेती सृठि उपाई वेखा, विन कर्मा कि मिले लई॥१॥ मंत विचं रत्न जवाहर माणिक, जे इक गुरु की सिख सुनी। गुरा इक देह बुझाई, सभना जिआ का इक दाता, सो मै विसर न जाई" ॥ २ ॥ ६ ॥

संस्कृतभाषानुवाद।

तीर्थे स्नायात्, यदि तस्मिन् श्रद्धालक्षणो भावो भवेत्, विना श्रद्धाभावनां स्नात्वा किं कुर्यात्, किं फलं प्राप्नुयात्। यावती सृष्टिः ईश्वरेणोत्पादिताऽवेक्ष्यते, तत्र श्रद्धया विना कृतेन, विना श्रद्धां क्रियमाणेन कर्मणा किं मिलति, को वा लाति गृह्णाति॥१॥ मतौ श्रद्धायाम् अन्तरे रत्नं मौक्तिकं मणि-कल्पानि भोग्यवस्तूनि सर्वाणि, यदि मनुष्यो गुरोरुपदेष्टुः एकां श्रद्धाविषयां शिक्षां शृणुयात्। गुरुणोपदेष्ट्रा सर्वं ब्रह्माण्डम्, एकस्य गुरोरीश्वरस्य देहोऽबोधि, सर्वेभ्यो जीवेभ्यः स एवैकः कर्मफलस्य यथायथं दाता, स मे विस्मरणं न यायादिति भावो भावयितव्यः॥२॥६॥

हिन्दीभाषानुवाद।

तीर्थ में स्नान करे, यदि उसमें (तीर्थ में) श्रद्धा का भाव हो, श्रद्धा की भावना के विना स्नान से क्या करेगा अर्थात् क्या फल

पायेगा । जितनी सृष्टि ईश्वर की उत्पन्न की हुई देखी जाती है, उसमें श्रद्धा के विना किए हुए कर्म से क्या मिलता है, और कौन लेता अर्थात् पाता है ॥ १ ॥ मनुष्यों की अपनी श्रद्धावाली बुद्धि के अन्दर ही, हीरे, मोती और मणियों के तुल्य (सदृश) सब भोग्य पदार्थ रखे हुए हैं, यदि मनुष्य, उपदेष्टा गुरु की एक श्रद्धासम्बन्धी शिक्षा को सुने। उपदेष्टा गुरु ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक ईश्वर का शरीरी उपदेश किया है, वही एक ईश्वर सब मनुष्यों को कर्मों का फल देता है, वह मुझे विस्मरण न हो जाय (नभूले), यह भाव हर एक को पक्का करना चाहिये ॥ २ ॥ ६ ॥

भाष्य—ईश्वर एक है, सब जगह पूर्ण है, सब का अन्तरात्मा है, सब के अन्दर रहता हुआ सब के कर्मों पर दृष्टि रखता है, यथायथं कर्मफल का दाता है,सदा स्मरण रखने योग्य है,यह पीछे कहा गया। अब, जो कर्म श्रद्धा से किया जाता है, उस का पूरा पूरा फल मिलता है और जो विना श्रद्धा के किया जाता है, उस का फल कुछ भी नहीं मिलता, यह कहने के लिये जपसंहिता का छीवां (छटा) पर्व आरम्भ होता है। इस का नाम "कर्माङ्गश्रद्धापर्व" और मन्त्रसंख्या दो २ है। उन में से पहले मन्त्र का पूर्व-भाग है "तीर्थ नावा जे तिस भावा, विन भाणे कि नाय करी"। ऋक्संहिता के अनेक मन्त्रों में तीर्थ की चर्चा की गई है। उन(मन्त्रों)से तीर्थ के स्वरूप तथा प्रयोजन का स्पष्ट और ठीक ठीक ज्ञान होता है। एक मन्त्र में "तीर्थे सिन्धूनाम्" (ऋ० १ । ४६ । ८) पढ़ा है। उस का अर्थ है "नदियों में स्नान आदि के लिये उतरने का घाट"। दूसरे मन्त्र में "तीर्थे न अर्यः पौंस्यानि तस्थुः" (ऋ० १ । ६९ । ६) पाठ मिलता है। उस का अर्थ है— "तीर्थ में स्नान करने से जैसे पापकर्म ठहर जाते अर्थात् फल देने में असमर्थ हो जाते हैं, वैसे शत्रु के बल ठहर जायें"। तीसरे मन्त्र का पाठ है "ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सङ्गमे" (ऋ० १०।१०७। ४)। उस का अर्थ है"जो नदियों के सङ्गम पर अन्न से भूखों को तृप्त करते हैं

और जो दूसरा दान देते हैं, वे अपने दान का यथेष्ट फल पाते हैं" । इन सब मन्त्रों से सिद्ध है कि मन्त्रकाल में हमारे पूर्वज तीर्थों को मानते थे और उन में स्नान आदि के करने से पापों की निवृत्ति होती है, समझते थे । इसी से कोषकारों ने तीर्थशब्द का अर्थ 'तारने वाला' अर्थात् पापों से पार करने वाला,लिखा है,जो बहुत ही सङ्गत है । तीर्थ-शब्द के इस अर्थ की पुष्टि उस मन्त्र से भी होती है, जो स्नान करते समय हमारे पूर्वज नियम से पढा करते थे । मन्त्र यह है—

"इदमापः प्रवहत यत् किं च दुरितं मयि । यद् वाऽहम् अभिदुद्रोह, यद् वा शेपे उतानृतम्" (ऋ० १ । २३ । २२) ।

अर्थ—जल इस को बहा ले जाये, जो कुछ भी मुझ में पाप है, अथवा जो मैंने द्रोह अर्थात् विश्वासघात किया है, अथवा जो मैंने बुरा भला कहा (गाली गलौच किया) है और जो झूंठ बोला है ॥२२॥

भारतवर्ष की सब नदियां,उन के सङ्गम और प्राकृत (कुदरती) सरोवर, ये सब हमारे पूर्वजों के प्रधान तीर्थ हैं । इन सब की संख्या अठसठ ६८ के लगभग मानी जाती है । इन के सुरम्य और मनोहर किनारों पर आज की तरह मन्त्रकाल में भी बडे बडे तपस्वी और विद्वान् ऋषियों तथा मुनियों के आश्रम थे । जहां पर,समस्त भारतीय-जनता स्नान, ध्यान और दर्शन के लिये प्रतिवर्ष एक बार नियम से जाती थी और अनेक प्रकार का उपदेश सुनती तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान देती थी । सोभरि ऋषि ने, जो पचास ब्रह्मचारियों के साथ फिरा करता था, अपने मन्त्रों में कहा है कि मुझे सुवास्तु-नदी के घाट पर पुरुकुत्स के पुत्र महाराज 'त्रसदस्यु' ने अनेक प्रकार का दान दिया । उस के मन्त्र ये हैं—

"अदात् मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युः वधूनाम् । मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः" (ऋ० ८ । १९ । ३६) ।

अर्थ—पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु ने जो बड़ा दानी है, राजा है और सच्चा राजा है, मुझे पचास बहुओं का दान दिया ॥३६॥

"उत मे प्रयियोः वयियोः, सुवास्त्वाः अधि तुग्वनि । तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुः दियानां पतिः" (ऋ०८।१९।३७)।

अर्थ—और मुझे घोड़ों का तथा वस्त्रों का दान दिया, सुवांत-नदी के घाट पर। तीन सत्तर अर्थात् दो सौ दस २१० गौओं का और उन गौओं के स्वामी काले रङ्ग के साण्ड का, जो आगे चलने वाला और बड़ी शोभा वाला अर्थात् बड़ा सुन्दर है, दान दिया ॥ ३७ ॥

अत्रि के पुत्र गोपवन ऋषि ने, जिस का आश्रम रावी-नदी के किनारे था, अपने मन्त्रों में नदी को सम्बोधन करके ऋक्ष के पुत्र श्रुतर्वण राजा के दान को बहुत बखाना है। उन में से एक मन्त्र यह है—

"सत्यम् इत् त्वा महेनदि ? परुष्णि ! अवदेदिशम्। न ईम् आपो ! अश्वदातरः शविष्ठाद् अस्ति मर्त्यः" (ऋ० ८। ७४।१५)।

अर्थ—हे बड़ी नदी ! हे रावी ! मैं निःसन्देह तुझे सत्य कहता हूं। हे सदा जलवाली ! निश्चय इस अत्यन्त बल-वाले (श्रुतवर्ण) से भिन्न दूसरा कोई मनुष्य घोड़ों का दाता नहीं है ॥ १५ ॥

बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज ऋषि ने, जिसका आश्रम पञ्जाब में सरस्वती नदी के किनारे था और गङ्गा पर स्नान के लिये गया था, अपने मन्त्रों में बृबु नामी तक्षा (तरखान) के दान की बड़ी प्रशंसा की है। प्रशंसा-मन्त्र ये हैं—

"अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन् अस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः"।

अर्थ—पणियों का सरदार (अधीश्वर) बृबु, सब से श्रेष्ठ (ऊंचे) द्युलोक में स्थित हुआ। उस का यश गङ्गा के किनारे की नाईं बहुत ऊँचा है (ऋ० ६। ४५। ३१)।

"यस्य वायोरिव द्रवद् भद्रा रातिः सहस्रिणी। सद्यो दानाय मंहते"।

अर्थ—जिस का हजारों का उत्तम दान तुरत याचक को देने के लिये वायु की नाईं दौड़ता है (ऋ० ६। ४५। ३२)।

बृबु नामी तक्षा के दान की चर्चा मनुस्मृति में भी की गई है। ज्ञात होता है मनुस्मृति के बनने के समय तक्षा का दान निन्दित समझा जाता था। मनुस्मृति का चर्चा-श्लोक यह है—

"भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने।
बह्वीः गाः प्रतिजग्राह बृबोस्तक्ष्णो महातपाः" (मनु० १०।१०७)।

अर्थ—पुत्रों सहित भूख से दुःखी हुए निश्चय महातपस्वी भरद्वाजने

निर्जन वन में वृंबु नाम के तक्षा से अनेक गौओं का दान लिया॥१०७॥ तीर्थ पर तीर्थबुद्धि से जाने और श्रद्धापूर्वक स्नान, ध्यान तथा दान आदि के करने से पापों की निवृत्ति होती है। पर यदि मनुष्य तीर्थबुद्धि से तीर्थ पर नहीं जाता और नहीं श्रद्धापूर्वक स्नान, ध्यान तथा दान आदि कर्म करता है, तो उसे उसका फल कुछ भी नहीं मिलता। इसलिये शङ्ख मुनि ने अपनी स्मृति के आठवें अध्याय में यह लिखा है—

"यस्य हस्तौ च पादौ च, मनश्चैव सुसंयुतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च, स तीर्थफलमश्नुते ॥१५॥

अर्थ—जिसने हाथों और पांव, दोनों को अर्थात् अपनी सब कर्मेन्द्रियों को और ज्ञानेन्द्रियों के सहित निश्चय मन को ठीक ठीक काबू में किया है। जिसको विद्या, तप और निश्च कीर्ति का ख्याल है, वह तीर्थ के फल को पाता है ॥१५॥

"नराणां पापकृतां तीर्थे, पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्तफलदं तीर्थं, भवेच्छ्रद्धात्मनां नृणाम्" ॥१६॥

अर्थ—पापी मनुष्यों के पाप की निवृत्ति तीर्थ में होती है। पर जैसा कहा है वैसा फल देने वाला होता अर्थात वैसा फल देता है, तीर्थ उन्हीं मनुष्यों को, जिनका मन श्रद्धा से युक्त है ॥ १६ ॥ "तीर्थ नावा" मन्त्र का आशय भी यही है कि तीर्थों में जाये, स्नान करे, ध्यान करे, दान दे, पर तीर्थबुद्धि से जाये, श्रद्धाभक्ति से युक्त हुआ जाये, नहीं तो जाना न्हाना आदि सब कर्म व्यर्थ है, परिश्रम-मात्र है।

"जे इक गुरु की सिख सुनी"। यहां शिक्षा का उच्चारण सिख है और 'इक सिख, यह अन्वय (सम्बन्ध) है। ऋक्संहिता में कहा है "श्रद्धया विन्दते वसु" अर्थात् श्रद्धा से मनुष्य कर्म का फल धन लभता है (ऋ० १०। १५१। ४)। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है "यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति" अर्थात् जो ही कर्म, मनुष्य ज्ञान से (समझ से) श्रद्धा

से अर्थात् आस्तिक्यवुद्धि से और उपनिषद् से अर्थात् अन्तरात्मा ईश्वर की दृष्टि से करता है, वह ही कर्म, सब कर्मों से बढ़ कर, फल देने की शक्तिवाला होता है (छां उ० १ । २ । १०) । उद्दालक पिता (गुरु) ने श्वेतकेतु पुत्र(शिष्य)से कहा है कि "श्रद्धत्स्व सोम्य !" अर्थात् हे प्यारे ! श्रद्धा कर (छां० उ० ६।९।२३)। जो कर्म श्रद्धा से किया जाता है, ज्ञानपूर्वक किया जाता है,तथा सर्वान्तात्मा ईश्वर को दृष्टितल में रखते हुए किया जाता है, वही फलदायक होता है, दूसरा नहीं होता, बस यह है उपदेष्टा गुरुकी एक शिक्षा। जो मनुष्य उपदेष्टा गुरु की इस एक शिक्षा को सुनता है और उसके अनुसार चलता है, वह अपने कर्म का ठीक ठीक फल पाता है, दूसरे का किया हुआ सब कर्म निष्फल है, यह निश्चित है, इस में यत्किञ्चित् भी संशय नहीं ॥२६॥

तीर्थेषु श्रद्धया गच्छेत्,न जातु श्रद्धया विना ।
नहि श्रद्धां विना गच्छन्, तत्फलं लभते जनः ॥ १ ॥
ब्रह्माण्डं सकलं यस्य, देहस्तं करुणाकरम् ।
मनसा संस्मरेद् भक्त्या, फलदातारमीश्वरम् ॥ २ ॥

"ईश्वरस्वभावपर्व" ॥७॥

जे जुग चारे आरजा, होर दसूनी होय। नवा खण्डा विचि जानिये, नाल चले सभ कोय ॥ १ ॥ चंगा नाँओ रखाय के, जेस कीरत जग ले। जे तिस नदर न आव-ई, तँ वात न पुच्छे के ॥२॥ कीटा अन्दर कीट करे दोसी दोस धरे। नानक निर्गुण गुण करे,गुणवन्तिआ गुण दे। तेहा कोय न सुझई, जि तिस गुण कोय करे ॥३॥७॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

यदि चत्वारि युगानि आयुः स्यात्,अपरं दशगुणं वा भवेत्। नवसु खण्डेषु भूलोकस्य नवसु भागेषु आभ्यन्तरे सर्वस्मिन् भूमिमण्डले, लोकाः जानीयुः, उत्थाय चलने च, ये केचित् जनाः

ते सर्वे साथं चलेयुः ॥ १ ॥ चार्वङ्गं सुन्दरं नाम किञ्चिद् रक्षयित्वा, तदनुरूपैः कर्मभिर्विविधैः यशः कीर्तिं च जगतो जंगमस्य प्राणिजातस्य लभेत=विन्देत । सत्यपि सर्वस्मिन् एतस्मिन् यदि स तस्येश्वरस्य दृष्ट्यां नावयाति=श्रद्धायाः अभावेन तदनुग्रहदृष्टि-गोचरतां नापद्यते, तदा परलोकगतस्य तस्य वार्तां केऽपि न पृच्छन्ति, न स क्वचिदाद्रियते॥२॥पश्यत जनाः! कीटेषु=कीट-तुल्येषु निकृष्टेषु आभ्यन्तरे कीटतुल्यान् निकृष्टतमान् कृत्वा येषु जनेषु दोषानुदोषान् धरति लोकः, स्वमात्मानमुच्चतमं मन्यमानः, तान् निर्गुणान् निर्गुणबुद्ध्या दलितान् पराकृतान्, परमदालु-रीश्वरो गुणिनः करोति, गुणवद्भ्यश्चापरान् गुणान ददाति । परं तादृशः कोऽपि न दृष्टिपथमेति, यः कश्चिद् तमेकं कञ्चन निर्गुणं गुणिनं कुर्यात्, नूनमेतत् परमदयालोरीश्वरस्यैव कृत्यमिति नानकः पश्यति ॥३॥७॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

यदि चारों युगों की आयु हो, अथवा और भी दशगुणा अर्थात् चालीस युगों की आयु हो । पृथिवी के नवों खण्डो में अर्थात् भूमिमण्डल-भर में सब लोग जानें और चलने के समय सब कोई सत्कार के लिये साथ चले ॥१॥ जो नाम चङ्गा अर्थात् सुन्दर है, ऐसा कोई नाम रखवा-कर, उसके अनुरूप(सदृश)कर्मों के करने से, दुनिया के यश और कीर्ति को भी पा ले । पर यदि उस की दृष्टि में नहीं आया अर्थात् श्रद्धा-भक्ति के न होने से ईश्वर की कृपा का पात्र नहीं बना, तो परलोक में उस की बात-तक भी कोई नहीं पूछता अर्थात् वह कहीं आदर नहीं पाता ॥ २ ॥

देखो मनुष्यो ! कीटों के अन्दर कीट अर्थात् निकृष्टों में भी निकृष्टतम समझ कर, जिन मनुष्यों में लोग दोषों पर दोष धरते (आरोपण करते) अर्थात् निर्गुण मान कर परे परे करते हैं, उन निर्गुणों को भी दयालु ईश्वर गुणवान करता अर्थात् उत्कृष्ट (ऊंचा) बनाता है और जो उन में कुछ गुणवान् हैं, उन्हें और गुण देता अर्थात् उत्कृष्टतर करता है। परन्तु ऐसा कोई मनुष्य देखने में नहीं आता, जो कोई उस-जैसे किसी एक निर्गुण को गुणवान् करे, निश्चय यह उस दयालु ईश्वर का ही काम है, ऐसा नानक का दर्शन अर्थात् ऐसी नानक की दृष्टि है ॥३॥७॥

अ।छध—जो कर्म श्रद्धा से किया जाता है, समझ से (ज्ञानपूर्वक) किया जाता है, ईश्वर को साक्षी मान कर किया जाता है, उस कर्म को देख कर ईश्वर प्रसन्न होता है और उसका कोमल हृदय दया से भर जाता है, फिर उस कर्म का जितना फल देना चाहिये, उस से कहीं अधिक फल देता है, यह ईश्वर का स्वभाव है, नैसर्गिक निजधर्म है। हर एक मनुष्य ईश्वर के इस नैसर्गिक (कुदरती) निजधर्म को, उसके इस स्वतःसिद्ध स्वभाव को दृष्टिगोचर रखता हुआ अपना प्रत्येक कर्म, श्रद्धा से, समझ से, ईश्वर को साक्षी मान कर करे, यह अच्छी तरह दृढ़ कराने के लिये उस के परमपवित्र तथा परमोदर स्वभाव का वर्णन अब जपसंहिता के सातवें पर्व में किया जाता है। इसका नाम "ईश्वरस्वभावपर्व" और मन्त्रसंख्या तीन ३ है। उन में से पहले मन्त्र का पाठ है "जे जुग चारे आरजा" इत्यादि। आयुर् का विपर्यय-उच्चारण आरजा और कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि, ये चारों युगों के नाम हैं। कृतयुग का ही दूसरा नाम सत्ययुग है। कृतयुग का आरम्भ वैसाख–शुक्ला तृतीया से और आयु का परिमाण सत्तरह लाख अठाईस हजार १७२८००० वर्ष माना जाता है। त्रेता का आयु-परिमाण बारहलाख छयानवे हजार १२९६००० वर्ष, द्वापर का आयुपरिमाण आठ लाख चौसठ हजार ८६४००० वर्ष और कलि का आयुपरिमाण चार लाख बत्तीस हजार ४३२००० वर्ष माना जाता है।

ऋक्संहिता के अनेक मन्त्रों में युग का नाम बार बार आया है, जिनमें से बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज ऋषि का मन्त्र (ऋ० ६। ८।५) मान के पुत्र अगस्त्य ऋषि का मन्त्र (ऋ० १ । १६६ । १३) और ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि का मन्त्र (ऋ० १ । १५८ । ६) विशेषरूप से ध्यान में रखने योग्य हैं। उन सब मन्त्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि पहले पहल पांच वर्ष का,फिर दश वर्ष का, एक युग माना जाता था, पीछे "ज्योतिःशास्त्र" की उन्नति के समय उसका परिमाण बढ़ा दिया गया। भारतीय ज्योतिषियों का मत है कि चारों युगों का आयुपरिमाण त्रितालीस लाख बीस हजार ४३२०००० वर्ष है। यहां भी यही विवक्षित है। इसको दस गुणा करने से चार करोड़ वत्तीस लाख ४३२००००० वर्ष होते हैं। यही चालीस युगों का आयुपरिमाण "होर दसूनी होए" का अर्थ है ॥३॥७॥

आयुर्वन्धुर्धनंविद्या, लोकेषु मानसाधनम्।
ईश्वरस्य गृहे भक्तिः, एकैव मानकारणम् ॥ १ ॥
इहामुत्र च ये केचित्, मानमिच्छन्ति मानवाः।
तेषां भक्तिसहितास्ते, वोद्धव्याः मानहेतवः ॥ २ ॥

"ईश्वरनामश्रवणपर्व"॥८॥

सुनिए सिद्ध पीर सुर नाथ। सुनिए धरति धवल आकास ॥१॥ सुनिए दीप लोए पाताल। सुनिए पोहि न सकै काल ॥२॥ नानक भगता सदा विगास। सुनिए दूख पाप का नास ॥३॥८॥

संस्कृतभाषानुवाद।

ईश्वरनाम्नः श्रवणेन ज्ञानसिद्धो ज्ञानी भवति, पेरुः पारयिता गुरुः उपदेष्टा भवति , सुरो भूसुरो भूदेवो ब्राह्मणो भवति, भूसुराणां ब्राह्मणनां नाथः स्वामी महाब्रह्मणो भवति। ईश्वरनाम्नः श्रवणेन धरित्री इव धृतिमान् भवति , अकाशः इव धवलो निर्मलो भवति ॥१॥ ईश्वरनाम्नः श्रवणेन द्वीपेषु सप्तसु=सर्वस्मिन्

पृथिवीलोके, द्युलोके, ततोऽधस्तने पातालसंज्ञके अन्तरिक्षलोके च विश्रुतो भवति । ईश्वरनाम्नः श्रवणेन कालो मृत्युः जरसः पूर्वं स्प्रष्टुं न शक्नोति ।।२।। ईश्वरनाम्नः श्रवणेन भक्तानां कर्म-योगिनां सर्वदा विकासो हर्षो भवति, दुःखानां दुःखहेतुपापानां च नाशो भवति, इति नानकः पश्यति ।।३।।८।।

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम सुनने से सिद्ध अर्थात् ज्ञानरूपी सिद्धि को पाया-हुआ (ज्ञानी) होता है, पीर अर्थात् संसारसागर से पार करने वाला, गुरु उपदेष्टा होता है, सुर (भूसुर) अर्थात् भूमि का देवता ब्राह्मण होता है, भूसुरों का नाथ अर्थात् ब्राह्मणों का स्वामी महाब्राह्मण होता है । ईश्वर का नाम सुनने से धरती (पृथिवी) की नाईं धृति (धैर्य) वाला और आकाश की नाईं धवल अर्थात् निर्मल होता है ।। १ ।। ईश्वर का नाम सुनने से पृथिवी के सातों द्वीपों में अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवीलोक में, द्युलोक में और पाताल में अर्थात् द्युलोक से नीचले अन्तरिक्षलोक में प्रसिद्ध होता है । ईश्वर का नाम सुनने से काल अर्थात् मृत्यु बुढापे से पहले छू नहीं सकता ।। २ ।। ईश्वर फा नाम सुनने से कर्मयोगी भक्तों को सदा का हर्ष (खुशी) होता है, दुःखों का और दुःखों के कारण पापों का नाश होता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ।। ३ ।। ८ ।।

"ईश्वरनामश्रवणपर्व" ।। ९ ।।

"सुनिए ईसर बरमा इन्द । सुनिए मुख सालाहन मन्द ।।१।। सुनिए जोग जुगत तन-भेद । सुनिए सासत सिमृत वेद ।।२।। नानक भगता सदा विगास । सुनिए दूख पाप का नास" ।। ३ ।। ९ ।।

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नः श्रवणेन शिवः इव मङ्गलरूपो भवति, ब्रह्मा इव स्रष्टा, ईन्द्र इव ऐश्वर्यवान् भवति। ईश्वरनाम्नः श्रवणेन मन्दो जघन्यो मुख्यो भवति, श्लाघनीयो भवति ॥ १ ॥ ईश्वरनाम्नः श्रवणेन योगं=योगस्वरूपं, युक्तिं=योगसिद्धिप्रकारं, तनुभेदं= तनुः शरीरं,तन्मध्यवर्ति-धातुनाड्यादि-यावद्वस्तुभेदं च,जानाति। ईश्वरनाम्नः श्रवणेन वेदान्तादिशास्त्राणां, मन्वादिस्मृतीनाम्, ऋगादिवेदानां चार्थं=रहस्यं सम्यगवगच्छति ॥ २ ॥ ईश्वनाम्नः श्रवणेन भक्तानां कर्मयोगिनां सदा विकासो हर्षो भवति। दुःखानां दुःखहेतुपापानां च नाशो भवतीति नानकः पश्यति ॥३॥९॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम सुनने से शिव के तुल्य मंगलरूप होता है, ब्रह्मा के तुल्य स्रष्टा और ईन्द्र के तुल्य ऐश्वर्यवान् होता है। ईश्वर का नाम सुनने से नीच से ऊंच और सराहने के योग्य होता है॥१॥ ईश्वर का नाम सुनने से योग के स्वरूप को, योग की युक्ति अर्थात् सिद्धि के प्रकार को और तनु के भेद अर्थात् शरीर के अन्दर की धातु, नाड़ी आदि सब वस्तुओं के भेद को जान लेता है। ईश्वर का नाम सुनने से वेदान्त आदि शास्त्रों के, मनुस्मृति आदि स्मृतियों के और ऋग्वेद आदि चारों वेदों के रहस्य अर्थ को ठीक ठीक समझ जाता है ॥ २ ॥ ईश्वर का नाम सुनने से कर्मयोगी भक्तों को सदा का हर्ष होता है, दुःखों का और दुःखों के जनक (कारण) पापों का नाश होता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ३ ॥ ९ ॥

"ईश्वरनामश्रवणपर्व" ॥ १० ॥

"सुनिए सत सन्तोख ज्ञान । सुनिए अठ–सठ का इस्नान ॥ १ ॥ सुनिए पढ पढ पावे मान । सुनिए लागे सहज ध्यान ॥२॥ नानक भगता सदा विगास । सुनिए दूख पाप का नास" ॥ ३ ॥ १० ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नः श्रवणेन सत्यभाषणं, सन्तोषः, कर्तव्याकर्तव्योः विवेकज्ञानं भवति । ईश्वरनाम्नः श्रवणेन अष्टषष्टितमेषु तीर्थेषु नदनदीखातेषु स्नानस्य फलं भवति ॥१॥ ईश्वरनाम्नः श्रवणेन पुराणपाठात् वेदपाठाच्च स्वाध्यायलक्षणात् प्राप्तव्यं मानं सत्कारं प्राप्नोति । ईश्वरनाम्नः श्रवणेन सहजतोऽनायासतो ध्यानं समाधिः लगति=चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते ॥२॥ ईश्वनाम्नः श्रवणेन भक्तानां कर्मयोगिनां सर्वदा विकासो हर्षो भवति । दुःखानां दुःखहेतुपापानां च नाशो भवतीति नानकः पश्यति ॥ ३ ॥ ८ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम सुनने से सत्यभाषण, सन्तोष और कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान होता है । ईश्वर का नाम सुनने से सिन्धु, सरयु (हरो), व्यास, शतद्रू , गङ्गा, यमुना आदि अठाठ ६८ तीर्थों के स्नान का फल होता है ॥१॥ ईश्वर का नाम सुनने से प्रतिदिन पुराणों के पढ़ने के और वेदों के पढ़ने के तुल्य मान को पाता है । ईश्वर का नाम सुनने से सहज ही अर्थात् अपने से आप ही ध्यान लगता अर्थात् चित्त एकाग्र होता है ॥ २ ॥ ईश्वर का नाम सुनने से कर्मयोगी भक्तों को सदा का हर्ष होता है, दुःखों का और दुःखों के जनक [कारण] पापों का नाश होता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ३ ॥ १ ॥

"ईश्वरनामश्रवणपर्व" ॥११॥

"सुनिए सेरा गुणा के गाह। सुनिए सेख पीर पातसाह ॥१॥ सुनिए अंन्धे पांवे राह । सुनिए हाथ होवे असगाह ॥२॥ नानक भगता सदा विगास। सुनिए दूख पाप का नास" ॥ ३ ॥ ११ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नः श्रवणेन सर्वेषां वस्तुगुणानां ग्रहणं=ज्ञानं भवति। ईश्वरनाम्नः श्रवणेन शेषः (शेखः) इव आस्तिको भक्तो भवति, राष्ट्रपतीनां पत्युः शासितूराजाधिराजस्य "पेरुः पारयिता गुरुः उपदेष्टा भवति ॥१॥ ईश्वरनाम्नः श्रवणेन अज्ञो विपथः सुपथं प्राप्नोति । ईश्वरनाम्नः श्रवणेन अगाधः संसारसमुद्रो हस्तदघ्नो भवति ॥ २ ॥ ईश्वरनाम्नः श्रवणेन भक्ताना कर्मयोगिनां सर्वदा विकासो हर्षो भवति । दुःखानां दुःखहेतुपापानां च नाशो भवतीति नानकः पश्यति ॥ ३ ॥ ११ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम सुनने से सब वस्तुओं के गुणों का ग्रहण अर्थात ज्ञान होता है । ईश्वर का नाम सुनने से शेष की नाई आस्तिक और राजाधिराजों का गुरु होता है ॥१॥ ईश्वर का नाम सुनने से अज्ञानी कुमार्ग से सुमार्ग को पाता है । ईश्वर का नाम सुनने से अथाह संसार-समुद्र हाथ-भर हो जाता है ॥ २ ॥ ईश्वर का नाम सुनने से कर्मयोगी भक्तों को सदा का हर्ष होता है। दुःखों का और दुःखों के जनक(कारण)पापों का नाश होता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ३ ॥ ११ ॥

भाष्य—ईश्वर के स्वभाव का वर्णन किया गया,अब उस के नाम के श्रवण का माहात्म्य चार पर्वों में,जिन के सब मन्त्र बारह १२ हैं,कहा जाता है । यह। श्रवन, उच्चारण का उपलक्षण है और नाम से वे सब

नाम अभिप्रेत हैं, जिन के उच्चारण करने से और सुनने से ईश्वर के स्वरूप, गुण, कर्म तथा स्वभाव आदि का यथार्थ ज्ञान होता है। अर्थात् नाम के उच्चारण करने और सुनने से यहां उस पुस्तक को प्रतिदिन नियम से पढना और सुनना विवक्षित है, जिस में ईश्वर के स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव और मनुष्यशिक्षा-सम्बन्धी दूसरी अनेक बातों का सविस्तर वर्णन है। ऐसी पुस्तक भगवान् वेद, श्रीगुरुग्रन्थ और श्रीमद्भगवद्गीता है। प्रतिदिन प्रातःसमय शुद्ध हो कर यथावकाश नियमपूर्वक, इन तीनों पुस्तकों के पढने और सुनने से वह सब पुण्य और पुण्य का फल, प्राप्त होता है, जो इन श्रवण के चारों पर्वों में कहा गया है। स्त्री हो, चाहे पुरुष, युवा हो अथवा वृद्ध, गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी कोई सूर्योदय से पहले श्रद्धाभक्ति के साथ ईश्वर के नाम का वारं-वार उच्चारण करता, या दूसरे का उच्चारण किया हुआ ध्यानपूर्वक सुनता है, उसे महापुण्य की प्राप्ति होती है, यह अथर्वसंहिता के मन्त्र (१०।७।३१) में कहा है। मन्त्र यह है—

"नाम नाम्ना जोहवीति, पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संम्बभूव, स ह तत् स्वराज्यमियाय, यस्मात् नान्यत्परमस्ति भूतम्"

अर्थ—जो मनुष्य नामी ईश्वर को उस के नाम से सूर्योदय से पहले और उषा से पहले वारं वार पुकारता अर्थात् उस के नाम का वारम्वार उच्चारण करता है, और जो मनुष्य इस नाम के उच्चारण करने में मुख्य होता है अर्थात् मुखिया होकर दूसरों को सुनाने के लिये वडी मधुर-स्वर से ईश्वर के नाम का उच्चारण करता है, वह (उच्चारण करने वाला और सुनने वाला) निश्चय उस स्वराज्य को अर्थात् लोक-परलोक के सुख को पाता है, जिस से बढकर दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

मित्रावरुण के पुत्र वासिष्ठ ऋषि ने अपने मन्त्र में कहा है कि मैं प्रतिदिन नियम से ईश्वर का नाम उच्चारण करता हूं। उसका मन्त्र यह है—

"न ते गिरो अपिमृश्ये तुरस्य, न सुष्टुतिम् असुर्यस्य विद्वान्। सदा ते नाम स्वयशो ! विवक्मि" (ऋ० ७। २२। ५)।

अर्थ—हे ईश्वर ! मैं तुझ दुष्टों को दण्ड देने वाले के आज्ञावचनों

को नहीं त्यागता अर्थात् नहीं उलांघता और नहीं तुझ बलवान् के बल को जानता हुआ सुन्दर स्तुति को त्यागता अर्थात् स्तुति के करने में प्रमाद करता हूं । हे अपने आप यशवाले ! मैं आप का नाम सदा उच्चारण करता हूं ॥ ५ ॥

ईश्वरीय-नाम के उच्चारण करने और सुनने के माहात्म्य को दृष्टितल में रखते हुए ही ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने अपने मन्त्र में सब को सम्बोधन करके यह कहा है—

"तमु स्तोतारः ! पूर्व्यं यथा विद, ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आ अस्य जानन्तो नाम चिद्, विवक्तन, महस्ते विष्णो ! सुमतिं भजामहे" (ऋ० १ । १५६ । ३) ।

अर्थ—हे स्तुति करने वालो ! उस ही सनातन ईश्वर को जैसा है वसा जानो, उस सत्य के ग्रहण करने वाले अर्थात् सत्य के सदा पक्षपाती को वीर प्रजा की उत्पत्ति से प्रसन्न करो । अर्थ को जानते हुए इस के नाम को आ-मरणान्त अर्थात् सदा, सत्कारपूर्वक उच्चारण करो, हे व्यापक ईश्वर ! हम सब तुझ महान् की श्रेष्ठ मति अर्थात् उत्तम शिक्षा का सेवन करें ॥३॥

यहां नाम-उच्चारण के सम्बन्ध में गाधि के पुत्र विश्वामित्र ऋषि का मन्त्र भी स्मरण रखने योग्य है—

"नामानि ते शतक्रतो ! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे । इन्द्र ! अभिमातिषाह्ये" (ऋ० ३ । ३७ । ३) ।

अर्थ—हे अनन्तज्ञान ! हे परम ऐश्वर्यवान् ! हम बाहर तथा अन्दर के शत्रुओं को दबाने के लिये सायं प्रातः आप के नामों का सब प्रकार की वाणियों से उच्चारण करते हैं ॥३॥

नाम उच्चारण के सम्बन्ध में कण्व के पुत्र वत्स ऋषि का मन्त्र (ऋ० ८ । ११ । ५) यह है—

"मर्ताः अमर्त्यस्य ते, भूरि नाम मनामहे । विप्रासो जातवेदसः" ॥५॥

अर्थ—हम मरण धर्मा ऋषि सब-धनों-वाले हुए भी तुझ कभी न मरने वाले का नाम बहुत बहुत उच्चारण करते हैं ॥५॥

जपसंहिता के चारों पर्वों में जो ईश्वरीय नाम के श्रवण का

माहात्म्य कथन किया है, वह यथार्थ होने से वडा मनोहर, सुश्रव और सुबोध है और अनुवादमात्र से स्पष्ट है। पहले और चौथे पर्व में पेरु का अपभ्रंश पीर और शेष का उच्चारण शेख है ॥ ३ ॥ ११ ॥

"ईश्वरनाममननपर्व" ॥१२॥

"मंन्ने की गत कही नं जाए। जे को कहे पिच्छे पंच्छताए ॥१॥ कागद कलम नं लिक्खन-हार। मंन्ने का बह करन वीचार ॥२॥ ऐसा नाम निरंजन होए। जे को मंन जाने, मंन कोए" ॥३॥१२॥

संस्कृतभाषानुवाद।

ईश्वरनाम्नो मननस्य=ईश्वरस्य नामिनः स्वरूपाववोधस्य गतिः फलं नं कथयितुं शक्यते। यदि कश्चित् कथयेत्=कथयितुं वर्तेत, पश्चात् पश्चात्तापं कुर्यात् ॥१॥ न-एतावदस्ति काकतं पत्रं, नैतावान् कलमो लेखनी, नैतावन्तो लेखितारो लिपिकराः सन्ति विद्यन्ते, येन कश्चिदुपविश्य मननफलस्य लेखं-लेखमपि विचारं विवेचनं कुर्वीरन् ॥२॥ पश्यत जनाः! ईदृशं निरंजनस्य निर्मलस्य ईश्वरस्य नाम भवति। यदि कश्चित् मन्वीत, जानीत, को मनुते ? विरलः कोऽपि मनुते ॥ ३ ॥ १२ ॥

हिन्दीभाषानुवाद।

ईश्वर का नाम मनन करने से अर्थात् नामी ईश्वर के स्वरूप को ठीक ठीक समझने से, जो गति अर्थात् फल होता है, वह नहीं कहा जा सकता। यदि कोई कहेगा, पीछे पंछतायेगा ॥१॥ नहीं इतना कागत है, नहीं लेखनी और नहीं लिखने वाला है। जिस से कहीं बैठ कर भी मनन के फल का विचार (विवेचन) अर्थात् हिसाब किया जाये ॥२॥ देखो मनुष्यो ! ऐसा अर्थात् इतने महत्त्व का निरंजन ईश्वर का नाम है। यदि कोई मनन करे, जाने, कौन मनन करता है? विरला कोई मनन करता है ॥३॥१२॥

"ईश्वरनाममननपर्व" ॥१३॥

"मन्ने सुरत होवे मन बुद्ध । मन्ने सगल भवन की सुद्ध ॥ १ ॥ मंन्ने मुंह चोटा नै खाए । मन्ने जम के साथ नँ जाए ॥ २ ॥ ऐसा नाम निरंञ्जन होएँ । जे को मन्न जाने, मन कोएँ" ॥ ३ ॥१३॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नो मननेन मनासि सुष्टुवृत्तयो वोभूयन्ते, व्यवसायात्मिका बुद्धिरुत्पद्यते । ईश्वरनाम्नो मननेन सकलानां भुवनानां भूगोलानां यथार्थं ज्ञानम् उपजायते ॥१॥ ईश्वरनाम्नो मननेन मुखे लोकापवाद-दण्डाभिघातं न खादति । ईश्वरनाम्नो मननेन यमेन सार्धं न गच्छति, न जंजन्यते न मरीम्रीयते ॥२॥ पश्यत जनाः ! ईदृशं निरञ्जनस्य निर्मलस्येश्वरस्य नाम भवति । यदि कश्चित् मन्वीत, जानीत, को मनुते ? विरलः कोऽपि मनुते ॥ ३ ॥ १३ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम मनन करने से मन में अच्छी वृत्तियां [अच्छे ख्याल] उत्पन्न होती हैं, निश्चयरूप बुद्धि उत्पन्न होती है । ईश्वर का नाम मनन करने से सम्पूर्ण भुवनों का अर्थात् सभी भूगोलों का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १ ॥ ईश्वर का नाम मनन करने से मुख पर लोगों के अपवादरूपी दण्डों की चोटां नहीं खाता । ईश्वर का नाम मनन करने से यम के साथ नहीं जाता अर्थात् वारंवार जन्म मरण नहीं पाता ॥२॥ देखो मनुष्यो ! ऐसा अर्थात् इतने महत्त्व का निरंञ्जन ईश्वर का नाम है । यदि कोई मनन करे, जाने, कौन मनन करता है, अर्थात् विरला कोई मनन करता है ॥ ३ ॥ १३ ॥

"ईश्वरनाममननपर्व" ॥ १४ ॥

"मन्ने मारग ठाक न पाए। मन्ने पत सिओ परगट जाए ॥१॥ मन्ने मगन चल्ले पन्थ । मन्ने धर्म सेती सनबंध ॥ २ ॥ ऐसो नाम निरञ्जन होए। जे को मन्न जाने, मन कोए" ॥ ३ ॥ १४ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नो मननेन धर्ममार्गे कर्मयोगे स्थागं=निरोधं-संशय-विपर्ययलक्षणं प्रतिरोधं न प्राप्नोति । ईश्वरनाम्नो मननेन प्रतिष्ठया सह प्रकटो जायते=लोकप्रसिद्धिं लभते ॥ १ ॥ ईश्वरनाम्नो मननेन धर्मपथे कर्ममार्गे मग्नः=समाहितः चलति । ईश्वरनाम्नो मननेन धर्मबन्धुभिः सार्धं धार्मिकः सम्बन्धो दृढीभवति॥२॥ पश्यत जनाः! ईदृशं निरञ्जनस्य निर्मलस्येश्वरस्य नाम भवति । यदि कश्चित् मन्वीत, जानीत, को मनुते ? विरलः कोऽपि मनुते ॥३॥१४॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम मनन करने से धर्म के मार्ग कर्मयोग में संशय-विपर्ययरूपी रोक को नहीं पाता। ईश्वर का नाम मनन करने से, प्रतिष्ठा के साथ लोक में प्रकट होता अर्थात् लोकप्रसिद्धि को पाता है ॥ १ ॥ ईश्वर का नाम मनन करने से धर्म के मार्ग कर्मयोग में मग्न हुआ अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ चलता है। ईश्वर का नाम मनन करने से धर्म-भाईयों के साथ धर्म का सम्बन्ध दृढ़ होता है ॥२॥ देखो मनुष्यो! ऐसा अर्थात् इतने महत्त्व का निरञ्जन ईश्वर का नाम है। यदि कोई मनन करे, जाने, कौन मनन करता है अर्थात् विरला कोई मनन करता है ॥ ३ ॥ १४ ॥

"ईश्वरनाममननपर्व" ॥ १८ ॥

"मन्ने पावे मोख द्वार । मन्ने परवारे साधार ॥१॥
मन्ने तरे तारे गुरु सिक्ख । मन्ने नानक भवे न भिक्ख २
ऐसा नाम निरंजन होए । जे को मन्न जाने, मन कोए"॥३॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरनाम्नो मननेन मोक्षस्य द्वारं ज्ञानं प्राप्नोति । ईश्वरनाम्नो मननेन परिवारं कुटुम्बं साधारं सनाथं करोति ॥१॥ ईश्वरनाम्नो मननेन स्वयं भवसागरं तरति, गुरुः उपदेष्टा भवन् शिष्यान् तारयति । ईश्वरनाम्नो मननेन भिक्षुर्भूत्वा न भ्रमति, दाता भवति न भिक्षुरिति नानकः पश्यति ॥२॥ पश्यत जनाः ! ईदृशं निरंजनस्य निर्मलस्येश्वरस्य नाम भवति । यदि कश्चित मन्वीत, जानीत, को मनुते ? विरलः कोऽपि मनुते ॥ ३ ॥ १८ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

ईश्वर का नाम मनन करने से मोक्ष के द्वार (दरवाजे) ज्ञान को पाता है । ईश्वर का नाम मनन करने से अपने परिवार को साश्रय (सनाथ) बनाता अर्थात् अपने कुटुम्बियों का सहारा बनता है ॥१॥ ईश्वर का नाम मनन करने से आप संसार सागर से तरता अर्थात् पार होता और गुरु हो कर शिष्यों को तारता (पार करता) है । ईश्वर का नाम मनन करने से भिक्षु हो कर दर-दर नहीं डोलता अर्थात् सदा दाता होता है, भिखमंगा नहीं होता, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ २ ॥ देखो मनुष्यो ! ऐसा अर्थात् इतने महत्त्व का निरंजन ईश्वर का नाम है । यदि कोई मनन करे, जाने, कौन मनन करता है अर्थात् विरला कोई मनन करता है ॥३॥१८॥

भाष्य—ईश्वरनाम के श्रवण का महात्म्य कहा गया । अब उसके मनन का माहात्म्य चार पर्वों में, जिनके सब मन्त्र बारह १२ हैं, कहा

जाता है । मनन शब्द का प्रयोग, जहां जहां शास्त्र में आता है, वहां सर्वत्र उस का अर्थ 'समझना' होता है । यहां, ईश्वर के नाम को सुन कर उस के अर्थ नामी ईश्वर के स्वरूप का 'अच्छी तरह समझना, ईश्वरनाम के मनन का अर्थ अभिप्रेत है । जो मनुष्य सावधान हुआ अर्थज्ञानपूर्वक जगत्कर्ता ईश्वर के नाम का उच्चारण करता अथवा दूसरे का उच्चारण किया हुआ सुनता है और फिर उस के अर्थ नामी ईश्वर के स्वरूप का मनन करता अर्थात् साधक बाधक युक्तियों को उपयोग में ला कर उस (ईश्वर) के स्वरूप को अच्छी-तरह समझता है और श्रद्धाभक्ति के साथ उस में निमग्न हुआ रात्रिन्दिवा कर्तव्य-बुद्धि से कर्मों को करता है, उसको वह सब फल प्राप्त होता है, जो मनन के चारों पर्वों में कथन किया है। चारों पर्वों के मन्त्रों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है, भाष्य आवश्यक नहीं ॥ १२ ॥ १५ ॥

श्रवणं मननं नाम्नो, विश्वयोनेर्दिवानिशम् ।
यच्छतोऽनेकशः सिद्धीः, हर्षं चात्मसुखावहम् ॥१॥
यां यां ते यच्छतः सिद्धिं, सा सर्वेहोपदिश्यते ।
गुरुणा श्रीमता सैषा, ज्ञानदृष्ट्याऽवलोक्यते ॥२॥

"ईश्वरमहिमाख्यानपर्व ॥१६॥

"[१]पञ्च [२]परवाण, [३]पञ्च [४]परधान । [५]पञ्चे [६]पावे [७]दरगह [८]मान ॥१॥ [९]पञ्चे [१०]सोहे [११]दर [१२]राजान । [१३]पञ्चा का [१४]गुरु [१५]एक [१६]ध्यान ॥२॥ [१७]जे [१८]को [१९]कहे [२०]करे [२१]वीचार । [२२]करते के [२३]करने [२४]नाही [२५]सुमार ॥३॥ [२६]धौल [२७]धर्म [२८]दया का [२९]पूत । [३०]संतोख [३१]थाप [३२]रखिआ [३३]जिन [३४]सूत ॥४॥ [३५]जे [३६]को [३७]बूझे [३८]होवे [३९]सच्यार । [४०]धवले [४१]ऊ र [४२]केता [४३]भार ॥५॥ [४४]धरती [४५]होर [४६]परे [४७]होर [४८]होर । [४९]तिस ते [५०]भार [५१]तले [५२]कवन [५३]जोर ॥६॥ [५४]जीअ [५५]जात [५६]रंगा के [५७]नाव । [५८]सभना [५९]लिखिआ [६०]वुड़ी [६१]कलाम ॥७॥ [६२]एह [६३]लेखा [६४]लिख [६५]जाने [६६]कोए । [६७]लेखा [६८]लिखिआ [६९]केता [७०]होए ॥८॥ [७१]केता [७२]ताण [७३]सुआलिह

रूप । केती दात जाने कौन कूत ॥९॥ कीता पसाओ एको कुवाओ । तिसँ-ते होए लख दरियाओ ॥१०॥ कुदरत कवन कहा वीचार । वारिआ न जावा एक वार ॥११॥ जो तुध भावे साई भली कार । तू सदा सलामत निरंकार ॥१२॥१६॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

पञ्चैव अन्त्यजपञ्चमाः चत्वारो वर्णाः, प्रमाणाः प्रमाणवन्तः प्रामाणिकाः श्रवणमननाधिकारिणः, पञ्चैव प्रधानाः मुख्याः, कर्मभेदेऽपि समाः । पञ्चैव स्वं-स्वं कर्म कुर्वाणाः ईश्वरस्य दर्शनीयगेहे मानं सत्कारं प्राप्नुवन्ति, विन्दन्ति ॥१॥ पञ्चैव राज्ञां दरे द्वारे राज्यकार्ये नियुक्ताः यथाधिकारं शोभन्ते । पञ्चानां तेषाम् एकस्य गुरोः ईश्वरस्य ध्यानं=प्रणिधानम् उपासनं समानो धर्मः ॥२॥ यदि पञ्चानां तेषां कश्चिद् ईश्वरस्य जगद्रचनाशक्तिविषयं किञ्चित् कथयेत्, विचारं कृत्वा कथयेत् । यतो जगत्कर्तुः ईश्वरस्य रचनाकर्मणो=रचनाशक्तेः गणना=इयत्ता नहि अस्ति॥३॥ पश्यत जनाः!एक एष धवलो वृषभः सूर्यो, यस्य धर्मः शक्तिराकर्षणं,द्योः=द्युलोकस्य पुत्रोऽपत्यं,येन चित्तमिव सन्तोषेण,सर्वमिदं भूमिमण्डलं सूत्रेण सूत्रकल्पेन आकर्षणशक्तिनाम्ना धर्मेण आत्मपरिधौ संस्थाप्य रक्षितम्॥४॥ यदि कश्चिद् बुध्येत,ससेश्वरनिष्ठो भवेत् । विज्ञायते ? अस्य द्योपुत्रस्य धवलस्य वृषभस्योपरि सर्वभूमिमण्डलधारणलक्षणो भारः कियान् अस्ति ॥५॥ नहि इयमेव भूमिः, अस्ति अस्याः परम् अपरा, ततोऽपि परम् अपराऽपरा मङ्गलबुधशनैश्चरशुक्रादिनाम्नी भूमिः । यस्योपरि सर्वेषामेषां भूमिमण्डलानां भारः, तद्धारवतस्तस्याधः सर्वभारवोढ्री शक्तिः ईश्वरादन्या काऽस्ति ? ॥६॥ जीवानां जीवभेदानां मनुष्याणां नानाजातीनां ये ऋषयो नानावर्णाःनाना-

नामानः, तैः सर्वैः बृहत्यां वेदनाम्न्यां वाण्याम् अलेखि ॥ ७ ॥ अस्येश्वरस्य रचनाशक्तेः इयत्तायाः लेखः को लिखितुं जानीते, लिखितोऽपि च लेखः कियान् भवेत् ॥ ८ ॥ पश्यत जनः ! एष जगद्विस्तारः कियान्, तत्र च विविधानां जीवानां शृङ्गारितानि विलक्षणानि रूपाणि शरीराणि कियन्ति, कियती चोपभोग्यपदार्थानां दातिः, तदेतत् सर्वं को जानीते, कस्य ज्ञातुं शक्तिरस्ति ॥ ९ ॥ नूनं तेन ईश्वरेण एकयैव सङ्कल्पशक्त्या सर्वः एष प्रसार कृतः=प्रसारितः, निखिलो जगद्विस्तारो विस्तारितः । ततः एव च एकस्याः सङ्कल्पशक्तेः लक्षाः=असंख्याकाः समुद्राः=अन्तारिक्ष-लोकाः द्युलोकाश्चाभूवन् ॥ १० ॥ कमीश्वरस्य महिमानं=सृष्टि-निर्माणशक्तेर्विस्तारं विचारं विचारं=स्मारंस्मारं कथयानि। अहं तु महामहिम्नस्तस्य एकस्माद् वालादपि आत्मानं वारयितुं न योग्योऽस्मि ॥११॥ तस्माद् ब्रवीमि—हे निराकार ! सगुणो भवन् निर्गुण ! यत् तुभ्यं रोचते , रुचिकरं वोभूयते, सा एव भद्रा क्रिया । त्वं सर्वदा निर्दोषोऽसि ॥ १२ ॥ १६ ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

पांचों अर्थात् पांचवां अन्त्यज और ब्राह्मणादि चारों वर्ण, ईश्वर का नाम सुनने और मनन करने के सदा अधिकारी परवान अर्थात् प्रमाणसिद्ध हैं, पांचों प्रधान (मुख्य) अर्थात् कर्तव्य कर्म का भेद होने पर भी आपस में समान हैं(कोई ऊंच नहीं, कोई नीच नहीं)। पांचों ही अपना अपना कर्तव्य कर्म करते हुए ईश्वर के दर्शनीय घर में मान को पाते अर्थात् सत्करणीय होते हैं ॥ १ ॥ पांचों ही राजों महाराजों के द्वार में यथाधिकार राज्यकार्यों को करते हुए सोहते अर्थात् शोभा को पाते हैं। पांचों का एक जगद्गुरु ईश्वर का ध्यान (उपासना) करना समान (एकसा) धर्म है ॥२॥

यदि इन पाचों में से कोई ईश्वर के रचना-कर्म अर्थात् रचना-शक्ति के सम्बन्ध में कुछ कहे, तो विचार करे अर्थात् समझ सोच कर, कुछ कहे। क्योंकि जगत्कर्ता ईश्वर के रचनाकर्म की अर्थात् रचनाशक्ति की गिनती अर्थात् इयत्ता (हद) नहीं है ॥३॥ देखो मनुष्यो ! यह आकर्षण-शक्तिरूपी धर्मवाला द्युलोक का पुत्र वृषभ अर्थात् पृथिवी का सींचनेवाला धौलरूपी सूर्य, जिसने इस संपूर्ण (सारे) भूमिमण्डल को अपने आकर्षणशक्तिरूपी धर्म नाम के सूत्र से बांध कर उस की परिधि के अन्दर ऐसे ठहराये रखा हुआ है, जैसे कोई साधु या सन्त-जन सन्तोषरूपी सूत्र से चित्तरूपी वान्दर को बांध कर उसकी परिधि के अन्दर ठहराये रखता है॥४॥ यदि कोई इसे समझे, तो अवश्य सच्यार अर्थात् सत्य ईश्वर में मन की निष्ठा वाला, होवे । जानते हो, इस द्युलोक के पुत्र धौल अर्थात् वृषभ, सूर्य के ऊपर सम्पूर्ण भूमिमण्डलों को धारण करके थामे रखने का भार कितना है ? ॥ ५ ॥ यही एक भूमिमण्डल नहीं है, इस से परे और, उससे परे और और मंगल, बुध, बृहस्पति, शनैश्चर, शुक्र आदि नाम के अनेक भूमिमण्डल हैं । जिसके ऊपर इन सब भूमिमण्डलों को अपनी अपनी परिधि के अन्दर ठीक ठीक ठहरा कर रखने का भार है, उसको और उसके इस भार को उठाने वाली शक्ति नीचे कौन है ? अर्थात् उस एक महाशक्ति प्रभु ईश्वर के सिवा दूसरी और कौन शक्ति हो सकती है ॥६॥ नानाप्रकार की मनुष्यजाति में अनेक वर्णों के और अनेक नामों के ऋषि हुए हैं, उन सबने वेद-नाम की बड़ी बाणी में लिखा है॥७॥ कि इस ईश्वर की रचनाशक्ति की इयत्ता का लेखा अर्थात् हिसाब, कौन लिखने जानता अर्थात् कौन लिख सकता है। और लिखा हुआ लेखा भी कितना होगा ॥ ८ ॥ देखो मनुष्यो ! इस जगत

का विस्तार कितना है, उस में अनेक प्रकार के जीवों अर्थात् प्राणियों के संवारे हुए अनेक प्रकार के शरीर कितने हैं और उन्हें ईश्वर के दिये हुए उपभोग्य पदार्थ (वस्तु) कितने हैं । यह सब कौन जानता है और किस में उसके जानने की शक्ति है ॥९॥ निःसन्देह उस ईश्वर ने एक ही सङ्कल्पशक्ति से यह सब पसार किया अर्थात् यह सब पसार पसारा है और उसकी उसी एक सङ्कल्पशक्ति से लाखों समुद्र अर्थात् असंख्यात अन्तरिक्षलोक और द्युलोक उत्पन्न हुए हैं ॥१०॥ मैं उस ईश्वर की किस किस महिमा को अर्थात् सृष्टिनिर्माणशक्ति के विस्तार को विचार कर अर्थात् स्मरण कर कर कहूं। मैं तो उस महामहिमा वाले जगद्गुरु ईश्वर के एक वाल से भी अपने आप को वारने के योग्य नहीं हूं ॥ ११ ॥ इसलिये कहता हूं कि हे निरांकार=अर्थात् हे-सगुण होकर निर्गुण ! जो तुझे भाता अर्थात् रुचता है, वही भली कार अर्थात् भली क्रिया है। तूं सदा निर्दोष है ॥१२॥१६॥

भाष्य—ईश्वरनाम के श्रवण और मनन का महात्म्य, चार चार पवा में कहा गया। अब उस का माहात्म्य इतना क्यों है और उसका अधिकारी कौन है,इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिये अगले चार पर्वों का आरम्भ है। इन चारों का नाम "ईश्वरमहिमाख्यानपर्व" और मन्त्रोंकी संख्या यथाक्रम वारह१२ छे६ पांच ५ और आठ८ अर्थात् इकतीस३१ है। जो ईश्वर,स्वरूप से अचिन्त्य है,जिसकी महिमा अर्थात् सृष्टिनिर्माणशक्ति का विस्तार अचिन्त्य है, उस के नाम के श्रवण और मनन का माहात्म्य जितना कुछ कहा जाये, उतना ही युक्त है, उस में पर्यनुयोग(विपरीत-प्रश्न)को यत्किञ्चित् भी अवकाश नहीं। ईश्वर और ईश्वरकी अचिन्त्य महिमा के जानने की इच्छा जैसे मनुष्यमात्र में समान है,वैसे ईश्वर के नाम के श्रवण और मनन की अभिलाष भी मनुष्यमात्र में तुल्य है, इसलिये ईश्वर और ईश्वर की महिमा के जानने का अधिकारी जैसे मनुष्यमात्र है,वैसे उसके नाम के सुनने और मनन करने का अधिकारी भी मनुष्यमात्र है। मन्त्रकाल से मनुष्यमात्र का विभाग पांच

श्रेणियों में किया जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज, ये उन पांचों श्रेणियों के नाम हैं। जो विद्वान् हैं, उन का नाम ब्राह्मण, जो योद्धा हैं, उन का नाम क्षत्रिय, जो व्यापारी, कृषिकर तथा पशु-पालक हैं,उनका नाम वैश्य,जो कर्मकर अर्थात् सेवा तथा शिल्प आदि कर्मों के करने वाले हैं, उनका नाम शूद्र और जो मृत पशुओं के चर्म उतारने वाले, रंगने वाले तथा मल-मूत्र के उठाने वाले हैं, उनका नाम अन्त्यज है। ये सब नाम पारिभाषिक (सांकेतिक) हैं, औत्पत्तिक नहीं। ऋक्संहिता के मन्त्रों में इन पांचों श्रेणियों को "पञ्चजन" शब्द से कहा है और निरुक्त के कर्ता यास्कमुनि ने इस "पञ्चजन" शब्द का "चत्वरो वर्णाः निषादः पञ्चमः" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,शूद्र और पांचवां निषाद अर्थात् अन्त्यज(निरु० ३।८),यही परम्परागत अर्थ लिखा है। इसलिये मनुष्यमात्र का विभाग पांच श्रेणियों में ही ठीक है, और यह कण्व के पुत्र शशकर्ण ऋषिके निम्न मन्त्र से स्पष्ट सिद्ध है—

"यद् अन्तरिक्षे यद् दिवि, यत् पञ्च मानुषान् अनु। नृम्णं तद् धत्तम् अश्विना" (ऋ० ८।९।२)।

अर्थ— जो स्वास्थ्य-धन अन्तरिक्ष लोक में है, जो द्युलोक में है, जो पांचों मनुष्यों में अर्थात् मनुष्यों की पांचों श्रेणियों में है,वह धन हे-अश्वियो ! आप हमें दें॥ २॥

यहां मित्रावरुण के पुत्र वसिष्ठ ऋषि का मन्त्र (ऋ० ७।७९।१) भी प्रमाण रूप से उद्धृत करने योग्य है—

"वि उषाः आवः पथ्या जनानां, पञ्च क्षितीर्मानुषी बोधयन्ती"।

अर्थ—मनुष्य मात्र को मार्ग दिखाने वाली उषा,पांचों श्रेणियों की मनुष्य प्रजा को जगाती हुई प्रकट होती है॥ १॥

ऋक्संहिता में वसिष्ठ ऋषि की नाईं दूसरे ऋषियों के भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं,जिन से पांच श्रेणियों में मनुष्यमात्रका विभाग नितान्त स्फुट है, परन्तु विस्तार के भय से उन सब मन्त्रों का उद्धृत करन यहां उचित नहीं समझा गया।

जहां ऋक्संहिताके "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" (ऋ०१०।९०।१२) मन्त्र म मनुष्यमात्र का विभाग ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य, और शूद्र नाम की चार

श्रेणियों में किया है,वहां अन्त्यज का चारों श्रेणियों में अन्तर्भाव मान लिया गया है, इसलिये मन्त्रों का आपस में विरोध नहीं ।

मन्त्रकाल में यज्ञों के करने का अधिक प्रचार था और वे बड़े समारोह से किये जाते थे । हर एक यज्ञकर्ता अपने यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये पांचों श्रेणियों के मनुष्यों को निमन्त्रण दिया करता था और वे सब निमन्त्रण के अनुसार आते और मिलकर यज्ञ कर्म किया करते थे, उन में कोई छोटा या बड़ा,उत्तम अथवा नीच, नहीं समझा जाता था, यह ऋक्संहिता के मन्त्र से स्पष्ट है । मन्त्र यह है—

"पञ्च-जना: मम होत्रं जुषन्तां, गोजाता: उत ये यज्ञियास: ।
पृथिवी न: पार्थिवात् पातु अंहस:,अन्तरिक्षं दिव्यात् पातु अस्मान्"।

अर्थ—पृथिवी माता के पुत्र, पांचों जन मेरे यज्ञ का सेवन करें अर्थात् मेरे यज्ञ में पधारें और जो यज्ञ के देवता हैं, वे भी मेरे यज्ञ का सेवन करें । पृथिवी हमारी रक्षा करे पृथिवी में होने वाले अपने भाईयों के अपमानरूपी पाप से और द्युलोक हमारी रक्षा करे देवताओं के अपमानरूपी पाप से (ऋ० १० । ५३ । ५) ।

यज्ञकर्म की समाप्ति में पूर्णाहुति नाम की एक आहुति दी जाती है और उसे यज्ञ में पधारे-हुए पांचों श्रेणी के मनुष्य मिलकर देते हैं । देने का प्रकार यह है कि पहले हर एक मनुष्य के हाथ में थोडी थोडी हवनसामग्री दी जाती है,पीछे अध्वर्यु नाम का ऋत्विज् अथवा यज्ञ के कराने में मुखिया पुरुष, जिस समय "सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा" मन्त्र को बोल कर अपने हाथ के पात्र की सब सामग्री अग्निकुण्ड में डालता है, उसी समय हर एक मनुष्य भी अपने अपने हाथ की सब सामग्री अग्निकुण्ड में डालता है,उससे अग्नि बड़ी प्रज्वलित होती है । प्रज्वलित हुई हुई अग्नि की लम्बी तथा ऊंची ज्वाला को देख कर यज्ञकर्ता और दूसरे सब मनुष्य बडे प्रसन्न होते हैं । यह सब कुछ अपनी आंखों से देखते हुए ही भलंदन के पुत्र वत्सप्रि ऋषि ने यह मन्त्र पढ़ा है—

"विश्वस्य केतु: भुवनस्य गर्भ:, आ रोदसी अपृणाज्जायमान: ।
वीळुं चिद् अद्रिमभिनत् परायन्,जना: यद् अग्निमयजन्त पञ्च"।

अर्थ—सब जगत् का प्रकाशने वाला, सब पदार्थों (वस्तुओं) के अन्दर वर्तमान अग्नि, प्रकट हुआ अर्थात् देदीप्यमान हुआ द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनों को भर देता है और दूर तक जाता हुआ दृढ पर्वत (मेघ) को भी छिन्न भिन्न कर देता है, जब पांचों जन पूर्णाहुति से अग्नि का पूजन करते हैं (ऋ० १० । ४५ । ६)।

तैत्तिरीयसंहिता के श्रुतिवाक्य (मन्त्र) में जो यह लिखा है कि "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" अर्थात् शूद्र यज्ञ में असमर्थ है (तै०सं० ७।१।१), वह धनहीनता की दृष्टि से लिखा है, शूद्रता की दृष्टि से नहीं लिखा। क्योंकि वेद की दृष्टि में ब्राह्मण से अन्त्यज-पर्यन्त सब मनुष्य बराबर हैं, सभी प्रामाणिक हैं, और सभी अपने अपने कर्मों को कर्तव्यबुद्धि से करते हुए ईश्वर के दर्शनीय घर में वैसे ही सत्कार (आदर) को पाते हैं, जैसे यहां राजा महाराजाओं के घरों में अपने अपने अधिकृत कर्मों को करते हुए आदर को लभते और शोभा को पाते हैं। निःसन्देह वे सब, एक ईश्वर के पुत्र हैं और एक ईश्वर की उपासना करना, उन सब का एक-सा धर्म है। बस यही निश्चित वेदसिद्धान्त है और यही श्रीगुरु नानकदेव जी का उपदेश है । उपदेश का आकार है—"पञ्च परवाण, पञ्च प्रधान"। यहां प्रमाण का उच्चारण परवाण है, जैसे परिणाम का "वरिमाण"(ऋ०८।४२।१) उच्चारण और पञ्च का अर्थ पञ्चजन है ॥ ३ ॥

"धौल धर्म दया का पूत। सन्तोख थाप रखिआ जिन सूत"॥४॥

धौल का संस्कृतरूप धवल और अर्थ वृषभ अर्थात् बलीवर्द (बल्द) है। बलीवर्द, वीर्य से गौ को और सूर्य, पानी से पृथिवी को सींचता है, इसलिये बलीवर्द (बल्द) और सूर्य, दोनों को वृषभ कहते हैं। यहां धौल के पर्याय वृषभ से केवल सूर्य विवक्षित है, बलीवर्द विवक्षित नहीं। धर्म से यहां सूर्य का आकर्षण-धर्म अभिप्रेत है, सामान्यधर्म किंवा वर्णाश्रम-धर्म अभिप्रेत नहीं। " सुपां सु-लुक-पूर्वसवर्ण-आ-आत्-शे-या-डा-ड्या-याज्-आलः" (अष्टा० ७।१।३९) सूत्र से प्रथमा विभक्ति के स्थान में डा (आ) आदेश हो जाने पर "द्यौः" का "द्या"

रूप बनता है, जैसे "अग्नौ" का "अग्ना" (ऋ० १ । ५९ । ३) रूप । गुरुभाषा की लेखशैली से यहां द्या ही "दइआ" (दया) लिखा गया है। द्या का अर्थ द्युलोक और उसका मूल शब्द गो-शब्द की नाईं 'द्यो' है। पुत्र का उच्चारण पूत और सूत्र का उच्चारण सूत है, जैसे "दममना" का उच्चारण "दमूना" (ऋ० ५।४।५) है। सन्तोष लुप्तोपमा-पद है। जैसे साधु सन्त्य महात्मा, सन्तोषरूपी सूत्र (रस्सी) से वांदर-रूपी मन को बांध कर अपनी परिधि के अन्दर ठहराये रखते हैं, वैसे आकर्षण-शक्तिरूपी धर्म-वाला, द्युलोक का पुत्र, धौल अर्थात् वृषभ (साण्ड) सूर्य, आकर्षणशक्तिरूपी सूत्र से समस्त भूमिमण्डल को बांध कर उसकी अपनी परिधि के अन्दर ठहराये रखे हुआ है, यह "धौल धर्म" मन्त्र का अर्थ है। सूर्य को द्युलोक का पुत्र, ऋक्संहिता के मन्त्र में कहा है—

"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे, महो देवाय तदृ ऋतं सपर्यत ।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे, दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत" ॥

अर्थ—नमस्कार है मित्र और वरुण के नेत्र को अर्थात् दिन और रात्रि के लाने वाले को, सब से बड़े देव को, हे मनुष्यो ! उस ऋत को अर्थात् अपने नियम में अटल, जल के दाता को पूजो। और दूर से देखने वाले, देवताओं को प्रकट करने वाले तथा सब को प्रकाशने वाले उस द्युलोक के पुत्र सूर्य की प्रशंसा करो (ऋ० १०।३७।१)। निरुक्त के कर्ता यास्कमुनिने वृषभ का अर्थ "वर्षिताऽपाम्" अर्थात् जल का वरसने वाला, या यों कहो कि वृष्टिजल से पृथिवी का सींचने वाला (निरु० ४।८) किया है। सूर्य वर्षा करता है, यह तैत्तिरीयसंहिता के श्रुतिवाक्य में कहा है। श्रुतिवाक्य यह है—

"यदा खलु वै असौ आदित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते, अथ वर्षति' अर्थात् जब ही निश्चय वह सूर्य अपनी रश्मियों के (विश्वेदेवों के) सहित नीचे की ओर अर्थात् मध्यरेखा से दक्षिण की ओर घूमता है, तब बरसता है (२ । ४ । १०)। वृष्टिजल से पृथिवी का सींचना ऋक्संहिता के मन्त्र में भी कहा है। मन्त्र यह है—

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः अपो वसानाः दिवमुत्पतन्ति।
ते आववृत्रन् सदनादृतस्य, आदिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते"।

अर्थ—उत्तर अयन के समय (मध्यरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की गति के समय) जल के हरने (बल से ले जाने) वाली जो सूर्य की रश्मियां (किरणां) जल को ढांप कर (अपने अन्दर छिपा कर) ले जाती हुई, द्युलोक में जाती हैं। वे कृष्ण (काले) अर्थात् दक्षिण नाम के नीचले अयन के समय (मध्यरेखा से दक्षिण की ओर सूर्य की गति के समय) जल के घर द्युलोक से जब लौटती (भूमि की ओर आती) हैं, तब निश्चय जल से (वृष्टिजल से) पृथिवी गीली होती अर्थात् सींची जाती है (ऋ० १।१६४।४७)। यहां वृष्टि के सम्बन्ध में मनुस्मृति का यह श्लोक भी पढने योग्य है—

"अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यग्, आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" (मनु० ३।७६)।

अर्थ—अग्नि में अच्छी तरह अर्थात् यथाविधि डाली हुई आहुति सूर्य में पहुंचती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और उस (अन्न) से अनेक प्रकार की प्रजा होती हैं॥ ७६॥ वृष्टि-जल से पृथिवी का सींचने वाला होने से सूर्य का नाम वृषभ है, यह समझते हुए ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने मन्त्रों में सूर्य को अनेक बार वृषभ कहा है। उन में से नीचे का एक मन्त्र ध्यान में रखने योग्य है—

"यः उदगात् महतो अर्णवाद्, विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यात्।
स मा वृषभो लोहिताक्षः, सूर्यो विपश्चित् मनसा पुनातु"।

अर्थ—जो उदय होता है बड़े समुद्र से खूब चमकता हुआ, सलिल अर्थात् पानी (अन्तरिक्ष) के मध्य में (आकाश के अन्दर)। वह विश्व का जानने वाला, लाल आंखों (किरणों) वाला वृषभ (बलीवर्द) सूर्य, मुझे मन से तथा शरीर से पवित्र करे अर्थात् मेरे मन और शरीर को शुद्ध करे (तै० आ० ४। ४२। ३३)।

वृषभ के सम्बन्ध में ऋक्संहिता का "स रोरुवद् वृषभस्तिग्मशृंगो वर्ष्मन् तस्थौ वरिमन् आ पृथिव्याः" अर्थात् वह शब्द करता

हुआ तीखे सींङ्गों (किरणों) वाला, वृषभ,पृथिवी से बहुत ऊंचे वृष्टि के स्थान द्युलोक में ठहरा हुआ है(ऋ०१०।२८।२)यह मन्त्र भी स्मरण रखने योग्य है। धवल (धौल)की नाईं वृषभ का दूसरा पर्याय उक्षा और अनड्वान् है। उनके सम्बन्ध में ऋक्संहिता और अथर्वसंहिता के "उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति" अर्थात् वह सांण्ढ (साण्ड) द्यौ और पृथिवी, दोनों को धारण करता (थामे रखता) है (ऋ० ९ । ३१८) "अनड्वान् दाधार पृथिवीम् उत द्याम्" अर्थात् बैल ने धारण किया हुआ (थामा हुआ) है, पृथिवी और द्यौ को (अथर्व० ४ । ९१ । १), ये दो मन्त्र भी भूलने योग्य नहीं हैं ॥ ४ । ५ ॥

"धरती होर परे होर होर । तिस ते भार तले कवन जोर" ॥६॥ धरित्री का उच्चारण धरती और अर्थ पृथिवी है। सूर्य केवल इस एक पृथिवीमण्डल को ही अपने आकर्षणशक्तिरूपी धर्म से थामे हुआ नहींहै किंतु इस पृथिवीसे परे जो शुक्र,शनैश्चर,बृहस्पति आदि नाम की दूसरी पृथिवियां हैं, उन सब को भी अपने आकर्षणशक्तिरूपी धर्म से थामे हुआ है। यह सब देखते हुए ही दीर्घतमा ऋषि ने कहा है "तस्मिन् आतस्थुः भुवनानि विश्वा" अर्थात् उस सूर्य के सहारे ही अपनी अपनी परिधि के अन्दर ठहरे हुए हैं सब भूमिमण्डल (ऋ०१।१६४।१३)।

सूर्य एक बृहत् तेजोमण्डल है और उस की आकर्षण-शक्ति, असीम (बेहद) है। वह इस पृथिवीमण्डल से चार करोड़ पैंसठ लाख ४६५००००० मील दूर है। उसका व्यास पृथिवीमण्डल के व्यास से आठगुणा अर्थात् चार लाख तैंतीस हजार ४३३०००मील है। घन फल के हिसाब से देखें,तो जितना स्थान सूर्यमण्डल घेरे हुए है,उतनेस्थान में इस पृथिवीमण्डल जैसे बारह लाख पचास हजार १२५०००० मण्डल आवेंगे। भारतीय ज्योतिःशास्त्र में सूर्य को ग्रह माना है, पर वह ग्रह नहीं, मुख्यमण्डल है। पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, आदि सब मण्डल उसके अनुचर ग्रह हैं और उसकी आकर्षणशक्ति से अपनी अपनी परिधि के अन्दर थामे हुए सदा उसके इरद गिरद चक्र लगाते, या यों कहो कि सदा उसकी परिक्रमा करते हैं। वह इन सब

अनुचर ग्रहों को अपनी आकर्षणशक्ति से नियत परिधि के अन्दर ठहराये हुआ किसी दूसरे सूर्य की परिक्रमा करता है। यह अपने मनो-नेत्र से देखते हुए ही शुनःशेप ऋषि ने यह मन्त्र उच्चारण किया है—

"उरुं हि राजा वरुणश्चकार, सूर्याय पन्थाम् अन्वेतवै उ।
अपदे पादा प्रतिधातवै अकः, उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्" ॥

अर्थ—सब के राजा वरुण ने अर्थात् दुःखों को निवारन (दूर) करने वाले ईश्वर ने निश्चय सूर्य के लिये और उसके पीछे पीछे चलने वाले दूसरे ग्रहों के लिये विस्तृत मार्ग को बनाया है। पांव जहां (आकाश में, जल में) नहीं टिकता, वहां पांव टिकाने के लिये व्योमयान आदि साधनों को बनाया है, जो (वरुण) हृदय को बींधने वाले (दिल के दुखाने वाले) अनृत, कटु-भाषण आदि कर्मों का निःसन्देह निषेध करने वाला है (ऋ १ । २४ । ८) ।

जैसा यह एक सूर्य है, ऐसे सूर्य अनन्त हैं और अनन्त ही उन की परिक्रमा करने वाले ग्रह अर्थात् भूमिममण्डल हैं और उन ग्रहों के इस चन्द्रमा जैसे अनन्त ही उपग्रह (चन्द्रमा) हैं। वे सब एक सत्य ईश्वर की शक्ति में बंधे हुए अपनी अपनी परिधि के अन्दर ठहरे हुए लगातार अपने अपने काम को करते हैं। यह सब ईश्वर की लीला है, यह सब उस की महिमा है। या यों कहो कि उस की सृष्टिनिर्माणशक्ति का यह थोड़ा सा विस्तार है। जो मनुष्य इस रहस्य को जानता और समझता है, वह निःसन्देह सच्यार हुआ अर्थात् सब आधारों (आश्रयों) को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर के आधार (आश्रय) हुआ श्रद्धाभक्ति के साथ सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करता और प्रसन्न रहता है, बस यही जपसंहिता के "धरती होर" मन्त्र का आशय है ॥५॥६॥

"सभना लिखिआ वुडी कलाम" ॥७॥ बृहती का पर्याय बृढि और बृढि का उच्चारण गुर्जर-देश की उच्चारण-पद्धति के अनुसार वुडी है। कलाम वाणी का नाम है। यहां वाणी विशेष्य और बृहती उस का विशेषण केवल परिचायक है, अथवा दूसरी सब वाणियों का व्यावर्तक है और दोनों से अभिप्रेत एक वेदवाणी है । ऋक्संहिता के

मन्त्र में वाणी-शब्द का प्रयोग वेद के अर्थ में किया है । मन्त्र यह है-
"उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः"॥

अर्थ—और एक वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है, और एक सुनता हुआ भी इसको नहीं सुनता है। और एक के लिये तो यह (वेदवाणी) अपने शरीर (रहस्य) को खोल देती है, जैसे रति को चाहती हुई, अच्छे वस्त्रोंवाली स्त्री अपने पति के लिये शरीर को खोल देती है (ऋ० १० । ७१ । ४)।

"कीता पसा-ओ एको कवा-ओ । तिसते होय लख दरिआ-ओ" ॥१०॥ यहां अ और उ, दोनों निपातों का समुदाय 'ओ' पदपूरण के लिये उच्चारण हुआ है । प्रसार का संक्षिप्त उच्चारण "पसा" है, जैसे व्रात्याः, का संक्षिप्त उच्चारण "व्राः"(ऋ० ८ ।२।६)। वाक् का विपर्यय उच्चारण "कवा" है, जैसे "नद" का विपर्यय उच्चारण "दन" (ऋ०१।१७४।२), और अर्थ "बहु स्यां प्रजायेय"(तै० उ० २।६) रूपी सङ्कल्प-नाम की वाणी है । वास्तव में "कवा"(कव्वा) का अर्थ शक्ति है और यहां उस से सङ्कल्पशक्ति अभिप्रेत है । इसी लिये संस्कृत-भाषा और हिन्दीभाषा में 'सङ्कल्प नामकी-वाणी' अनुवाद न करके 'सङ्कल्पशक्ति' अनुवाद किया है । पारसी-भाषा में समुद्र का नाम दरिआ (दरिया) है । यहां दरिआ से 'दरिआएआब' विवक्षित है । पारसीभाषा के अनुसार दरिआए-आब का अर्थ 'आकाश' होता है । आकाश-दो भागों में विभक्त है । ऊपरले भाग को द्युलोक और नीचले भाग को अन्तरिक्षलोक कहते हैं। समुद्र दोनों का सांझा नाम है । ऋष्टिषेण के पुत्र "देवापि" ऋषि ने अपने मन्त्र में द्युलोक और अन्तरिक्षलोक, दोनों के लिये समुद्र शब्द का प्रयोग किया है । मन्त्र यह है—

"आर्ष्टिषेणो होत्रम् ऋषिर्निषीदन्, देवापिः देवसुमतिं चिकित्वान् ।
स उत्तरस्मादु अधरं समुद्रम्, अपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि"॥

अर्थ—देवताओं की अच्छी मति को अर्थात् अनुकूल-बुद्धि को

जानता हुआ ऋष्टिषेण (प्रतीप) का पुत्र देवापि ऋषि, यज्ञ में पुरोहित होकर बैठा। और वह ऊपरले समुद्र से वर्षा का निर्मल पानी नीचले समुद्र की ओर लाया (ऋ० १०।९८।५)।

भूमि के समुद्र (नीचले समुद्र) का पानी सूर्य की किरणों के द्वारा द्युलोक में जा कर इकट्ठा होता है और वहां से अन्तरिक्षलोक में मेघ बन कर बरसता है। इसलिये द्युलोक और अन्तरिक्षलोक, दोनों का सांझा नाम समुद्र है। निघण्टु में केवल अन्तरिक्षलोक का नाम समुद्र पढा है (निघं० १।३)। यहां (जपसंहिता के मन्त्र में) समुद्र के वाची पारसीक भाषा के दरिआ (दरिआए आब) शब्द से अन्तरिक्षलोक और द्युलोक, दोनों अभिप्रेत हैं ॥ १० ॥

"कुदरत कवन कहा वीचार। वारिआ न जावा एक वार" ॥११॥

वाल का उच्चारण, जिस का अर्थ केश अथवा रोम है, दो प्रकार से होता है, एक वाल और दूसरा वार। अनेक ऋषियों ने अपने मन्त्रों में वाल की जगह वार उच्चारण किया है। उन में से अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप ऋषि का उच्चारण मन्त्र यह है—

अश्वं न त्वा वारवन्तं, वन्दध्या [वन्दध्यै] अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्" (ऋ० १।२७।१)।

अर्थ—घोड़े की नांईं वालों (किरणों) वाले और यज्ञों में खूब चमकने वाले तुझ अग्नि को हम नमस्कार मन्त्रों से प्रणाम करते हैं ॥१॥

आप महामहिमावाले के एक वाल-बराबर भी मैं नहीं हूं अर्थात् आप सुमेरु हैं, मैं सर्षप भी नहीं हूं, ऐसा कहना यहां "एक वार" से अभिप्रेत है, एक बार कहना अभिप्रेत नहीं ॥ ११ ॥ १६ ॥

———

" ईश्वरमहिमाख्यानपर्व" ॥१७॥

"असंख्य जप असंख्य भाओ। असंख्य पूजा असंख्य तप ताओ ॥१॥ असंख्य ग्रन्थ मुख वेद पाठ। असंख्य जोग मन रहे उदास ॥ २ ॥ असंख्य भगत गुण ज्ञान

वीचार । असंख्य संती असंख्य दातार ॥ ३ ॥ असंख्य सूर मुह भख सार ! असंख्य मोन लिवे लाये तार॥४॥ कुदरत कवन कहा वीचार । वारिआ न जावा एक वार ॥ ५ ॥ जो तुध भावै साई भली कार । तू सदा सलामत निरङ्कार ॥ ६ ॥ १७ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

असंख्याः जपं कुर्वन्ति, असंख्याः देशजनसेवालक्षणां भक्तिं तन्वन्ति । असंख्याः ईश्वरपूजां विदधते, असंख्याः तपः तप्यन्ते ॥ १॥ असंख्याः ग्रन्थतो, असंख्याः मुखतो वेदान् पठन्ति । असंख्याः योगेन मनो निरुन्धन्ति, असंख्याः उदासीनाः विचरन्ति ॥२॥ असंख्याः भक्तानां गुणान् ज्ञानं च विचारयन्ति। असंख्याः सत्यप्रतिज्ञातारः सन्ति, असंख्याः धनतनुदातारो भवन्ति ॥३॥ असंख्याः शूराः सङ्ग्रामेषु लोहमयस्य खड्गस्य भक्ष्यं मुखं कुर्वते । असंख्याः मौनिनः तारवदविच्छिन्नां मौनवृत्तिमालम्बन्ते ॥ ४ ॥ कमीश्वरस्य महिमानं विचारं विचारं कथयानि । अहं तु महामहिम्नस्तस्य एकस्माद् वालादपि आत्मानं वारयितुं न योग्योऽस्मि ॥५॥ तस्माद् ब्रवीमि हे-निराकार ! यत् तुभ्यं रोचते, सैव भद्रा क्रिया । त्वं सर्वदा निर्दोषोऽसि ॥६॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

अनेक गुरुमन्त्र के जप को, अनेक देश तथा जाति की सेवा रूपी भक्ति को करते हैं। अनेक ईश्वर को पूजते और अनेक तप तपते हैं ॥ १ ॥ अनेक पुस्तक से और अनेक मुख से वेदों का पाठ करते हैं । अनेक योग से मन को रोकते (वश में करते) और अनेक उदासीन (विरक्त) हुए विचरते हैं ॥ २ ॥ अनेक, भक्तों के गुणों का और अनेक उनके ज्ञान का विचार (विवेचन)

करते हैं। अनेक सच्ची प्रतिज्ञा करने वाले और अनेक जाति तथा देश के लिये धन और तन (शरीर) के देने वाले हैं ॥३॥ अनेक सूरमें युद्धों में मुख को तलवार का भक्ष्य बनाते अर्थात् मुख पर तलवार के घाव खाते हैं। अनेक मौनी आयुभर लगातार मौन-वृत्ति को लाई रखते अर्थात् आलम्बन किये रहते हैं ॥ ४ ॥ मैं किस किस, ईश्वर की महिमा को विचार विचार कर अर्थात् स्मरण कर कर कहूं। मैं तो उस महामहिमावाले के एक बाल से भी अपने आपको वारने योग्य नहीं हूं ॥५॥ इसलिये कहता हूं कि हे निराकार! जो तुझे भाता अर्थात् रुचता है, वही भली कार (क्रिया) है। तू सदा निर्दोष है ॥६॥

भाष्य—"असंख्य ग्रन्थ मुख वेद पाठ"। निरुक्त के कर्ता यास्कमुनि का कथन (कहना) है कि जो मनुष्य ग्रन्थ से अथवा मुख से वेद का पाठ करता है और उसके अर्थ को भली-भांति जानता है, उस का पाठ करना सफल है और जो उस के अर्थ को नहीं जानता है, वह चाहे मुख से, चाहे ग्रन्थ से वेद का पाठ करे, उसका पाठ करना न करने के बराबर है, परिश्रम-मात्र है, निष्फल है। यास्कमुनि ने अपने इस कथन की पुष्टि के लिये जो मन्त्र उद्धृत किया है, उस का आकार इस प्रकार है—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्,अधीत्य वेदं न विजानातियोऽर्थम्।
योऽर्थज्ञः इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा"॥

अर्थ—गर्दभ है यह भार उठाने वाला निश्चय, जो वेद को पढ़ कर अर्थ को नहीं जानता है। जो अर्थ का जानने वाला है, वह निःसन्देह पूरे कल्याण (लोकसुख) को प्राप्त होता है, वह ज्ञान से परे फेंके हुए पापों वाला, दुःखरहित सुख को प्राप्त होता है॥ १। १८॥

वसिष्ठस्मृति में लिखा है-जो मनुष्य, वेद के अर्थ को भले प्रकार जानता है, और उस पर चलता नहीं अर्थात् आचारहीन है, उस को वेद के पढ़ने का फल नहीं होता। वसिष्ठस्मृति का लेख यह है—

"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः, यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांसि एनं मृत्युकाले त्यजन्ति, नीडं शकुन्ताः इव जातपक्षाः" ॥
(व० स्मृ० ६ । ३)

अर्थ—वेद, आचारहीन (कदाचारी) मनुष्य को नहीं पवित्र करते अर्थात् नहीं अपना फल देते हैं, चाहे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष नामी छे अङ्गों के साथ पढ़े हों । वेद मृत्यु के समय अर्थात् जीवनकाल की नाईं मरनेकाल में भी इसे छोड़ देते हैं, जैसे पंखों के उत्पन्न होने पर पंक्षी घोंसला को छोड देते हैं ॥६।३॥

यहां अत्रिसंहिता के दो श्लोक भी उद्धृत करने योग्य हैं—

"न अस्ति वेदात परं शास्त्रं, न अस्ति मातुः परो गुरुः ।
न अस्ति दानात परं मित्रम्, इह लोके परत्र च" ॥१५२॥

अर्थ— वेद से ऊंचा (बढिया) कोई शास्त्र नहीं है, माता से ऊंचा कोई गुरु नहीं है। दान से ऊंचा कोई मित्र नहीं है, इस लोक में और अगले लोक में ॥ १५२ ॥

"वेदेन हीनाः हि पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः ।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति, भ्रष्टास्ततो भागवताः भवन्ति"॥३८४

अर्थ—वेद से हीन (रहित) अर्थात् जो वेद नहीं पढ सकते, वे निश्चय धर्मशास्त्र(स्मृति)को पढ़ते हैं, धर्मशास्त्र से हीन निश्चय पुराण-पाठी होते हैं। पुराणों से हीन कृषक होते हैं, जो उस से भी भ्रष्ट (गिरे हुए) अर्थात् जो कृषि (खेती) भी नहीं कर सकते, वे भगवान् के सेवक अर्थात् साधु होते हैं ॥ ३८४ ॥

"असंख्य जोग मन रहे उदास" । यहां योग का उच्चारण जोग है। जिस एक वस्तु में चित्त लगा हुआ (खुबा हुआ) है, उस को छोड़ कर किसी भी दूसरी वस्तु में चित्त के न जाने का अथवा किसी भी वस्तु में न लग कर सर्वथा अफुर हो जाने का नाम "योग" है । दूसरी किसी भी वस्तु में न जाकर एक ही वस्तु में लगे हुए चित्त को "एकाग्र" और किसी भी वस्तु में न लग कर सर्वथा अफुर हुए चित्त को "निरुद्ध" कहते हैं । योगियों की परिभाषा में चित्त की

एकाग्रता अवस्था का नाम "सम्प्रज्ञातयोग" और चित्त की निरोध अवस्था का "असम्प्रज्ञातयोग" नाम है। पतञ्जलिमुनि ने योगदर्शन के प्रथम पाद में दोनों प्रकार के योगों का सांझा लक्षण यह किया है-

" योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः " (यो० १। २)।

अर्थ—चित्त (मन) की वृत्तियों के 'उत्पन्न होने से, रुक जाने का नाम अर्थात् चित्त में वृत्तियों के उत्पन्न न होने का नाम योग है॥ २॥

इन्द्रियों के द्वारा अथवा संस्कारों से (चित्त में बैठे हुए पहले ज्ञानों के सूक्ष्म आकारों से) दृश्य वस्तुओं के जो आकार चित्त में बनते हैं अर्थात् दृश्य वस्तुओंके आकार में जो चित्त (मन) का परिणाम (बदलना) होता है, दार्शनिकों की परिभाषा में चित्त के उन आकारों को चित्तवृत्ति या वृत्ति कहते हैं। चित्त, सत्त्व,रज और तम, इन तीन गुणों के मेल से बना हुआ होने से त्रिगुण है, इसलिये उस की वृत्तियां भी सात्त्विक,राजस और तमास-भेद से तीन प्रकार की होती हैं। सत्वगुण की प्रधानता से जो वृत्तियां चित्त में उत्पन्न होती हैं, उन का नाम सात्त्विक,रजोगुण की प्रधानता से चित्त में उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का नाम राजस और तमोगुण की प्रधानता से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का नाम तामस है। सात्त्विक वृत्तियों के होने से सुख, राजस वृत्तियों के होने से दुःख और तामस वृत्तियों के होने से मोह,भय आदि होता है, इसलिये सांख्यशास्त्र वाले सात्त्विकवृत्तियों को 'शान्त' नाम से, राजसवृत्तियों को 'घोर' नाम से और तामस वृत्तियों को 'मूढ' नाम से कहते हैं। वास्तव में राजस और तामस, दोनों ही प्रकार की वृत्तियां दुःख का मूल हैं,इसलिये योगियों की परिभाषा से राजस-तासस वृत्तियों की संज्ञा "क्लिष्ट" और सात्त्विकवृत्तियों की संज्ञा "अक्लिष्ट"है। इस तरह आवन्तरभेद से अनेक प्रकार की हुई भी ये सब वृत्तियां मूल में पांच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों से होने वाले वस्तु के यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमाणवृत्ति,झूठे (मिथ्या) ज्ञान का नाम विपर्ययवृत्ति, विना वस्तु के शब्दमात्र से होने वाले ज्ञान का नाम विकल्पवृत्ति, सुषुप्ति में होने वाले सुखादिगोचर अतीन्द्रिय ज्ञान का नाम निद्रावृत्ति और इन्द्रियों की सहायता के विना केवल संस्कारों से होने वाले, कालान्तर में

देखी अथवा सुनी वस्तु के ज्ञान का नाम स्मृतिवृत्ति है। चित्त की जिस अवस्थाविशेष में एकली प्रमाणवृत्ति को छोड़ कर दूसरी कोई वृत्ति नहीं होती, उसी अवस्थाविशेष का नाम सम्प्रज्ञातयोग और चित्त की जिस अवस्थाविशेष में उस एकमात्र प्रमाणवृत्ति का भी अभाव हो जाता है, उसी अवस्थाविशेष का नाम असम्प्रज्ञातयोग है। सम्प्रज्ञात-योग का ही दूसरा नाम सम्प्रज्ञात-समाधि और असम्प्रज्ञात योग का ही दूसरा नाम असम्प्रज्ञात-समाधि है। योगियों का मत है कि सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था में ही, जिसे "निर्विचारसमाधि" कहते हैं, पुरुष का (आत्मा का) साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) होता है। यह साक्षात्कार चित्त (बुद्धि) की वृत्तिरूप होने से प्रकृति का एक अंशविशेष है, इसलिये सम्प्रज्ञातसमाधि में भी पुरुष, प्रकृति के सम्बन्ध से अत्यन्त छूटा हुआ नहीं है। इसीलिये योगियों की परिभाषा में इस सम्प्रज्ञातसमाधि को "सबीजसमाधि" कहते हैं। अभ्यास के परिपाक से जब उस साक्षात्काररूपी चित्तवृत्ति का भी अभाव हो जाता है,तब असम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति होती है। यही समाधि, योग की परा काष्ठा अर्थात् अन्तिम सीमा है। योगियों की परिभाषा में इसी का नाम "निर्बीजसमाधि" है। इसी समाधि में पुरुष (आत्मा) प्रकृति के सम्बन्ध से अत्यन्त छूट कर केवल (एकाकी) हुआ अपने स्वरूप में स्थित होता है। योगियों के मत में प्रकृति के सम्बन्ध से छूटकर केवल हुए पुरुष (आत्मा) का अपने स्वरूप में स्थित होना ही कैवल्य को प्राप्त होना है। बस यही (कैवल्य ही) योग का अन्तिम ध्येय,यही अन्तिम फल और यही उसका मोक्ष है ॥२॥

"असंख्य सूर मुह भख सार"। यहां शूर का उच्चारण सूर और अर्थ सूरमा विवक्षित है। जो मनुष्य युद्ध से पराङ्मुख होना स्वप्न में भी नहीं जानता, जिसको अपनी, अपनी जाति की और अपने देश की प्रतिष्ठा, प्राणों से भी अधिकप्रिय है, जो उसकी रक्षा के लिये शत्रुओं को धराशायी करता हुआ आगे ही पांव रखता है,जो युद्ध में वीरगति से मरना ही एक मरना समझता है,शूरवीर उसको "सूरमा" कहते हैं। युद्ध के लिये जाते हुए सूरमा के मस्तक पर विजयतिलक करने के समय जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसका आकार इस प्रकार है—

"न वै उ एतन्न म्रियसे न रिष्यसि, देवान् इदु एषि पथिभिः सुगेभिः। हरी ते युञ्जा पृषती अभूताम्, उपस्थाद् वाजी धुरि रासभस्य" (ऋ० १.१। १६२। २१)।

अर्थ—इस उपस्थित धर्मयुद्ध में निश्चय तू न मरेगा, न मरने का दुःख पायेगा, तू निःसन्देह देवताओं के चलने के मार्गों से देवताओं को प्राप्त होगा। तेरे रथ में जुडे हुए घोड़े हरिणों की नाईं तेज़-रफ्तार होंगे और रासभ की जगह घोड़ा तेरे सामने उपस्थित होगा ॥ २१ ॥

जो सूरमें धर्मयुद्धों में वीरगति को प्राप्त होते हैं और जो महाधनी दानी उन वीरों के परिवारों की रक्षा तथा देश में विद्यावृद्धि के लिये हजारों और लाखों का दान देते हैं,उन दोनों की गति (फल) एकसी होती है। इसलिये देश,जाति और अपनी आत्मा के शुभचिन्तकों को उन दोनों प्रकार के पुरुष-शार्दूलों का अनुकरण करना चाहिये, यह ऋक्संहित के मन्त्र में कहा है। मन्त्र यह है—

"ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणाः, ताँश्चिदु एवापिगच्छतात्" (ऋ० १०।१५४।३)।

अर्थ—जो सूरमें युद्धों में लड़ते हैं, जो शरीरों को छोड़ते अर्थात् वीरगति को पाते हैं। अथवा जो हज़ारों और लाखों का दान देते हैं, प्रत्येक मनुष्य, निश्चय उन के ही पीछे चले अर्थात् उन दोनों का अनुकरण करे ॥३॥

यहां पर यह परम्परागत श्लोक भी उद्धृत करने योग्य है—

"जितेन लभ्यते लक्ष्मीः, मृतेनापि सुराङ्गनाः।
तेनेह हिन्दुशूरस्य का चिन्ता मरणे रणे" ॥१॥

अर्थ—युद्ध के जीतने वाले को लक्ष्मी प्राप्त होती है, युद्ध में मरने वाले को स्वर्ग की स्त्रियां (अप्सरा) प्राप्त होती हैं। इसलिये सूरमें हिन्दु को युद्ध में मरने की कौन चिन्ता है अर्थात् कोई चिन्ता नहीं ॥१॥४॥१७॥

"ईश्वरमहिमाख्यानपर्व" ॥ १८ ॥

असंख्य मूरख अन्ध घोर । असंख्य चोर हराम खोर । असंख्य अंमर कर जाये जोर ॥१॥ असंख्य गल वढ हत्या कमाह । असंख्य पापी पाप कर जाह ॥ २ ॥ असंख्य कूडिआर कूडे फिराह ॥ असंख्य म्लेच्छ मल भख्य खाह ॥ ३ ॥ असंख्य निन्दक सिर करे भार । नानक नीच कहे वीचार ॥ ४ ॥ वारिआ न जावा एक वार । जो तुध भावे साई भली कार । तू सदा सलामत निरंकार ॥५॥ ८॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

असंख्याः मूर्खाः घोरे अन्धकारे(अज्ञाने) वर्तन्ते । असंख्याः चौराः स्तेनाः निषिद्धस्य वित्तस्य धनधान्यस्य खादितारो विद्यन्ते । असंख्याः शासितारो बलस्य शासनं कृत्वा जङ्घन्यन्ते ॥१॥ असंख्याः धर्मान्धाः मनुष्याणां भिन्नधर्माणां गलमर्दाय घोरातिघोरं नरहत्यापापम् अर्जयन्ति । असंख्याः पापिनो महापापं कर्म कृत्वा गच्छन्ति ॥ २ ॥ असंख्याः कूटवादितारः कूटवदनाय यत्र तत्र बम्भ्रमति । असंख्याः म्लेच्छाः मलं पापं, तन्मयं भक्ष्यं गोमांसं खादन्ति भक्षयन्ति ॥३॥ असंख्याः निन्दाकर्तारो निन्दाकर्मणः पापस्य भारं शिरसि कुर्वन्ति । विचारं विचारमेते ये कथिताः, ते सर्वे नीचाः नीचकर्माणः, इति नानकः पश्यति ॥ ४ ॥ यस्येश्वरस्यैष सर्वो महिमा, तस्य महामहिम्नोऽहम् एकस्माद् बालादपि आत्मानं वारयितुं न योग्योऽस्मि । तस्माद् ब्रवीमि हे निराकार ! यत् तुभ्यं रोचते,सैव भद्रा क्रिया । त्वं सर्वदा निर्दोषोऽसि ॥५॥१८॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

अनेक मूर्ख घोर अन्धकार (अज्ञान) में पड़े हैं, अनेक चोर

चोरी का धन खाने वाले अर्थात् निषिद्ध धन को खाते हैं। अनेक शासक बल का शासन कर नीच गति को जाते अर्थात् नीच गति को पाते हैं ॥१॥ अनेक धर्मान्ध भिन्नधर्मी मनुष्यों का गल, केवल धर्मभेद के कारण काट कर घोर से घोर हत्या पाप को कमाते हैं। अनेक पापी पाप पर पाप करते जाते हैं ॥२॥ अनेक झूठे झूठ बोलने के लिये इधर उधर फिरते हैं। अनेक म्लेच्छ मैले भक्ष्य को अर्थात् निषिद्ध गोमांस को खाते हैं ॥३॥ अनेक निन्दक निन्दारूपी पापकर्म का बोझ सिर पर करते (सिर पर उठाते) हैं। विचार विचार कर अर्थात् स्मरण कर कर, जितने ये कहे हैं, वे सब नीच अर्थात् नीचकर्मों के करने वाले हैं, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है॥४॥ जिस ईश्वर की यह सब महिमा है, उस महामहिमावाले के एक बाल से भी मैं अपने आपको वारने योग्य नहीं हूं। इसलिये कहता हूं कि हे निराकार! जो तुझे भाता अर्थात् रुचता है, वही भली कार है, तू सदा निर्दोष है ॥८॥१८॥

भाष्य—"असंख्य पापी पाप कर जाह" ॥ २ ॥ पाप, उस कर्म या आचरण का नाम है, जिस का फल, लोक तथा परलोक, दोनों में अशुभ है। जिस प्रकार अकर्तव्य (न करने योग्य) कर्म का करना पाप है, उसी प्रकार अवश्य कर्तव्य कर्म का न करना भी पाप है। जो कर्म लोक तथा शास्त्र, दोनों से निषिद्ध है, वह अकर्तव्य और जो लोक तथा शास्त्र, दोनों से निषिद्ध नहीं, विहित है, वह अवश्य कर्तव्य है। जैसे अकर्तव्य कर्म का करने वाला और अवश्य कर्तव्य कर्म का न करने वाला पापी होता है, वैसे उस से सम्बन्ध रखनेवाला भी पापी माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में एक प्राचीन श्लोक (मन्त्र) को उद्धृत करके कहा है कि अकर्तव्यकर्म का करने वाला जैसे पापी है, वैसे उसका सम्बन्धी भी पापी है। प्राचीन श्लोक का आकार इस प्रकार है—

"स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च, गुरोस्तल्पमावसन्। ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः, पञ्चमश्चाचरंस्तैः" (छां० ३०।५।१०।९)।

अर्थ—सोने का चुराने वाला, मदिरा पीने वाला और गुरु को (गुरु,पिता,मित्र, आदि की) स्त्री के साथ सहवास करनेवाला तथा वेदवेत्ता का मारने वाला, "ये चारों पतित अर्थात् पापी हैं और पांचवां उनके साथ सम्बन्ध रखने वाला भी पापी है ॥९॥
ऋक्संहिता के मन्त्र में बहिन के व्यभिचारी भाई को भी पापी कहा है—"पापमाहुः यः स्वसारं निगच्छात्" अर्थात् उसे पापी कहते हैं, जो बहिन के साथ व्यभिचार करता है (ऋ०१०।१०।१२)। ऋक्संहिता के "सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः, तासामेकामिदू अभि अंहुरोऽगात्"= सात मर्यादा(हदें)ऋषियों ने घड़ी अर्थात् न तोड़ने योग्य ठहराई हैं,जो उन में से एक को भी तोड़ता है,वह पापी होता है (ऋ०१०।५।६),मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्त के कर्ता यास्कमुनि ने सात मर्यादा ये लिखी हैं "स्तेयं,तल्पारोहणं,ब्रह्महत्यां,भ्रूणहत्यां,सुरापाणं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनःपुनःसेवां, पातकेऽनृतोद्यम्" अर्थात् चोरी १ परस्त्री-गमन २ वेदवेत्ता का वध ३ गर्भपात ४ मदिरापान ५ लोक तथा शास्त्र से निषिद्ध कर्म का वारवार करना, पाप को छिपाने के लिये झूठ बोलना (निरु० ६ । २७)। उन में से किसी एक को अथवा सब को जो प्राप्त होता है, वह पापी है। पाप की निवृत्ति, प्रायश्चित्त और भोग, दोनों से मानी गई है। यदि उन दोनों से उसकी निवृत्ति नहीं हुई, तो वह मरणोपरान्त कर्ता को नरक में डालेगा और जन्मान्तर में अनेक प्रकार के रोग, शोक आदि से पीड़ा पहुंचायेगा। पाप का फल दुःख और पतन निश्चित है ॥ २ ॥

"असंख्य कुडिआर कूडे फिराह"। यहां कूट का उच्चारण "कूड" और कूटवदितार् का उच्चारण "कुडिआर" है, जैसे ऋक्संहिता में द्वि+एकनाट का उच्चारण "बेकनाट" (ऋ० ८ । ५५-६६ ।१०) है । कूट झूट को कहते हैं। वस्तुतः कूट का प्राकृत (अपभ्रंश) उच्चारण झूठ है। असत्य और अनृत, दोनों झूठ के पर्याय हैं । जैसा देखा, जैसा सुना, वैसा कहने का नाम सत्य और देखे तथा सुने से विपरीत अर्थात् उलटा कहने का नाम झूठ है। जो मनुष्य सत्य (सच्च) बोलता है, वह ऐश्वर्यवान् यशस्वी और प्रतिष्ठित (आदरणीय) होता है, जो

झूठ बोलता है,वह अपने नीच कर्म से (झूठ बोलने से) नाश को प्राप्त होता है,यह ऐतरेयारण्यक के श्रुतिवाक्य में कहा है। श्रुतिवाक्य यहहै—

"तद् एतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यम। स ह ईश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्तिर् भवति, यो वाव पुष्पं फलं वाचः सत्यं वदति। अथ एतत् मूलं वाचो यद् अनृतम्। तद् यथा वृक्षः आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्तते,एवम् एव अनृतं वदन् आविर्मूलम आत्मानं करोति, स शुष्यति, स उद्वर्तते" (ऐ० आ० २।३।६)।

अर्थ—वह यह फूल और फल है वाणी का, जो सत्य है। वह निःसन्देह ऐश्वर्यवाला, यश वाला भली कीर्ति अर्थात् ऊंची प्रतिष्ठा वाला होता है, जो निश्चय वाणी के फूल फलरूपी सत्य को बोलता है। और यह मूल (जड) है वाणी का, जो झूठ है। वह जैसे नंगे मूल वाला (मट्टी से न ढकी हुई जडों वाला) वृक्ष सूख जाता है, वह उखड जाता (नष्ट हो जाता) है, ऐसे ही झूठ बोलता हुआ मनुष्य, अपने आप को नंगे मूल-वाला करता है, वह सूख जाता अर्थात् वंशहीन हो जाता है, वह उखड जाता अर्थात् हमेशा के लिये दुनिया से अपना नामोनिशां मिटा देता है॥ ६॥

यहां ऋक्संहिता का मन्त्र भी उद्धृत करने योग्य है—

"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय,सत् च असत् च वचसी पस्पृधाते। तयोः यत् सत्यं यतरद् ऋजीयः,तद् इत् सोमो अवति हन्ति असत्"

अर्थ—ज्ञानवान् (समझदार) मनुष्य के लिये यह जानना सुखाला (आसान) है कि सत्य और झूठ, दोनों वचन, आपस में स्पर्धा (रशक) करते हैं। उन दोनों में जो सत्य है, जो अधिक ऋजु (सरल) अर्थात् लाग-लपेट से रहित है,उस की निश्चय ईश्वर रक्षा करता अर्थात् उसके बोलने वाले को लोक में सब प्रकार से प्रफुल्लित करता है और जो झूठ है अर्थात् झूठ का बोलने वाला है, उस को मारता अर्थात् वशंसहित नष्ट करता है (ऋ० ७। १०४। १२)।

"असंख्य म्लेच्छ मल भख्य खाह"। जिस की भाषा हिन्दी नहीं और जो गोमांस खाता है,उसका पारिभाषिक नाम म्लेच्छ है। भक्ष्य का उच्चारण भख्य और शास्त्रनिषिद्ध भक्ष्य का नाम मलभक्ष्य (मैला भक्ष्य)

है । पाप को मल कहते हैं । जो लोकशास्त्रनिषिद्ध है, वह मल (पाप) है । यहां शास्त्रनिषिद्ध होने से गोमांस को मल कहा है । शतपथ-ब्राह्मण के श्रुतिवाक्य म गोमांस के खाने का स्पष्ट निषेध किया है । श्रुतिवाक्य यह है—

"धेन्वै च अनुडुहश्च न अश्नीयात् । धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभ्रतः"

अर्थात् गौ और निश्चय बैल, दोनों को अर्थात् दोनों के मांस को न खाये । क्योंकि गौ और बैल, दोनों निःसन्देह इस सब मनुष्य जाति का पालन पोषण करते हैं (शत० ३।१।२।२१) ।

गौ के सम्बन्ध में ये दो मन्त्र भी सदा ध्यान में रखने योग्य हैं—

"माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसाऽऽदित्यानाम् अमृतस्य नाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गाम् अनागाम अदितिं वधिष्ट" (ऋ०८। १०१ । १५)।

अर्थ—क्षत्रियों की जननी, वैश्यों की पुत्री, ब्राह्मणों की बहिन और दूध का झरा यह गौ है । मैं निश्चय तुझ समझदार मनुष्य से कहता हूं, इस निष्पापा माता गौ को न मार ॥ १५ ॥

"वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं, विश्वाभिः धीभिः उपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गाम्,आ मा वृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः"॥१६॥

अर्थ—वाणी को (अपने स्वामी=मालिक की,वाणी को) जानने वाली, वाणी को (स्वामी की वाणी को सुन कर उत्तर में वाणी को) बोलने वाली,सब समझों के साथ पास आकर खडी होने वाली,विद्वान् अविद्वान्, सब के लिये अपने आप को जानने वाली, देवी गौ को छोटी समझ वाला मनुष्य न मारे ॥१६॥ ॥५॥१८॥

"ईश्वरमहिमाख्यानपर्व" ॥ १९ ॥

"असंख्य नाव, असंख्य थाव ॥१॥ अगम्य अगम्य असंख्य लोए । असंख्य कहे सिर भार होए ॥ २ ॥ अक्खरी नाम अक्खरी सालाह । अक्खरी ज्ञान गीत गुण गाह ॥३॥ अक्खरी लिखन बोलन बाण ।अक्खरा

सिरे संजोग वखान ॥ ४ ॥ जिने एह लिखे, तिसे सिरे नाह । जिवे फुरमाए तिवे तिवे पाह ॥ ५ ॥ जेता कीता तेता नाओ । विने नावे नाही को थाओ ॥ ६ ॥ कुदरत कवन कहा वचार । वारिआ न जावा एक वार ॥ ७ ॥ जो तुध भावे साई भली कार । तू सदा सलामत निरंकार" ॥ ८ ॥ १९ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

असंख्यानि नामानि, असंख्यानि नामस्थानानि=नामवन्ति वस्तूनि (उपभोग्याः पदार्थाः) ॥ १ ॥ असंख्याः अगम्याः अगम्याः लोकाः पृथिव्यादयः उपभोग्यपदार्थाश्रयाः । असंख्याः इति कथनेऽपि शिरसि भारो=अनधिकारचेष्टालक्षणः साहसिको व्यापारो भवति ॥ २ ॥ अक्षरैः शब्दैः पदार्थानां वस्तूनां तेषां नामानि वोभूयन्ते, अक्षरैः शब्दैः पदार्थाः वस्तूनि नामवन्ति तानि श्लाघ्यन्ते लक्ष्यन्ते । अक्षरैः शब्दैः पदार्थानां वस्तूनां तेषां ज्ञानं दीयते, अक्षरैः शब्दैः गीताः कथिताः तेते पदार्थगुणाः गृह्यन्ते ।३। अक्षरैः शब्दैः उच्चारिताः सर्वाः वाण्यो लिख्यन्ते । अक्षराणां शिरसि=मूर्ध्नि कण्ठताल्वादिसंयोगाद् व्याख्यानम्=उच्चारणं बोभूयते ॥४॥ येनान्तर्यामिणा जगदीश्वरेण एतानि अक्षराणि मन्त्रदृशामृषीणां हृदि पट्टे लिखितानि=स्फोरितानि, तस्य शिरो नास्ति, कुतः कण्ठताल्वादिसंयोगः। स यथा आज्ञापयाति प्रेरयति, तथा तथा ते प्राप्नुवन्ति=हृदि स्फोरितानि पश्यन्ति ॥५॥ यावन्तो लोकाः यावन्तस्तदाधाराः पदार्थाः उपभोग्याः वस्तुलक्षणाः ईश्वरेण कृताः=निर्मिताः, तावन्त्येव नामानि । नहि विना नाम किमपि नामस्थानं वस्तु=पदार्थोऽस्ति, नहि कोऽपि लोकः ॥६॥ कमीश्वरस्य महिमानं विचारं विचारं (स्मारं स्मारं) कथयानि, अहं

तु महामहिम्नस्तस्य एकस्माद् बालादपि आत्मानं वारयितुं न योग्योऽस्मि ॥ ७ ॥ तस्माद् ब्रवीमि—हे निराकार ! यत् तुभ्यं रोचते, सैव भद्रा क्रिया । त्वं सर्वदा निर्दोषोऽसि॥८।१९॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

अनेक नाम हैं, अनेक ही नाम के स्थान पदार्थ अर्थात् नाम-वाली वस्तु हैं ॥१॥ अनेक अगम्य से अगम्य अर्थात् मनुष्य की पहुंच से परे से भी परे, पृथिवीलोक अर्थात् वस्तुओं के आधार भूमिमण्डल हैं । अनेक कहने में भी अनधिकारचेष्टा करना-रूपी भार सिर पर होता है ॥२॥ अक्षरों से (शब्दों से) उन सब वस्तुओं के नाम हैं, अक्षरों से (शब्दों से) उन सब वस्तुओं की सराहना अर्थात् उन सब वस्तुओं के लक्षण हैं । अक्षरों से (शब्दों से) ही उन सब वस्तुओं (पदार्थों) का ज्ञान दिया जाता है, अक्षरों से ही आचार्यों के कहे हुए उन सब वस्तुओं के गुण, ग्रहण किये जाते अर्थात् जाने जाते हैं ॥३॥ अक्षरों से (शब्दों से) ही उच्चारण की हुई वाणियां लिखी जाती हैं । अक्षरों का उच्चारण सिर में(मूर्धा में) कण्ठ ताल्वादि के संयोग से होता है ॥४॥ जिस अन्तर्यामी जगत्कर्ता ईश्वर ने आरम्भ में ये सब अक्षर (वर्ण) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयरूपी पट्ट पर लिखे हैं अर्थात् हृदय (मन) में स्फुरण किये हैं, उस का सिर नहीं है, कण्ठ-ताल्वादिसंयोग कहां से होगा । जैसे जैसे वह आज्ञा करता अर्थात् प्रेरता है, वैसे वैसे वे (ऋषि) पाते अर्थात् हृदय में स्फुरण हुओं को देखते हैं॥५॥ जितने लोक अर्थात् भूमिमण्डल हैं और जितने उन में उपभोग्य पदार्थ अर्थात उपभोग्य वस्तु ईश्वर के किये हुए अर्थात बनाये हुए हैं, उतने ही नाम हैं। नाम के विना न कोई उपभोग्य पदार्थ अर्थात वस्तु है,और न कोई लोक है ॥६॥ मैं उस ईश्वर की किस किस महिमा को विचार विचार कर अर्थात स्मरण कर कर कहूं ।

मैं तो उस महामाहिमा वाले के एक बाल से भी अपने आप को वारने योग्य नहीं हूं ॥७॥ इसलिये कहता हूं कि हे निराकार! जो तुझे भाता है, वही भली क्रिया है। तू सदा निर्दोष है॥८॥१९॥

भाष्य—जैसे ज्ञानी और अज्ञानी, भले और बुरे उपभोक्ता जीव असंख्य हैं,वैसे उनके उपभोग्य पदार्थ अर्थात् भोगने योग्य वस्तुएं भी असंख्य हैं,उन वस्तुओं के नाम भी असंख्य है। नाम अक्षरों से बनते हैं, उपभोग्य वस्तुओं के गुण तथा लक्षण भी अक्षरों से लिखे जाते और कहे जाते हैं। अक्षरों का उच्चारण (बोलना) कण्ठतालु आदि के संयोग से सिर में (मस्तिष्क में) होता है। सब से पहले वे (अक्षर) ईश्वर की अपार दया से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के मन में स्फुरण हुए, पीछे भिन्न भिन्न आकारों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के द्वारा सब जगह फैले, यह सब कहने के लिये अगले उन्नीसवें १९ पर्व का आरम्भ है। इस पर्व के सब मन्त्र आठ हैं। उन में से दूसरा मन्त्र है "अक्खरी नाम,अक्खरी सालाह। अक्खरी ज्ञान गीत गुण गाह"॥२॥ अक्षर का प्राकृत रूप अक्खर और "अक्षरैः" का उच्चारण सर्वत्र अक्खरी है।अक्षर वर्ण को कहते हैं।यहां अक्षर से वर्ण,पद और वाक्य, तीनों यथास्थान विवक्षित हैं। मन्त्र का अर्थ अनुवाद से स्फुट है॥२॥

"अक्खरी लिक्खन बोलन वाण"। यहां वाणी का उच्चारण वाण है, जैसे वीणा का उच्चारण "वाण" (ऋ० १।८५।१०)। एक अक्षर को वर्ण,अनेक वर्णों के समुदाय को पद,अनेक पदों के समुदाय को वाक्य और अनेक वाक्यों के समुदाय को वाणी कहते हैं। "दीर्घतमा" ऋषि ने अपने मन्त्र में कहा है कि गायत्री आदि नाम के सात छन्दोंवाली वेद-वाणी अक्षरों से ही बनती और जानी जाती है— "अक्षरेण मिमते सप्त वाणी" अर्थात् वर्णों से बनाते(लिखते)और जानते (जानकर बोलते) हैं सात छन्दोंवाली वाणी को (ऋ० १।६४ २४)। वेदबाणी यहां वाणीमात्र का उपलक्षण है, जिस के सम्बन्ध में स्वयं दीर्घतमा ऋषि ने यह कहा है—"तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति" अर्थात् अक्षरों से लिखी जाने वाली चौथी वैखरी नाम की वाणी है, जिसे मनुष्य बोलते हैं (ऋ० १।१६४।४५)। लोक में उन सब कल्पित

रेखाओं (लकीरों) या आकृतियों को वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं,जिनके देखने अथवा छूने से वर्ण, पद अथवा वाक्यरूपी शब्द की मन में उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या स्फूर्ति होती है। मालाकार होने से उन्हीं को वर्णमाला या अक्षरमाला भी कहते हैं। सब से पहले ब्रह्मा ने वर्णमाला की कल्पना की, पीछे शारदा ने कुछ संशोधन करके आकार में भेद किया। पहली वर्णमाला का नाम ब्राह्मी और दूसरी का नाम शारदी वर्णमाला या शारदी लिपी है। इस समय जिस वर्णमाला या जिस लिपि में वेद आदि सब ग्रन्थ लिखे या छापे जाते हैं, उसको नागरी वर्णमाला या नागरी लिपि कहते हैं, यह प्राचीन नहीं, अर्वाचीन है। श्रीगुरुग्रन्थ, जिस वर्णमाला या जिस लिपि में लिखा जाता है। उस का नाम गुरुमुखी लिपि है। इसके आविष्कर्ता श्रीगुरुनानकदेव और प्रवर्तक श्रीगुरु-अङ्गददेव हैं ॥ ८ ॥ १९ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः, शूद्राः अन्त्यावसायिनः ।
श्रवणे मनने नाम्नः, समाः सर्वेऽधिकारिणः ॥ १ ॥
विश्वकर्ता महाशक्तिः, समः सर्वत्र विद्यते ।
तस्य पुत्रेषु न्यूनोऽयं, वदितुं केन शक्यते ॥ २ ॥
कति विश्वान्तरे सूर्याः, कति ताराः कति ग्रहाः ।
कियत्यो भूमयस्तासु, कति नीचोत्तमाः नराः ॥ ३ ॥
कियन्तोऽज्ञानसंमूढाः कियन्तो ज्ञानदक्षिणाः ।
कियन्तो निर्बलात्मानः, कियन्तो बलशासनाः ॥४॥
अनन्तो महिमा त्वेषो,ऽशक्यो वर्णयितुं गिरा ।
स्वामिन् ! यद् रोचते तुभ्यं, भद्रा सा निखिला क्रिया ॥५॥

"ईश्वरप्राप्तिसाधनपर्व" ॥२०॥

"[1]भरिये [2]हत्थ [3]पैर [4]तन [5]देह । [6]पानी [7]धोते [8]उत्तरस [9]खेह ॥१॥ [10]मूंत [11]पलीती [12]कप्पड [13]होए । [14]दे [15]साबून [16]लईये [17]ओह [18]धोए॥२॥[19]भरिये [20]मंत [21]पापा के [22]संङ्ग । [23]ओह [24]धोपे [25]नावे के [26]रङ्ग ॥३॥ [27]पुंण्यी [28]पापी [29]आखन [30]नाह । [31]कर [32]कर

कॅरना लिख ले-जाह ॥४॥ आपे बीज आपे ही खाह ।
नानक हुकमी आवे जाह" ॥५॥२०॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

शरीरस्य हस्तौ वा, शरीरस्य पादौ वा क्षया पङ्केन भ्रियेयातां लिप्येयातां, सर्वतो लिप्तौ भवेताम् । पानीयेन वारिणा धावनात् क्षा पङ्कः उत्तरति निवर्तते, तौ निर्मलौ भवतः ॥ १ ॥ कार्पासं वस्त्रं मूत्रेणाऽऽप्लुतं लिप्तम् अपवित्रं मलिनं भवेत, तत् शौधनं क्षारं दत्त्वा धौतं विमलीक्रियते ॥२॥ मतिः बुद्धिः पापमलानां सङ्गेन वेभ्रियते=पापमलेन लेलिप्यते, सा नाम्नो रागेण=प्रेम्णा मुहुर्मुहुर् उच्चारणात् जायमानेन पुण्यपुञ्जेन धौता निर्मलायते=पोपूयते ॥३॥ पश्यत जनाः ! नहि आख्यानेन=कथनेन कश्चित् पुण्यी वा पापी वा सम्पद्यते । कृत्वा कृत्वा शुभाशुभकर्मणाम् अनुष्ठानं यथाप्रकृतिलेखं पुण्यपापश्रया संज्ञा लभ्यते=पुण्यी वा पापी वा बोभूयते ॥ ४ ॥ आत्मना स्वेन मनुष्याः शुभाशुभकर्मबीजानि प्रकृतिक्षेत्रे जगति वपन्ति, आत्मना एव सुखं वा दुःखं वा तत्फलं यथासमयं खादन्ति भुञ्जते अनुभवन्ति । फलखादनार्थं यथाऽऽज्ञम् आयन्ति जायन्ते, फलखादने च यान्ति म्रियन्ते, इति नानकः पश्यति ॥५॥२०॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

शरीर के दोनों हाथ, अथवा शरीर के दोनों पाओं, मट्टी से भर जायें, अर्थात् लथ पथ हो जायें, तो पानी से धोये हुए मट्टी के उत्तर जाने (निवृत्ति हो जाने) से शुद्ध अर्थात निर्मल हो जाते हैं ॥१॥ मूत्र से अथवा किसी दूसरी अपवित्र वस्तु के सम्बन्ध से वस्त्र (कप्पडा) अपवित्र हो जाये, तो वह साबुन लगा कर धोने से पवित्र कर लिया जाता अर्थात् पवित्र हो जाता है॥२॥ बुद्धि पापकर्मों के सम्बन्ध से अर्थात् निषिद्ध कर्मों के करने से, उत्पन्न हुए पापरूपी मल के संसर्ग से भर जाती अर्थात मलिन (अपवित्र) होती है ।

वह ईश्वर के नाम के रङ्ग से अर्थात प्रेमपूर्वक वारंवार के उच्चारण से उत्पन्न हुए पुण्यरूपी जल से धोई हुई निर्मल अर्थात् पवित्र होती है ॥३॥ देखो मनुष्यो ! कहने से अर्थात् कथनमात्र से कोई मनुष्य पुंण्यी अथवा पापी नहीं होता। हर एक मनुष्य पुण्यकर्म का अनुष्ठान करके और पापकर्म का अनुष्ठान करके, कर्म की प्रकृति-रूपी लेखनी से लिखे हुए विधाता के लेखानुसार पुण्यी अथवा पापी संज्ञा (नाम) को लभता अर्थात् पुण्यी और पापी होता है॥४॥ अपने आप से ही सब मनुष्य पुंण्य-पापरूपी बीज को जगत्रूपी क्षेत्र में बोते हैं और अपने आप ही उसके सुख-दुःखरूपी फल को खाते हैं। फल खाने के लिये उसकी आज्ञा से यहां आते और फल खा लेने पर यहां से जाते हैं, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ५ ॥ २० ॥

भाष्य—ईश्वर की अकथ्य, अचिन्त्य तथा अपार महिमा का यत्किञ्चित् बखान पीछे के चार पर्वों में किया गया। अब ईश्वर की प्राप्ति जिन साधनों से होती है, उन सब का बखान आगे के दो पर्वों में किया जाता है। इन दोनों पर्वों का नाम "ईश्वरप्राप्तिसाधनपर्व" और मन्त्रसंख्या यथाक्रम पांच, नौ अर्थात् चौदह हैं। पहले पर्व के पांचों मन्त्रों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है ॥ ५ ॥ २० ॥

"ईश्वरप्राप्तिसाधनपर्व" ॥ २१ ॥

"तीर्थ तप दया दत्त दान। जे को पावे तिल का मांन ॥ १ ॥ सुनिआ मंन्निआ मंन कीता भाओ। अन्तरगत तीर्थ मल नाओ ॥ २ ॥ सब गुंण तेरे मै नाही कोए। विन गुंण कीते भगत नं होए ॥ ३ ॥ स्वस्ति आथ बांणी बरमाओ। संत सुहाण, सदा मंन चांओ ॥ ४ ॥ कवन सु वेला, वखत कवन, कवन थितं

कँवन[४८] वीर[४९] । कवन[५०] सि[५१] रुत्ती[५२] माह[५३] कवन[५४], जितु[५५] होआ[५६] आकार[५७] ॥५॥ वेल[५८] न[५९] पाईआ[६०] पण्डती[६१] जे[६२] होवे[६३] लेख[६४] पुराण[६५] । वखत[६६] न[६७] पाइओ[६८] कादिया[६९], जं[७०] लिखन[७१] लेख[७२] कुराण[७३] ॥६॥ थित[७४] वार[७५] ना[७६] जोगी[७७] जाने[७८], रुत्त[७९] माह[८०] ना[८१] कोई[८२] । जा[८३] करता[८४] सिरठी[८५] को साजे[८६] आपे[८७] जाने[८८] सोई[८९] ॥ ७ ॥ किवं[९०] केर[९१] आखा[९२], किव[९३] सालाही[९४], किव[९५] वरनी[९६] किव[९७] जाना[९८] । नानक[९९] आखन[१००] सब[१०१] को[१०२] आखे[१०३], इकदू[१०४] इक्क[१०५] स्याना[१०६] ॥८॥ वड्डा[१०७] साहिब[१०८] वड्डी[१०९] नांई[११०], कीता[१११] जा[११२] का होवे[११३] । नानक[११४] जे[११५] को[११६] आपो[११७] जाने[११८] अग्गे[११९] गया[१२०] न[१२१] सोहे[१२२]" ॥ ९ ॥ २१ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

तीर्थयात्रा[१], तपश्चर्या[२], जीवदया[३], लोकोपकारककर्म[४], विद्वत्सेवा[५] । यः[६] कश्चिदेषां[७] पञ्चानां तिल[१०]परिमाण[११]मपि स्वल्पमपि किञ्चिद् एकं कर्म प्राप्नुयात[८] धर्मबुद्धयाऽनुतिष्ठेत् ,पुण्यो भवेत् ॥१॥ ईश्वरनाम्नः[९] श्रवणम्, ईश्वरस्य[१२] नामिनो मननं=तत्स्वरूपाववोधनं, मत्वा[१३] च कृतं[१४] भावनं[१५] पुनःपुनश्चिन्तनं मुहुर्मुहुः स्मरणं, शरीरान्तर्गते[१६] तीर्थे[१७] जगद्गुरौ ईश्वरे मर्द[१८] मर्द स्नानं[१९] भक्तिभावेन निमज्जनम् ॥२॥ सर्वे[२०] भक्तिसाधनभूताः गुणाः[२१] तवैव[२२] सविधे सन्ति, मम[२३] कोऽपि[२५] गुणो नैवास्ति[२४] । यावत् त्वया मयि ते सर्वे गुणाः[२७] न[२६] क्रियन्ते[२८] नोत्पादयन्ते, तावद् भक्ति[२९]र्न[३०] भवतीति[३१] सायंप्रातर्गुणप्रार्थनम् ॥३॥ स्वस्तिवाचनम्[३२], अथ[३३] ब्रह्मरूपाया[३५] मन्त्रात्मिकायाः वेदवाण्याः[३४] अध्ययनं=स्वाध्यायः । सतः[३६] शोभनतमस्य[३७] परमसुन्दरस्य भगवतस्तस्य दर्शनार्थं मनसि[३९] सर्वदा[३८] उत्साहः[४०], सर्वमेतच्छुभं पुण्यं कर्म यथाशक्ति सर्वदा सर्वैरनुष्ठातव्यम् ॥ ४ ॥ कतमः[४१] स[४२] कालो[४३] दिनं वा नक्तं वा, कतमः[४४] स समयः[४५] प्रातर्वा सायं वा, कतमा[४६]

सा तिथिः प्रतिपद् वा द्वितीया वा, कतमत् तद् वासरं रविर्वा सोमो वा । कतमः स ऋतुः वसन्तो वा ग्रीष्मो वा, कतमो मासश्चैत्रो वा वैशाखो वा, यस्मिन् एष आकारः विशालाकृतिरयं संसारोऽभूत् ? ॥ ५ ॥ पुराणपण्डितैः सा वेला (कालः) न प्रापि = नाज्ञायि, यदि पुराणेषु तल्लेखोऽभविष्यत, अज्ञास्यत । कुराणपण्डितैः स समयो न प्राप्तो न ज्ञातः, यदि कुराणे तल्लेखमलिखिष्यन, अज्ञास्यत ॥६॥ किं बहुना— योगी अपि तं कालं, तं समयं, तां तिथिं, तद् वासरं, तमृतुं, तन्मासं न जानाति, कश्चिदन्यो नेति तु किमु वक्तव्यम् । यः कर्ता सृष्टिं सृजति, स एव स्वयं जानाति ॥७॥ किमिवं कृत्वा तमाख्यामि, किमिवं कृत्वा तं श्लाघयामि, किमिवं कृत्वा तं वर्णयामि, किमिवं कृत्वा तं ज्ञापयामि बोधयामि । ये केचिदाख्यातारः, येषाम् एकतः एकः सुज्ञानः पण्डितः, तेऽपि सर्वे गुणाख्यानेनैव तमाख्यान्ति, न साक्षादिति नानकस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥ पश्यत जनाः ! यस्याज्ञामात्रेण सर्वं कृतं भवति, यो वरिष्ठेभ्यो वरिष्ठः स्वामी, यस्य वरिष्ठाद् वरिष्ठं नाम । तं साक्षादहं जानामीति यः कश्चिद् आत्मानं जानीते = मन्यते, स लोके कथञ्चिद् अग्रे गतोऽपि = अग्रस्थानं प्राप्तोऽपि, सर्वज्ञातुरीश्वरस्य सद्मनि न शोभते, जघन्यस्थानमपि न लभते, अग्रस्थानमिति तु किमु वक्तव्यम्, अतिवादित्वादिति नानकः पश्यति ॥९॥२१॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

तीर्थयात्रा, तपश्चर्या, जीवदया, लोकोपकारक कर्म, विद्वत्सेवा, इन पांचों कर्मों में से तिल के परिमाण भी अर्थात् थोड़ा सा भी कोई एक कर्म, जो कोई प्राप्त करता अर्थात् धर्मबुद्धि से अनुष्ठान में लाता है, वह पुण्यी होता है ॥ १ ॥

ईश्वर का नाम सुनना, नामी ईश्वर के स्वरूप का मनन करना (ठीक ठीक समझना), मनन करके भावन अर्थात पुनः-पुनःचिन्तन (स्मरण) करना, शरीर के अन्दर तीर्थों के तीर्थ जगद्गुरु ईश्वर में अच्छी तरह स्नान करना अर्थात् एकाग्र चित्त से ईश्वर के ध्यान में निमग्न होना ॥२॥ हे ईश्वर ! भक्ति के साधन सब गुण तेरे (आप के) पास हैं, मेरे पास कोई गुण नहीं । जब तक आप मुझ में गुण नहीं उत्पन्न करते अर्थात् मुझे वे गुण नहीं देते,तब तक मुझ से भक्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार भक्ति के साधन गुणों की प्रार्थना करना ॥ ३ ॥ स्वस्तिवाचन और ब्रह्मरूप अर्थात् मन्त्ररूप वेद-वाणी का पढ़ना अर्थात् प्रतिदिन स्वाध्याय करना । उस सुहावने (परम सुन्दर) सत् ईश्वर के दर्शन का अर्थात् निजरूप से साक्षात्कार का सदा मन में उत्साह अर्थात् तीव्र अभिलाष, ये सब शुभ कर्म (पुण्य-कर्म) हैं, इन्हें यथाशक्ति सब ने सदा करना चाहिये ॥४॥ वह काल कौन था दिन अथवा रात,वह समय कौन था प्रातः अथवा सायं, वह तिथि कौन थी प्रतिपद् अथवा द्वितीया,वह दिन कौन था ऐत (आदित्य) अथवा सोम, वह ऋतु कौन थी वसन्त अथवा ग्रीष्म, वह महीना कौन था चैत्र अथवा वैशाख ?, जिस में अर्थात् जिस काल में, जिस समय में, जिस तिथि में, जिस दिन में, जिस ऋतु में, जिस महीने में, यह ओंकार अर्थात् त्रिशालाकृति संसार, उत्पन्न हुआ ॥५॥ वह काल पुराण के पण्डितों ने नहीं पाया,अर्थात् नहीं जाना, यदि पुराणों में उसका लेख होता, तो वे जानते । कुराण के पण्डितों ने भी वह समय नहीं पाया अर्थात् नहीं जाना,यदि कुराण के लिखनेवाले कुराण में उसका लेख लिखते, तो वे जानते ॥६॥ अधिक क्या, कोई हठयोगी भी

उस काल को, उस समय को, उस तिथि को, उस दिन को, उस ऋतु को, उस महीने को नहीं जानता, दूसरा कोई नहीं जानता, यह कहना ही क्या है । जो कर्ता सृष्टि को अर्थात् इस विशालाकृति सारे संसार को उत्पन्न करता अर्थात् बनाता है, वही आप जानता है ॥ ७ ॥ मैं किस की नाईं करके उसे कहूं, किस की नाईं करके उसकी श्लाघा (तारीफ) करूं, किस की नाईं उसका वर्णन करूं, किस की नाईं उसे जनाऊं । जो कोई कहने वाले एक से एक बढ़ कर स्याने अर्थात पण्डित हैं, वे सब गुणों को कह कर ही उसे कहते हैं, साक्षात् कोई भी नहीं कहता, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥८॥ देखो मनुष्यो ! जिसकी आज्ञामात्र से अर्थात् केवल सङ्कल्पशक्ति से यह सब उत्पन्न हुआ है, जो बड़े से बड़ा अर्थात महान् से महान स्वामी है, जिसका बड़े से बड़ा नाम है । "उसको मैं साक्षात् जानता हूं" ऐसा जो कोई अपने आप को जानता अर्थात् मानता हैं, वह लोक में किसी प्रकार अग्रस्थान में पहुंचा हुआ भी अर्थात् प्रधान पद पाया हुआ भी, सर्वज्ञ ईश्वर के घर में शोभा को नहीं पाता अर्थात् अग्रस्थान में नहीं पहुंचता, क्योंकि वह मनुष्य की पहुंच से परे का कहने वाला है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥९॥२१॥

भाष्य—"तीर्थ तप दया दत्त दान । तीर्थबुद्धि से श्रद्धाभक्ति के साथ ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए और तप तपते हुए तीर्थ-यात्रा करना, यहां तीर्थ शब्द का अर्थ है। तीर्थ से ऋषितीर्थ और गुरुतीर्थ, दोनों विवक्षित हैं। अमृतसर, गुरुतीर्थ और ऋषितीर्थ, दोनों है । हिन्दुशास्त्र में तीर्थ के दो भेद माने हैं—एक स्थावर और दूसरा जंगम । अमृतसर, हरिद्वार, हृषीकेश, काशी, प्रयाग आदि स्थावर और साधु, सन्त्य, महात्मा, जंगम तीर्थ हैं । आर्षग्रन्थों में विद्यापीठों (विद्यालयों) और वेदादिशास्त्रों को भी तीर्थ माना है। इस लिये विद्यापीठों में

जाना और वेद आदि शास्त्रों के पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों को अन्न, वस्त्र तथा वेद आदि पाठ्य पुस्तकों का दान देना भी तीर्थयात्रा है ।

तप } स्कन्दपुराण में कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों से शरीर को सूखा देने का नाम तप लिखा है "वेदोक्तप्रकारेण, कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत् तत् तप इति उच्यते बुधैः" अर्थात् वेदवादियों की कही हुई रीति के अनुसार कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों से, जो शरीर को सूखा देना है, उसको समझदार तप ऐसा कहते है ॥१॥ महाभारत के शान्तिपर्व में उक्त प्रकार के तप का निषेध करते हुए तप का लक्षण यह किया है—"अहिंसा सत्यवचनम्, आनृशंस्यं दमो घृणा । एतत् तपो विदुः धीराः, न शरीरस्य शोषणम्" अर्थात् अहिंसा (न सताना, न मारना), सत्यभाषण, अक्रूरता (कोमलता), इन्द्रियों को वश में रखना, भूतदया, इसको बुद्धिमान् तप जानते अर्थात् समझते हैं, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों से शरीर के सुखाने को नहीं (महा० शां० ७९।१८)। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में तप के सम्बन्ध में ये श्लोक पढ़े हैं—

"तपोमूलम् इदं सर्वं, दैवमानुषिकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं, तपोऽन्तं, वेददर्शिभिः" ॥२३४॥

अर्थ—इस सब सुख का मूल (आदि) कारण तप है, जो देवलोक और मनुष्यलोक में है। इस सब के अन्त में तप और मध्य में भी तप कारणरूप से भरपूर है,यह वेद के पारगामी पण्डितों ने कहा है॥२३४॥

"ऋषयः संयतात्मानः, फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति, त्रैलोक्यं सचराचरम्" ॥२३६॥

अर्थ—शरीर, इन्द्रियां और मन को वश में किये हुए, फल, मूल और वायु के खाने वाले ऋषि, तप से ही चराचर के सहित त्रिलोकी को साक्षात् देखते हैं ॥ २३६ ॥

"यद् दुस्तरं यद् दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
तत् सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्" ॥२३५॥

अर्थ—जिस (विपद्) का तरना (पार करना) बहुत कठिन है, जिस (खानपाना तुल्य) का प्राप्त करना बहुत कठिन हैं, जहां (साम्राज्य

के शिखर पर) पहुंचना बहुत कठिन है और जिस का करना (जिस वस्तु का बनाना) बहुत कठिन है। वह सब तप से सिद्ध होने योग्य है, निःसन्देह तपको कोई साधन नहीं उलांघ सकता अर्थात् तप, सब साधनों का शिरोमणि साधन है ॥ २३८ ॥

तैत्तिरीयसंहिता में लिखा है कि देश और जाति के लिये सर्वस्व के दान का नाम तप है "एतत् खलु वाव तप इति आहुः, यत् स्वं ददाति" अर्थात् इस को ही निश्चय तप ऐसा कहते हैं, जो सर्वस्व को देता अर्थात् सर्वस्व का देना है (६।१।६)। वास्तव में शरीर,इन्द्रियां और मन को वश में रखना,ब्रह्मचर्य का पालन करना,भूख प्यास,हानि लाभ,सुख दुःख, आदि द्वन्द्वों का सहना, सादा खाना, सादा पहनना, देश, जाति और धर्म की रक्षा के लिये धन, जन तथा तन का देना, अपने वचन और नियम का पक्का होना, सत्य और मधुर बोलना, तप है। मन्त्रकाल में सब ऋषि मुनि प्रायः इसी तप को तपते और इसी का तपना अपना कर्तव्य समझते थे। इसका वर्णन अथर्वसंहिता के मन्त्र में इस प्रकार किया है—

"भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षाम् उपनिषेदुः अग्रे।
ततो राष्ट्रं बलम् ओजश्च जातं, तद् अस्मै देवाः उपसंनमन्तु"

अर्थ—देश का कल्याण (सुख) चाहते हुए, सुख और सुख के साधनों को जानते हुए ऋषियों ने पूर्वकाल में तप और तप के नियमों को ग्रहण किया अर्थात् तप के नियमों को पालते हुए तप तपा। उससे राज्य और उसका साधन बल तथा तेज प्राप्त हुआ, इसलिये देश और जाति का कल्याण चाहने वाले विद्वान् इस तप की और उस के नियमों की ओर झुकें अर्थात् विशेष ध्यान दें (अथर्व० १९।४१।१)।

इस तप के सम्बन्ध में ऋक्संहिता और शतपथब्राह्मण में यह लिखा है "तपसा युजा विजहि शत्रून्" अर्थात् तपरूपी साथी से शत्रुओं (बाहरी, भीतरी शत्रुओं) को मार (ऋ० १०।८३।३) "तपसा वै लोकं जयन्ति" अर्थात् तप से ही मनुष्य इस लोक और उस लोक को जीतते हैं (शत० ३।४।४।२७)। तैत्तिरीयारण्यक में तप का माहात्म्य इस प्रकार कथन किया है—

"तपसा देवाः देवताम् अग्रे आयन्, तपसा ऋषयः स्वर् अन्वविन्दन्।
"तपसा सपत्नान् प्रणुदाम अरातीः, येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति" ॥

अर्थ—आरम्भ में देवताओं ने तपसे देवतापण को प्राप्त किया, ऋषियों ने तपसे स्वर्ग सुख को लभा (पाया) । हम उस तप से शत्रुओं को जो सुख के दाता नहीं, अर्थात् दुःख के दाता हैं, दूर करेंगे, जिसे तप से यह सब दब जाता है, जो है (३।१२।३) ।

दया}दया का दूसरा पर्याय कृपा और करुणा है । जो विपद्ग्रस्त है, जो भूख, प्यास और वस्त्र से आर्त (दुःखी) है, जो रुग्ण है, जो निर्बल है, जो असहाय है, जो परवश है, जो शरणागत है, स्त्री, वाल अथवा वृद्ध है, वह सब दया का पात्र है, क्योंकि दीन है । ऐसे दीनों पर दया करने से न केवल निर्मल पुण्य का उदय होता है, किन्तु अपना मनुष्यजन्म भी सफल होता है । जो मनुष्य हो कर समर्थ है और दीनों पर दया नहीं करता, उसका मनुष्यजन्म निष्फल है, उसका जीना न जीने के बराबर है ।

दत्त}जो कर्म सब के हित के लिये किये जाते हैं, उन सब का पारिभाषिक नाम यहां दत्त है, यौगिक अर्थ दान विवक्षित नहीं है । धार्मिक-शिक्षा के लिये विद्यालय, पठनपाठन के लिये पुस्तकालय, अनाथों की रक्षा के लिये अनाथालय, रोगियों की औषधि के लिये औषधालय स्थापन करना, देवदर्शकों के लिये देवालय, पथिकों के सुखावास के लिये धर्मशाला, शुद्ध वायु के भक्षणार्थ उद्यान (बाग, बगीचा) न्हाने धोने और पीने के लिये सरोवर, बावड़ी तथा कूपादि का बनाना और विद्वान् संन्यासियों के लिये वस्ती (नगर आदि से) से दूर संन्यासाश्रमों का निर्माण करना, ये सब दत्तकर्म के अवान्तर भेद हैं । औपनिषदों की परिभाषा में इन सब कर्मों को "पूर्त" कहते हैं। इन दत्त (पूर्त) नाम के कर्मों में से जो कोई भी कर्म यथाशक्ति श्रद्धाभक्ति से किया जाता है, उससे महान् पुण्य होता है।

दान}जो विद्वान् है, गृहस्थ है, अथवा साधु है, धर्मोपदेशक है, सदाचारी है, उसे अन्न, वस्त्र और आवश्यकतानुसार यथासमय यथाशक्ति धन देना, शास्त्रीय परिभाषा में दान कहा जाता है । आर्षग्रन्थों

और स्मृतिग्रन्थों में यज्ञ, दान और तप को सब कर्मों से मुख्यकर्म माना है। बृहदारण्यकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में कहा है कि ब्राह्मण आदि सब श्रेणी के मनुष्य यज्ञ, दान और तप से ही आत्मा के जानने की इच्छा करते हैं। श्रुतिवाक्य यह है—

"तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाःविविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" अर्थात् उस इस सर्वान्तरात्मा ईश्वर को ब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण आदि सब श्रेणी के मनुष्य वेद के पढने से, यज्ञ के करने से, दान के देने से और शरीर का नाश न करने वाले (न सूखाने वाले) तप से जानने अर्थात् पाने की इच्छा करते हैं (बृ० उ० ४।४।२२)। यज्ञ, दान और तप, तीनों में से तप का वर्णन पीछे किया है, यज्ञ का वर्णन आगे किया जायेगा। दान का महात्म्य, यज्ञ और तप, दोनों से बहुत अधिक है। तैत्तिरीयारण्यक के दसवें प्रपाठक में इस दान के सम्बन्ध में यह वाक्य पढ़ा है—

"दानं यज्ञानां वरुथं, लोके दातारं सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति।
दानेन अरातीः अपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्राणि भवन्ति।
दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद् दानं परमं वदन्ति" ॥ ६३ ॥

अर्थ—दान यज्ञों (शुभ कर्मों) की त्रुटियों का निवारण करने वाला है, लोक में दाता का सब प्राणी आश्रय लेते हैं। दान से नं सुख के दाता शत्रु दब जाते हैं, दान से द्वेषी मित्र होजाते हैं। दान में सब कुछ प्रतिष्ठित अर्थात् विद्यमान है। इसलिये दान को सब से श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की परिभाषा में दान का दूसरा नाम दक्षिणा है। उसके सम्बन्ध में प्रजापति के पुत्र "दिव्य" ऋषि ने यह मन्त्र (ऋ० १०।१०७।२) उच्चारण किया है—

"उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः, ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदाः अमृतत्वं भजन्ते, वासोदाः सोम ! प्रतिरन्ते आयुः" ॥

अर्थ—दान के देने वाले सब से ऊँचे द्युलोक (स्वर्ग) में स्थित होते अर्थात् रहते हैं, जो घोड़ों का दान देते हैं, वे इस लोक में सूर्य के तुल्य ज्योति के साथ स्थित होते हैं। सोने के देने वाले पूर्ण आयु को पाते हैं, वस्त्रों के देने वाले हे प्यारे ! आयु को बढ़ाते हैं ॥२॥

"नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितः, यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ।
तस्मै आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवः!, तस्मै इयं दक्षिणा पिन्वते सदा"॥

अर्थ—जो मन खोल कर दान देता है, वह निःसन्देह पुण्य का आश्रय लिये हुआ द्युलोक (स्वर्ग) के शिखर पर प्रतिष्ठापूर्वक रहता है और यहां विद्वानों में मान को पाता है । हे सिन्धुओ (हिन्दुओ) ! उस के लिये अन्तरिक्ष (आकाश) जल को बहाता है, उस के लिये उत्साहवाली हुई यह भूमि सदा अन्नों और फलों को पुष्ट करती अर्थात् पुष्ट अन्न, फल उत्पन्न करती है (ऋ० १० । १२५ । ५)। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में दान के सम्बन्ध में ये श्लोक पढ़े हैं—

"दानधर्मं निषेवेत, नित्यनैमित्तसंज्ञकम् ।
परितुष्टेन मनसा, पात्रमासाद्य यत्नतः" ॥२२७॥

अर्थ—पात्र को पाकर प्रसन्न मन से नित्य और नैमित्तिक नाम के दानरूपी धर्म का यत्न से सेवन (अनुष्ठान) करे ॥२२७॥

"भूमिदो भूमिमाप्नोति, दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदो अग्र्याणि वेश्मानि, रूप्यदो रूपमुत्तमम्" ॥२३०॥

अर्थ—भूमि का देने वाला भूमि को, सोने का देने वाला दीर्घ अर्थात् पूरी आयु को, घर का देने वाला अच्छे घरों को और चांदी का देने वाला उत्तम रूप (सौन्दर्य) को प्राप्त होता है ॥२३०॥

"सर्वेषामेव दानानां, ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्" ॥२३३॥

अर्थ—जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, (सोना) और घृत, सब के दानों से निश्चय विद्या का दान बढ़ कर है ॥ २३३ ॥

"सब गुण तेरे मै नाही कोए। विन गुण कीते भगत न होए"॥३॥

गीता के बारहवें अध्याय में ईश्वर के भक्त का जो लक्षण किया है और उस लक्षण में जो अद्वेष, मैत्री, करुणा आदि गुण कथन किये हैं, वे ही सब यहां भक्ति के साधन गुण विवक्षित हैं, उन्हीं की सांझ सुवेरे प्रार्थना का यह उपदेश है । लक्षणश्लोक ये हैं—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुणः एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः, समदुःखसुखः क्षमी" ॥१३॥

अर्थ—सब प्राणियों में द्वेष से रहित, मित्रतावाला और निश्चय करुणा (दया) वाला । ममता से रहित, अहङ्कार से रहित, सुख, दुःख में एक जैसा, क्षमावाला ॥ १३ ॥

"सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः, यो मे भक्तः स मे प्रियः" ॥१४॥

अर्थ—सन्तोषी, सदा कर्मयोग में युक्त, वश में किये हुए मन वाला, दृढनिश्चयवाला । मुझ में अर्पण किये हुए (लगाये हुए) मन और बुद्धिवाला, जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥१४॥

"यस्मात न उद्विजते लोको, लोकात न उद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैः, मुक्तो यः स च मे प्रियः" ॥१५॥

अर्थ—जिस से कोई प्राणी नहीं उद्वेग (अशांति) को प्राप्त होता है और जो आप किसी प्राणी से नहीं उद्वेग को प्राप्त होता है । जो हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता) भय और उद्वेग (अशांति) से छूटा हुआ मेरा भक्त है, वह निश्चय मुझे प्यारा है ॥ १५ ॥

"अनपेक्षः शुचिः दक्षः, उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः" ॥१६॥

अर्थ—निःस्पृह (बेपरवाह) पवित्र, कुशल (होश्यार) पक्षपातशून्य, दूर हुए क्लेशों (व्यथा) वाला । सब काम्य कर्मों का परित्यागी जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ १६ ॥

"यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान् यः स मे प्रियः" ॥१७॥

अर्थ—जो न सुख प्राप्त होने पर हर्ष (खुशी) करता है, न प्राप्त हुए दुःख से द्वेष करता है, न शोक करता है, न इच्छा करता है । जो शुभ अशुभ, (अच्छे, बुरे) दोनों प्रकार के कर्मफल का त्यागी है, भक्तिमान् है, वह मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥

"समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः सङ्गविवर्जितः" ॥१८॥

अर्थ—जो शत्रु और मित्र, दोनों में तथा मान, अपमान में, सम है। सरदी, गरमी, सुख और दुःख में सम है, आसक्ति से रहित है॥

"तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी, सन्तुष्टो येन केन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः, भक्तिमान् मे प्रियो नरः" ॥१९॥

अर्थ—जिस को निन्दा और स्तुति तुल्य है, मितभाषी है, जिस किसी भी प्राप्त हुए फल से सन्तुष्ट है। घर में आसक्ति से रहित है, अचलमति है, भक्तिमान् है, वह मनुष्य मुझे प्यारा है ॥ १९ ॥ ३ ॥

"स्वस्ति आथ बाणी बरमाओ। सत सुहाण सदा मन चाओ"॥४॥

कल्याण, मङ्गल, शुभ या सुख का नाम स्वस्ति है। जिन वेदमन्त्रों में स्वस्तिपद से अपने लिये कल्याण की प्रार्थना की गई है, उन स्वस्ति-पदवाले मन्त्रों को और श्रीगुरुग्रन्थ के मङ्गलमय सभी शब्दों को मङ्गल कार्यों के आरम्भ में ऊंची स्वर से पढ़ना स्वस्तिवाचन शब्द का अर्थ है। यहां अथ का 'आथ' उच्चारण छान्दस है, जैसे असत् का छान्दस उच्चारण 'आसत'(ऋ०७।१०४।१३)है, तथा नुचित् का छान्दस उच्चारण 'नूचित्' (ऋ० १। ५८। १) है। ब्रह्म का उच्चारण बरमा और ओ निपात है। चाव का उच्चारण चाओ और अर्थ उत्साह है। ब्रह्म मन्त्र को कहते हैं, जैसा कि शतपथब्राह्मण में कहा है"ब्रह्म वै मन्त्रः"अर्थात् ब्रह्म निश्चय मन्त्र है, (शत० ७।१।१।५)। मन्त्ररूप बाणी से यहां वेदवाणी अभिप्रेत है। ऋक्संहिता का और गुरुसंहिता (गुरुग्रन्थ) का प्रतिदिन श्रद्धाभक्ति के साथ नियम से पढ़ना अर्थात् स्वाध्याय करना महापुण्यकर्म है। शतपथब्राह्मण में स्वाध्याय कर्म के सम्बन्ध में यह लिखा है—

"स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः। युक्तमनाः भवति, अपराधीनः, अहरहः अर्थान् साधयते, सुखं स्वपिति, परमचिकित्सकः आत्मनो भवति, इन्द्रियसंयमश्च, एकारामता च, प्रज्ञावृद्धिः यशो लोकपक्तिः" (शत० ११।५।६।३)।

अर्थ—स्वाध्याय निश्चय ब्रह्मयज्ञ है। प्रिय अर्थात् आनन्द के

देनेवाले हैं ये दोनों,जो स्वाध्याय (पढ़ना) और प्रवचन (पढ़ाना) है। इन दोनों से मनुष्य एकाग्रचित्त होता है और स्वतन्त्र हुआ प्रतिदिन धन धान्य आदि अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त करता है। सुख से सोता है, अपना उत्तम चिकित्सक (वैद्य) होता है और इन्द्रियों का संयम,सदा चित्त की एकरसता अर्थात् प्रसन्नता, बुद्धि (ज्ञान) की वृद्धि यश और लोगों की अतिश्रद्धा, स्वाध्याय और प्रवचन से होती है॥

"यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददद् लोकं जयति, त्रिः तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यम्, यः स्वाध्यायम् अधीते तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः" (शत० ११।५।६।२)।

अर्थ—वह निश्चय धन से पूर्ण इस पृथिवी का दान देता हुआ जितने ही लोक (फल) को जीतता (प्राप्त करता) है, तीन बार उतने लोक को अर्थात् उस से तिगुणे लोक को जीतता है, उससे भी बहुत अधिक और अक्षय लोक को जीतता है, जो स्वाध्याय करता है। इस लिये स्वाध्याय करे॥ २॥

स्वाध्याय, एक प्रधान महायज्ञ है और दूसरे चार ४ महायज्ञों का उपलक्षण है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ, ये उन चारों महायज्ञों के नाम हैं। ये पांचों महायज्ञ प्रतिदिन नियम से किये जाते हैं और ब्राह्मण से अन्त्यज तक हरएक गृहस्थ को उनके करने का अधिकार है। महाभाष्य के कर्ता पतञ्जलि मुनि ने "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" (अष्टा० ४।१।३३) सूत्र के भाष्य में लिखा है कि "सर्वेण गृहस्थेन पञ्च महायज्ञाः निर्वर्त्याः" अर्थात् अन्त्यज से ब्राह्मण तक सब (हरएक) गृहस्थ ने पांच महायज्ञ करने चाहिये॥ ३३॥ निघण्टु के वृत्तिकार देवराज यज्वा ने पञ्चजनाः शब्द की व्याख्या में लिखा है कि "शूद्रोऽपि यज्ञाधिकृतः" अर्थात् शूद्र भी यज्ञ का अधिकारी है। (निघं० २।३।२३)। तैतिरीयारण्यक में इन पांचों महायज्ञों के सम्बन्ध में यह लिखा है—

"पञ्च वै एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते,सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञः, भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः ब्रह्मयज्ञः इति" (तै० आ० २।१०)।

अर्थ—पांच निश्चय ये महायज्ञ हैं, जो सदा, (हर दिन) आरम्भ

किये जाते और सदा समाप्त किये जाते हैं। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ, ये उन पांचों महायज्ञों के नाम हैं ॥ १० ॥ सायं प्रातः, दोनों समय चित्त को एकाग्र कर के ईश्वर की उपासना करने का नाम देवयज्ञ, माता पिता की सेवा और विवाह करके अच्छी सन्तान उत्पन्न करने का नाम पितृयज्ञ, घर के पशुओं को अच्छी तरह रखने का नाम भूतयज्ञ, घर में आये हुए अतिथियों के अन्न पान आदि से सत्कार करने का नाम मनुष्ययज्ञ और अपनी धर्मपुस्तक के प्रतिदिन नियम से पढ़ने का नाम ब्रह्मयज्ञ अर्थात् स्वाध्याययज्ञ अथवा ऋषि यज्ञ है। ईश्वर के साक्षात् दर्शन की मन में तीव्र इच्छा का नाम उत्साह है। उसके सदा मन में होने से ईश्वर प्रसन्न होता और दर्शन देता है ॥४॥

ईश्वर महान् से महान् है, उसकी रचनाशक्ति और लोकरचना भी महान् से महान् है। जो उस ईश्वर का दर्शन पाता है, वह निःसन्देह निहाल हो जाता है और उसे ईश्वर मिल जाता है, इसलिये ईश्वर दर्शनीय है, यह कहने के लिये अव भूमिका के तौर पर "कवन स वेला" आदि अगले मन्त्रों का आरम्भ है और अर्थ प्रायः अनुवाद से स्पष्ट है ॥५॥

"वखत न पाइओ कादिया, ज लिक्खन लेख कुराण" ॥८॥ कादी (काजी) का वहुवचन कादिया और अर्थ कुराणपण्डित अभिप्रेत है। मुसलमानों की धर्मपुस्तक का नाम "कुराण" है। कुराण का अक्षरार्थ पढना अथवा संहिता (संग्रह) और अभिप्रेत अर्थ प्रतिदिन पढ़ने की पुस्तक है। कुराण का अवान्तर-विभाग मन्जल, सूरत और आयतों (आयात) में किया है। आजकल प्रायः रोक और पारा, ये दो विभाग और भी किये जाते हैं, पर वे आधुनिक हैं, कुराणकाल के नहीं। कुराण में आयतें ६६६६, सूरतें ११४ और मन्जल ७ सात हैं। रोक ५५८ और पारा ३० तीस हैं। आयतों का द्रष्टा महामुनि महोमद, पुस्तकाकार संग्रहकर्ता अवूबकर और प्रचारक उमर है। कुराण, पढने के लिये 'यस्सरनल-कुराण' नामकी पुस्तक, पहले पढ़नी चाहिये ॥६॥

"जा करता सिरठी को साजे आपे जाने सोई"। जिस ईश्वर ने इस सृष्टि को वनाया अर्थात् इस जगद्रचना को रचा है, वही उसे जानता है, दूसरा कोई नहीं जानता, यह ऋक्संहिता के मन्त्रों में कहा है--

"को अद्धा वेद कः इह प्रवोचत, कुतः आजाता, कुतः इयं विसृष्टिः । अर्वाग् देवाः अस्य विसर्जनेन, अथा को वेद यतः आबभूव" (ऋ० १० । १२९ । ६) ।

अर्थ—कौन ठीक २ जानता है, कौन इस के सम्बन्ध में ठीक २ कहेगा अर्थात् कह सकता है, कहां से आ विद्यामान (मौजूद) हुई, यह विविध (अनेक) प्रकार की सृष्टि (जगद्रचना) किस से हुई अर्थात् किस ने की। विद्वान् (जानने वाले) इस की रचना से (सृष्टि के होने से) पीछे के हैं, तब कौन जानता है, जहां से आ विद्यमान हुई ॥६॥

"इयं विसृष्टिः यतः आबभूव, यदिवा दधे यदिवा न । यो अस्य अध्यक्षः, परमे व्योमन्, सो अङ्ग वेद यदिवा न वेद"॥

अर्थ—यह विविध सृष्टि अर्थात् अनेक प्रकार की जगद्रचना, जिस से आ विद्यमान हुई, चाहे उसने उत्पन्न की (रची) है, चाहे नहीं उत्पन्न की अर्थात् अनादि है। जो इस जगत् का स्वामी सब से ऊंचे आकाश में रहता है, हे प्यारे! वही इस को जानता है, चाहे अलग न होने से नहीं जानता है, कौन कह सके (ऋ० १० । १२९ । ७) २१ ॥

अनन्तो महिमा यस्य, स ईशः शुद्धबुद्धिभिः ।
प्राप्यते तेन कर्तव्या, बुद्धेः शुद्धिः सबुद्धिभिः ॥१॥
तीर्थं दानं तपो यज्ञः, कर्म चान्यदनिन्दितम् ।
नित्यनैमित्तिकं सर्वं, बुद्धिशुद्धिकरं परम् ॥२॥

"ईश्वरानन्तरचनापर्व" ॥२२॥

"पाताला पाताल, लख आगासा आगास। ओडक ओडक भाल थके, वेद कहन इक वात ॥ १ ॥ सहस अठारह कहन कतेबा असलू इक धात। लेखा होए त लिखिये लेखे होये विनास ॥ २ ॥ नानक वड्डा आखिये आपे जाने आप" ॥ ३ ॥ २२ ॥

संस्कृतभाषानुवाद

लक्षाः=असंख्याकाः पातालेभ्यो=भूमिमण्डलपूरितेभ्योऽन्तरिक्षलोकेभ्यो अधस्तात् पातालाः=भूमिमण्डलपूरिताः अन्तरिक्षलोकाः, लक्षाः=असंख्याकाः आकाशेभ्यः=सूर्यमण्डलपूरितेभ्यो द्युलोकेभ्यः परस्तादू आकाशाः=सूर्यमण्डलपूरिताः द्युलोकाः । भूमिमण्डलपूरितानां पातालानुपालानामन्तरिक्षलोकानाम् अन्तं, सूर्यमण्डलपूरितानाम् आकाशपराकाशानां द्युलोकानाम् अन्तम्=इयत्तां भालं-भालम् अन्वेशमन्वेषं थकिताः श्रान्ताः सर्वे भूगोलखगोलविद्यकाः,वेदांश्चेश्वरीयमहिमाख्यो लोकविस्तारोऽयमनन्तोऽपार इत्येकामेव वार्तां कथयन्ति ॥१॥ सहस्रसर्गप्रतिसर्गप्रपितादकानि अष्टादश पुराणान्यपि वस्तुभूतं यथार्थम् एकमेव धातव्यं धारणीयं वचः कथयन्ति । भूमिमण्डलपूरितानामन्तरिक्षलोकानां, सूर्यमण्डलपूरितानां च द्युलोकानां गणनाख्यो लेखो यदि भवेत्, तदा लिखेयं,अन्यथा लेखने तु प्रामाण्यस्य विनाशो विलोपो भवेदिति न लिख्यते ॥२॥ वरिष्ठेभ्यो वरिष्ठो जगदीश्वरः आख्यायते, सर्वान्तरात्मा स आत्मनैव सर्वं जानाति, नान्यः कश्चिदिति नानकः पश्यति ॥ ३ ॥ २२ ॥

हिन्दीभाषानुवाद

पातालों से अर्थात् द्युलोक से नीचे के अन्तरिक्षलोकों से नीचे पाताल अर्थात् भूमिमण्डलों से भरे हुए अन्तरिक्षलोक,लाखों अर्थात् अनगिनत हैं,आकाशों से अर्थात् द्युलोकों से ऊपर आकाश अर्थात् सूर्यमण्डलों से भरे हुए द्युलोक लाखों अर्थात् अनगिनत हैं । भूमिण्डलों से भरे हुए अन्तरिक्ष-लोकों का अन्त और सूर्यमण्डलों से भरे हुए द्युलोकों का अन्त, भूगोलविद्या तथा खगोलविद्या के जानने वाले भाल-भाल कर(ढूंढ़-ढूंढ़ कर) थक गये हैं,

वेद भी उनके सम्बन्ध में एक ही बात कहते हैं कि उनका अन्त नहीं है ॥१॥ हजारों सृष्टियों और प्रलयों के प्रतिपादक अर्थात् जनाने वाले अठारह पुराण भी एक ही धारणे योग्य अर्थात समझने योग्य सत्य बात कहते हैं, कि यदि इन अन्तरिक्षलोकों और द्युलोकों की गिनती हो, तो लिखी जाये, अनगिनतों की गिनती लिखने से, प्रमाणता का विनाश होता है, इस लिये नहीं लिखी जाती ॥२॥ सभी अन्तरिक्षलोकों और सारे द्युलोकों का कर्ता ईश्वर, बड़े से बड़ा अर्थात महान् से महान् कहा गया है, वह सर्व चराचर का अन्तरात्मा आप ही सब को जानता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥३॥२२॥

भाष्य—ईश्वर की रचना अर्थात् लोकसृष्टि को ईश्वर ही जानता है, दूसरा कोई नहीं जानता,यह इक्कीसवें पर्व के अन्त में कहा है। अब उसकी रचना अर्थात् लोकसृष्टि अपार है, अनन्त है,यह कहने के लिये अगला पर्व आरम्भ होता है।इसका नाम "ईश्वरानन्तरचनापर्व" और मन्त्रसंख्या तीन ३ है। उन में से पहले मन्त्र का पूर्वार्ध है "पाताला पाताल, लख आगासा आगास"। पाताल का अर्थ अधोलोक अर्थात् पृथिवी के नीचे का लोक होता है। यहां पृथिवी के नीचे के लोक से द्युलोक के नीचे का लोक अन्तरिक्ष अभिप्रेत है। क्योंकि वैदिकों (वेदियों) की परिभाषा में जैसे पृथिवीलोक का नाम पृथिवी है, वैसे द्युलोक और अन्तरिक्षलोक का नाम भी पृथिवी है । इसी लिये वैदिकनिघण्टु में द्युलोक और अन्तरिक्षलोक, दोनों के नामों में पृथिवी और पृथिवी के पर्याय भू और गो-शब्द को भी पढ़ा हैं (निघं० १ । ३)। इसके सिवा ऋक्संहिता और तैत्तिरीयसंहिता के "यदु इन्द्राग्नी ! परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्याम् अवमस्यामुत स्थः" अर्थात् हे इन्द्र और अग्नि ! यदि आप सब से ऊपरली पृथिवी (द्युलोक) में, मध्य की पृथिवी (अन्तरिक्ष-लोक) में अथवा सबसे नीचली पृथिवी (पृथ्वीलोक) में हैं, (जहां हैं

वहां से ही हमारे यज्ञ में पधारें) (ऋ० १ । १०८ । १०)। द्वितीयस्यां पृथिव्यां, तृतीयस्यां पृथिव्याम्" अर्थात् दूसरी पृथिवी (अन्तरिक्ष-लोक) में, तीसरी पृथिवी (द्युलोक) में जहां हैं वहां से(तै०सं० १।२।१२) इत्यादि अनेक मन्त्रों में, पृथिवीलोक की नाईं द्युलोक और अन्तरिक्ष-लोक को भी पृथिवी कहा हैं। पुराणों में प्रायः पृथिवी शब्द का अर्थ केवल यही पृथिवीलोक मान कर इससे (पृथिवीलोक से) नीचले लोक को पाताल कहा है। परन्तु यह अर्थ यहां विवक्षित नहीं। यहां वेदसम्मत द्युलोक नामी पृथिवी से नीचला अन्तरिक्षलोक ही पातालशब्द का अर्थ विवक्षित है। जैसे पद का उच्चारण 'पड्, (ऋ० ४।२।१४)है, अथवा अथ का उच्चारण 'अध' (ऋ० ५ । ४६ । २) है, वैसे आकाश का उच्चारण यहां आगास हैं और अर्थ द्युलोक अभिप्रेत है । आकाश के जिस भाग-विशेष में सूर्यमण्डल और उस की रश्मियों का प्रचण्ड वल है, उस को द्युलोक और आकाश के जिस भाग-विशेष में सूर्यमण्डल से सम्बद्ध पृथिवीमण्डल हैं, उस को अन्तरिक्षलोक कहते हैं । ये पृथिवीमण्डलों से भरे हुए अन्तरिक्षलोक और सूर्यमण्डलों से भरे हुए द्युलोक लाखों अर्थात् अनगिनत हैं, इसका वर्णन ऋक्संहिता के मन्त्र में इन्द्र की स्तुति के व्याज (वहाना) से इस प्रकार किया है—

"न द्यावः इन्द्रम् ओजसा, न अन्तरिक्षाणि वज्रिणम् । न विव्यचन्त भूमयः" (ऋ० ८ । ६ । १५)।

अर्थ—न द्युलोक, न अन्तरिक्षलोक, न उन के सूर्यमण्डल तथा भूमिमण्डल, अपनी असंख्यता अर्थात् अनगिनतता के वल से, उस परमैश्वर्यवान् को, उस वज्रवाले अर्थात् हाथ में तलवारवाले को व्याप सकते अर्थात् अन्त नहीं पा सकते हैं ॥ १५ ॥

पुराणों के मत से पाताल सात हैं । अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल,ये उन सातों के नाम हैं। प्रायः पुराणों में लिखा है कि हर एक पाताल की लम्बाई और चौड़ाई, दस दस हजार योजन है। सभी पाताल धन, सुख और शोभा से परिपूर्ण

हैं और इन बातों में वे स्वर्ग से भी वढ़कर हैं। सूर्य और चन्द्रमा,इन में प्रकाश-मात्र देते हैं, गरमी और सरदी, नहीं देने पाते । पृथिवीलोक या भूलोक के नीचे ही जो पाताल पड़ता है, उस का नाम अतल है। बस इसी तरह नीचे नीचे जाते हुए जो सब से नीचला है, उस का नाम पाताल है।

"ओड़क ओड़क भाल थके, वेद कहन इक बात"। यहां वेद से अभिप्रेत वसिष्ठ ऋषि के मन्त्र हैं। वे मन्त्र ये हैं—

"परो मात्रया तन्वा वृधान !, न ते महित्वम् अन्वश्नुवन्ति। उभे ते विद्म रजसी पृथिव्याः, विष्णो देव ! त्वं परमस्य वित्से"॥१॥

अर्थ—हे माप से परे अर्थात् माप में न आने वाले,शरीर से (स्वरूप से) बढ़े हुए अर्थात् हे अपरिमितस्वरूप ! तेरे महत्त्व को अर्थात् तेरी महिमा को मनुष्य नहीं पाते (नहीं जानते) हैं। हे सर्वव्यापक ! हे देवों के देव ! हम तेरी इस एक पृथिवी को और ऊपरले दोनों लोकों को ही जानते हैं, तू इस त्रिलोकी को और जो कुछ इस त्रिलोकी से परे है, उस सब को जानता है (ऋ० ७।९९।१)

"न ते विष्णो ! जायमानो न जातो, देव ! महिम्नः परमन्तमाप । उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं, दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः"॥२॥

अर्थ—हे सर्वव्यापक ! हे देवों के देव ! तेरी महिमा के परले पार को न कोई उत्पन्न होने वाला और न कोई उत्पन्न हुआ पाया है। तू दर्शनीय बड़े द्युलोक को ऊपर उठाये हुआ है, तू पृथिवीलोक को और उसकी पूर्वादि दिशाओं अर्थात् उसके चारों ओर के सभी भूप्रदेशों को, धारण किये हुआ है॥ २॥ वामदेव के पुत्र बृहदुक्थ ऋषि का मन्त्र भी यहां ध्यान में रखने योग्य है—

"के उ नु ते महिमनः समस्य, अस्मत्पूर्वे ऋषयोऽन्तमापुः। यत् मातरं च पितरं च साकम्, अजनयथास्तन्वः स्वायाः"॥३॥

अर्थ—हे परमैश्वर्यवान् ! हम से पहले किन ऋषियों ने निश्चय कभी तेरी सब महिमा (महत्त्व) के पार को पाया है । जिस तू ने

पृथिवीलोक और द्युलोक, दोनों को अपने शरीर अर्थात् स्वरूप की निज महिमा से एक साथ उत्पन्न किया है (ऋ० १०।५४।३)।

"सहस अठारह कहन कतेबा असलू इक धात"। सहस्र का उच्चारण सहस और अर्थ उसका हजारों अर्थात् अनेक है। अठारह किताबों से अभिप्रेत यहां अठारह पुराण हैं। असल का उच्चारण असलू और अर्थ ठीक ठीक अथवा सत्य है। जैसे जोषयितव्य का संक्षेप "जोष" (ऋ० ६।५९।४) अथवा दातव्य का संक्षेप "दात" (ऋ० ५।३९।१) है, वैसे धातव्य का संक्षेप यहां "धात" है और अर्थ धारयितव्य (धारने योग्य) अर्थात् मन में रखने योग्य है। मन्त्र का शेष पुराणों के कथन का अनुवाद है। विष्णु, भागवत शिव, नारदीय गरुड़, पद्म, वाराह, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, लिङ्ग, स्कन्द, अग्नि, मत्स्य और कूर्म, ये अठारह पुराण हैं, इनके सिवा उपपुराण भी अनेक हैं, जिन का उल्लेख यहां अपेक्षित नहीं। अमरकोष में लिखा है कि जिस में पांच बातें हों, उसे पुराण कहते हैं। पांच बातों का नाम ही पांच लक्षण हैं। वे पांच बातें ये हैं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैवं पुराणं पञ्चलक्षणम्" ॥१॥

अर्थ—सृष्टि और प्रलय दोनों, राजवंशों और एक दूसरे के पीछे क्रम से होने वाले मनुओं का और निश्चय वंशधरों का जीवनवृत्तान्त, इन पांच लक्षणों वाला पुराण होता है ॥१॥

सामयिक-प्रसिद्धि यह है कि अठारह पुराण और समग्र महाभारत, महामुनि कृष्ण-द्वैपायण व्यास का बनाया हुआ है। परन्तु रचनाभेद और मतामतों के पार्थक्य को दृष्टितल में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि अठारह पुराण भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के बनाये हुए अर्थात् रचे हुए हैं, वे किसी एक व्यक्तिविशेष की रचना नहीं हैं। विष्णुपुराण में लिखा है "आख्यानैश्चापि उपाख्यानैः, गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः। पुराणसंहितां चक्रे, पुरा-

णार्थविशारदः" अर्थात् पुरातन अर्थों के पण्डित व्यास ने आख्यान (देखे हुए अर्थों का कहना) तथा उपाख्यान (सुने हुए अर्थों का कहना) गाथा (पिता, पितामह आदि तथा देश, उपदेश आदि के सम्बन्ध में प्रचलित गीत) और कल्पशुद्धि (कल्पसम्बन्धी निर्णय) को लेकर पुराण नाम की संहिता को बनाया (विष्णुपु० ३।६।१६) । विष्णुपुराण, वर्तमान समय में सब पुराणों से प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है । उसके इस लेख से सुव्यक्त है कि महामुनि व्यासने पहले एक ही पुराणसंहिता बनाई थी, पीछे मतमतान्तरों के प्रादुर्भाव-काल में व्यास के शिष्य लोमहर्षण सूत ने और उसके सुमति, सावर्णि शांशपायन आदि अनेक शिष्यों ने सने सने उसी एक पुराणसंहिता के आधार पर अठारह १८ पुराणों की रचना की (विष्णुपु० ३ । ६ । १७-१८-१९)। बालगङ्गाधर तिलक ने लिखा है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी से पुराणों का बनना आरम्भ हुआ है । श्रीगुरुनानकदेव जी के समय में अठारह पुराण प्रचलित थे और जनता उन्हें प्रामाणिकदृष्टि से देखती तथा मानती थी । इसलिए आपने अपने मन्त्र में " सहस अठारह कहन कतेबा" उच्चारण किया है ॥ २२ ॥

पातालाः भूमयोऽनन्ताः, अनन्ताः क्षणदाकराः ।
अनन्ताः द्योनभोलोकाः, अनन्ताः ऋक्षभास्कराः ॥१॥
तदन्ते मुनयो मग्नाः, वाचमश्रौषुरात्मनः ।
अन्तो नास्त्येव नास्त्येव, रचनायाः परात्मनः ॥२॥

"ईश्वरभक्तानुपमापर्व" ॥२३॥

"सालाही सालाह, एती सुरत न पाईआ । नँदिया अते वाह, पवे समुन्द न जानिअह ॥१॥ समुन्द साह सुलतान, गिरहा सेती माल धन । कीडी तुल्य न होवनी, जे तिसु मनो न वीसरह" ॥२॥२३॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

स श्लाघनीयेभ्यः श्लाघनीयो जगदीश्वरः सर्वदा ध्यातव्यः

स्मर्तव्यः, इति एतावती सुवृत्तिः किं न प्राप्यते । गङ्गाद्याः नद्यः, अथ च शोणादयो वाहाः=प्रवाहाः, दर्शं-दर्शं नैजं बलं, यदा समुद्रं प्रविशन्ति, स्वं-स्वं देहं परित्यजन्ति, तदा तेषां नामापि न ज्ञायते, नूनमन्ते सर्वेषाम् ईदृशी गतिः ॥१॥ पश्यत जनाः! कश्चिद् शासितॄणां शासिता, समुद्रः इव (समुद्रगुप्तः इव) सम्राट् भवेत्, नानाविधखणिजपदार्थपूरितैः गिरिभिः संहितानि मूल्यवन्ति वस्तूनि, धननिधानानि च सहस्राणि तस्य सविधे भवेयुः । स तेन कीटेन दरिद्रातिदरिद्रेण तुल्यो न भवति, यस्तं श्लाघनीयतमं जगद्गुरु-मीश्वरं मनसा न विस्मरति ॥२॥२३॥

हिंदीभाषानुवाद ।

वह सराहणीयों से सराहणीय ईश्वर, सदा स्मरण रखने योग्य है, ऐसी, सुवृत्ति (अच्छी वृत्ति) अर्थात् अच्छा भाव (ख्याल) सब में क्यों नहीं पाया जाता । गङ्गादि नदियां और शोणादि प्रवाह, अपना अपना बल दिखा कर जब समुद्र में मिल जाते अर्थात् अपने अपने शरीर को त्याग देते हैं, तब उनका नाम भी कोई नहीं जानता, निःसन्देह अन्त में ऐसी ही सब की गति है ॥१॥ देखो मनुष्यो ! कोई शासकों के शासक, समुद्र के अर्थात् समुद्र-गुप्त के तुल्य सम्राट् हो, अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों से भरे हुए गिरियों (पर्वतों) के सहित मूल्यवान् पदार्थ और सोने चांदी आदि से भरे हुए अनेक ही खजाने उसके पास हों । इतना बडा वह, उस कीट अर्थात् दरिद्र से दरिद्र के तुल्य भी नहीं है, जो उस सराहणीयों के सराहणीय ईश्वर को कभी मन से नहीं विसारता अर्थात् नहीं भूलता है ॥२॥२३॥

भाष्य—ईश्वर की रचना का अर्थात् लोकसृष्टि का कोई अन्त नहीं है, यह निरूपण किया गया । अब ईश्वर के भक्तों की कोई उपमा नहीं है, यह निरूपण करने के लिए अगले पर्व का आरम्भ है । इसका नाम "ईश्वरभक्तानुपमापर्व" और मन्त्रसंख्या दो है । उन में से दूसरे मन्त्र का पूर्वार्ध है "समुंद साह सुलतान, गिरहा सेती माल धन"। समुद्र का अपभ्रंश उच्चारण समुंद, शास्ता का शाह (साह), सुरतान का सुलतान और अर्थ सब से बड़ा धनाढ्य अर्थात् सम्राट् है । यहां शास्ता, सम्राट् का विशेषण और उसका अर्थ शास्तों का शास्ता अभिप्रेत है । समुद्र से आगे उपमावाची इव (नांई) का लोप है और समुद्र से समुद्रगुप्त विवक्षित है । मौर्यवंश के साम्राज्य का पतन हो जाने पर विक्रम की दूसरी शताब्दी में महाराज 'गुप्त' के बुद्धिवैभव और बाहुबल से गुप्तसाम्राज्य का उदय हुआ । गुप्त-सम्राटों में 'समुद्र' नाम का सम्राट् सब से बड़ा प्रतापी था । सिंहासनारूढ होने पर उसका उपनाम विक्रमादित्य रखा गया और महाराज गुप्त के वंश में होने से सर्वत्र समुद्रगुप्त प्रसिद्ध हुआ । उस का शासन, मुगल-सम्राट् अकबर के समान प्रायः समस्त भारतवर्ष पर था । उसी महाप्रतापी शास्तों के शास्ता सम्राट् समुद्र (समुद्रगुप्त) का नाम उपमा के तौर पर यहां उच्चारण हुआ है, जैसे वसिष्ठ ऋषि के मन्त्रों (ऋ० ७।२३।७) में विजयी योद्धा के तौर पर महाराजा सुदास का नाम । पर्व के दोनों मन्त्रों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है ॥ २३ ॥

भक्ताः नानाविधाः प्रोक्ताः, प्रशस्ताः कर्मवेदिनः ।
कर्मवेदिषु कर्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ १ ॥
कर्ता च ब्रह्मवेत्ता च, कामसङ्कल्पवर्जितः ।
सुखदुःखसमो धीरः, स भक्तोऽनुपमो मतः ॥ २ ॥

मुक्त्यै नो स्पृहयामि नाथ ! विभवैः कार्यं न सांसारिकैः,
किन्त्वायोज्य करौ पुनः पुनरिदं त्वामीश ! याचे हृदा ।

स्वप्ने जागरणे स्थितौ प्रचलने दुःखे सुखे मन्दिरे,
कान्तारे निशि वासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि ॥३॥

"ईश्वरानन्तगुणगणपर्व" ॥२४॥

"अन्त न सिफती कहन न अन्त । अन्त न करने देन न अन्त ॥१॥ अन्त न वेखन सुनन न अन्त। अन्त न जापे किया मन मन्त ॥ २ ॥ अन्त न जापे कीता आकार । अन्त न जापे पारावार ॥ ३ ॥ अन्त कारण केने बिललाए । ताके अन्त न पाये जाए ॥ ४ ॥ एहु अन्त न जाने कोए । बहुता कहिये बहुता होए ॥५॥ वड्डा साहिब ऊँचा थाओ। ऊँचे ऊपर ऊँचा नाओ ॥६॥ एवड ऊँचा होवे कोए । तिस ऊँचे को जाने सोए ॥७॥ जेवड आप, जाने आप आप । नानक नदरी करमी दात" ॥ ८ ॥ २४ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ईश्वरस्य गुणानाम् अन्तो नास्ति, तस्य कथनानां वाणीनां भावानाम् अन्तो नास्ति । तस्य कर्मणां सृष्टिरचनानाम् अन्तो नास्ति, तस्य दानानां रातीनामन्तो नास्ति ॥१ ॥ तस्यावेक्षणस्य दृष्टेः अन्तो नास्ति, श्रवणस्य श्रुतेरन्तो नास्ति । सृष्टिरचनातः पूर्वं या तेन मनसि आत्मनि मन्त्रणा सृष्टिसङ्कल्पनाम्नी विचारणा अकारि, तस्याः अन्तोऽपि (स्वरूपतोनिश्चयोऽपि) न ज्ञायते ॥२॥ ये च आकाराः नानाकृतयः पदार्थाः तेनाकारिषत, तेषाम् अन्तोऽपि न ज्ञायते । तत्कृतस्य सर्वस्यास्य जगतः पारावारतोऽन्तोऽपि न ज्ञायते ॥३॥ अस्य जगतः स्वामिनोऽन्तस्यावच्छेदस्य प्राप्तये कियन्तो विलपन्ति । परं तस्यान्तः केनापि प्राप्तुं न शक्यते॥४॥

किं बहुना, अस्यान्तः कोऽपि न जानाति । बहुतरं कथ्यते, बहुतमं भवति ॥ ५ ॥ वरिष्ठेभ्यो वरिष्ठः स्वामी, उत्कृष्टादुत्कृष्टं स्थानम् । उत्कृष्टाद् उपरि उत्कृष्टं नाम ॥ ६ ॥ यः कश्चिद् एतावान् उत्कृष्टो भवेत । स तम् उत्कृष्टं विजानीयात ॥ ७ ॥ यावान वरिष्ठः स आत्मतोऽस्ति, तावन्तम् आत्मानम् आत्मना एव जानाति । कर्मभिः अनुग्रहदृष्ट्या च दातिं रातिं करोति, इति नानकः पश्यति ॥८॥२४॥

हिंदीभाषानुवाद ।

ईश्वर के गुणों का अन्त नहीं, उसके कहनों अर्थात् वाणियों (भाषाओं) का अन्त नहीं । उसके करने अर्थात सृष्टिरचनारूपी कर्मों का अन्त नहीं, उस के दानों (बखशिशों) का अन्त नहीं ॥१॥ उस के देखने अर्थात दृष्टि का अन्त नहीं, उस के सुनने अर्थात् श्रुति का अन्त नहीं । सृष्टिरचना से पहले, जो उसने सृष्टिसङ्कल्परूपी मन्त्रणा अर्थात विचारना, मन में की, उसका अन्त भी नहीं जान पडता अर्थात उसका स्वरूप निश्चय रूप से नहीं जाना जाता ॥२॥ जो अनेक आकारों (शकलों) अर्थात नानाविध आकृतियों के पदार्थ, उस ने किये अर्थात् बनाये हैं, उन का अन्त भी नहीं जान पडता । उस के किये हुए (बनाये हुए) जगत का पारवाररूपी अन्त भी नहीं जाना जाता ॥३॥ उस जगत के स्वामी ईश्वर का अन्त पाने के लिये कितने ही बुद्धिमान विलाप कर रहे अर्थात बुद्धियां दौडाते दौडाते थक गए हैं, पर उस का अन्त कोई पा नहीं सका ॥ ४ ॥ अधिक क्या, किसी प्रकार से भी उस का अन्त कोई नहीं जानता । जितना बहुत उसे कहा जाता है, वह उस से और बहुत होता है ॥ ५ ॥ वह बडे से बडा स्वामी है, ऊंचे से ऊंचा उस का

स्थान है ऊंचे से भी ऊंचा उस का नाम है ॥६॥ जो कोई इतना ऊंचा हो। वह उस ऊंचे को जाने ॥ ७ ॥ वह अपने स्वरूप से जितना बड़े से बड़ा अर्थात् महान् है, उतने वडे (महान्) अपने आप को आप ही जानता है। और सब को कर्मों के अनुसार अपनी अनुग्रह-दृष्टि से यथायोग्य दान देता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥८॥२४॥

भाष्य—ईश्वर के भक्तों की कोई उपमा नहीं, यह कहा गया। अब ईश्वर के गुणों का कोई अन्त नहीं, यह अगले पर्व में कहा जाता है। इस पर्व का नाम "ईश्वरानन्तगुणगणपर्व" और मन्त्रसंख्या आठ है। अर्थ अनुवाद से स्पष्ट है ॥ २४ ॥

यस्यानन्ताः गुणाः भाषाः, अनन्ताः श्रुतिदृष्टयः।
अनन्ता मन्त्रणा सृष्टेः, अनन्ताः जीवसृष्टयः ॥ १ ॥
अनन्तं रचनाकर्मानन्तरूपं सुरासुराः ।
न विदुर्यस्य देवस्य, तं भजतानिशं नराः ! ॥ २ ॥

"ईश्वरानन्तदानपर्व"।

"बहुता करम लिखिआ न जाए। बड्डा दाता तिलु न तमाए ॥१॥ केते मंगे जोध अपार। केतिआ गणित नही वीचार। केते खंप तुट्टे वेकार ॥ २ ॥ केते ले ले मुकर पाह। केते मूरख खाही खाह ॥३॥ केतिआ दूख भूख सद मार। एह भि दात तेरी दातार ॥ ४ ॥ बंद खलासी भाणे होए। होर आख न सके कोए ॥५॥ जे को खायिक आखन पाए। ओह जाने जेतिआ मुंह खाए ॥ ६ ॥ आपे जाने आपे देए । आखे सिभ केई

केएँ ॥ ७ ॥ जिसे नो बँखसे सिफ़त सालाह । नानक पातसाही पातसाह" ॥ ८ ॥ २५ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

बहुतरम=अनन्तं दानकर्म, लिखितुं न शक्यते । वरिष्ठो दाता, तिलसमोऽपि आत्मलोभो नास्ति ॥१॥ कियन्तो योद्धारोऽपारलाभं युद्धं याचन्ते। कियन्तोऽपरे याचकाः वर्तन्ते, ये बहुना विचारेणापि गणितुं नहि शक्यन्ते। कियन्तो दानग्रहीतारो मूढाः विकारेषु आत्मानमवक्षिप्य पुरुषार्थात त्रुट्यन्ति भ्रश्यन्ति ॥ २ ॥ कियन्तो लायं लायं ग्राहं ग्राहं माकारम् अग्रहं प्रकटयन्ति। कियन्तो दानग्रहीतारो मूर्खाः खादं खादं वृथा जल्पन्ति ॥ ३ ॥ कियन्तो बुभुक्षादुःखेन सदा मारं मरणं प्राप्नुवन्ति। एषाऽपि तव दातिरेव हे दातर्! इति भक्ताः निश्चिन्वन्ति ॥४॥ बन्धान्मुक्तिरपि दातुरीश्वरस्येच्छया भवति । न केनचिद् अपरं कारणं किञ्चिद् आख्यातुं शक्यते ॥५॥ यदि कापायिकः कश्चिद् आख्यानाय=कारणान्तरस्य कस्यचित कथनाय, पारयेत=प्रयतेत। तदा सः एव जानीयाद यावतीः मिथ्यावादोपालम्भलक्षणाः चपेटिकाः मुखोपरि खादेव ॥ ६ ॥ पश्यत जनाः ! स जगद्गुरुः ईश्वरः आत्मतः एव मोक्षाधिकारिणं जनं जानाति, आत्मतः एव, यमिच्छति, तस्मै मुक्तिं ददाति । केचित कर्मवादिनः केचित ज्ञानवादिनः, ते सर्वे यथावादमाख्यान्ति ॥ ७ ॥ स सम्राजां सम्राट् यस्मै श्लाघनीयान् आत्मदर्शनान्तान् गुणान कृपादृष्ट्या प्रददाति, स मुच्यते, नापरः, इति नानकः पश्यति ॥८॥२५॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

उसका दानकर्म बहुत से बहुत अर्थात अनन्त है, उसे लिख नहीं सकते अर्थात उसकी इयत्ता नहीं कह सकते। वह बड़े से

बड़ा दाता है, उसे तिल के बराबर भी अपना लोभ (लालच) नहीं है ॥१॥ कितने ही योद्धा अपारलाभों वाले युद्धों को उस से मांगते हैं। कितने ही अनेक प्रकार के दूसरे मांगने वाले हैं, जिन्हें बहुत विचार करने पर भी नहीं गिन सकते। कितने दान लेने वाले विषयविकारों में अर्थात अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में अपने आप को फेंक कर (डाल कर) पुरुषार्थ से टूटते अर्थात भ्रष्ट होते हैं ॥२॥ कितने ही दान ले ले कर न लेना प्रकट करते अर्थात् कृतघ्न होते हैं। कितने दान लेने वाले मूर्ख (अज्ञानी) खा खा कर व्यर्थ बकवाद करते हैं॥३॥कितने ही अनाथ भूख के दुःख से सदा (रात दिन) मरण को पाते अर्थात मरते हैं। हे दाता! यह भी एक प्रकार की तेरी दात है, ऐसा भक्तजन निश्चय करते अर्थात मानते हैं ॥ ४ ॥ बन्ध से खलासी अर्थात मुक्ति भी ईश्वर के भाणे (इच्छा-विशेष) से होती है। कोई, उसका दूसरा कारण नहीं कह सकता ॥ ५ ॥ यदि कोई काषायिक अर्थात भगवे वस्त्रों वाला, शुष्क वेदान्ती, कोई दूसरा मुक्ति का कारण कहने का अवसर पाये अर्थात कहने के लिये उद्यत हो, तो वह जितनी मिथ्यावाद के उपालम्भ की चपेटिका मुख पर खायेगा, उन्हें वही जाने ॥ ६ ॥ देखो मनुष्यो ! वह जगद्गुरु ईश्वर आप ही मुक्ति के अधिकारी को जानता है और जिसे चाहता है अर्थात अधिकारी समझता है, उसे आप ही मुक्ति देता है। जो कोई कर्मवादी और जो कोई ज्ञानवादी हैं, वे सब अपने अपने वाद के अनुसार कर्म और ज्ञान को मुक्ति का कारण कहते हैं ॥७॥ वह सम्राटों का सम्राट् अपनी कृपादृष्टि से जिसको आत्मज्ञान तक के सभी सराहणीय गुण देता है, वह मुक्ति पाता है, दूसरा नहीं, यह नानक का दर्शन अर्थात नानक की दृष्टि है ॥८॥२५॥

भाष्य—पिछले पर्व के अन्त में "नानक नदरी कर्मी दात" कहा है। अब अगले पर्व में जैसे ईश्वर के गुणगण अनन्त हैं, वैसे उस की दात अर्थात् उस का दानकर्म भी अनन्त हैं, यह कहा जाता है। इस पर्व का नाम "ईश्वरानन्तदानपर्व" और मन्त्रसंख्या आठ है। उन में से पांचवां मन्त्र है "बंद खलासी भाणे होए। होर आख न सके कोए" ॥५॥ बन्धि का उच्चारण बन्द, खलासी का अर्थ मुक्ति और ईश्वर की इच्छाविशेष का नाम भाणा है। यहां इच्छाविशेष से ईश्वर की अनुग्रहदृष्टि विवक्षित है। जब मनुष्य ईश्वर का अनन्यभक्त हुआ कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करता है और उस के भाणे में सदा प्रसन्न रहता है, तब ईश्वर प्रसन्न हुआ उसे अप-ना लेता है, उस पर अनुग्रह करता है और अपना दर्शन उसे देता है। ईश्वर के दर्शन से मनुष्य हमेशा के लिये जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है, इसी का नाम मुक्ति है, इसी का नाम बन्ध से खलासी है। मुण्डकोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में इस का वर्णन इस प्रकार किया है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" ॥

अर्थ—यह आत्मा (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) पढ़ने पढ़ाने से प्राप्त होने योग्य नहीं, न बुद्धि से (बुद्धि की तर्क से), न बहुत सुनने से प्राप्त होने योग्य है। जिस को निश्चय यह आत्मा चुन लेता अर्थात् अपना बना लेता है, उसे प्राप्त होने योग्य होता अर्थात् प्राप्त होता है, उसके लिये यह आत्मा अपने शरीर (स्वरूप) को खोल देता अर्थात् मायारूपी परदे को उठा कर दर्शन देता है (३।२।३)। यहां पर रेभ ऋषि का प्रार्थनामन्त्र भी उद्धृत करने योग्य है—

"मा नः इन्द्र ! परावृणक्, भवा नः सधमाद्यः। त्वं नः ऊती त्वमित् नः आप्यः, मा नः इन्द्र ! परावृणक्" (ऋ० ८।८६।१७।७)।

अर्थ—हे परमैश्वर्यवान् ! तू ने हमें न छोड़ना (न त्यागना), हम सब को एकसाथ आनन्द का देने वाला होना। तू हमारी रक्षा और तू ही हमारी प्रार्थना की जगह है, हे परमैश्वर्यवान् ! हमें अयोग्य होने

पर भी नें त्यागना अर्थात् हम पर अनुग्रह करना ॥७।५॥

"जे को खायिक आखन पाए। ओह जाने जेतिअ, मुह खाए" ॥६॥

यहां काषायिक का छान्दस उच्चारण षायिक (खायिक) है, जैसे 'दधिरे' का छान्दस उच्चारण "धिरे" (ऋ० १।१६६।१७) और वायु का छान्दस उच्चारण "आयु" (ऋ० १०।१७।४) है। कषाय से काषायी और काषायी से काषायिक शब्द बनता है। काषायी और काषायिक, दोनों का अर्थ एक है। ककार (क) के जोड़ने से केवल शब्दभेद होता है, अर्थभेद नहीं होता। इसीलिए वैय्याकरण ऐसे ककार (क) को स्वार्थ-प्रत्यय कहते हैं। किसी रंगविशेष से रंगे हुए वस्त्रों का पहनने वाला, काषायी शब्द का अर्थ है, काषायिक शब्द का अर्थ भी यही है। श्रीगुरु नानकदेव जी के समय में नाथपन्थी योगी साधुओं की नांई दत्तपन्थी संन्यासी साधुओं का भी बहुत प्राबल्य था। वे सब " अहं ब्रह्मास्मि " को मुक्ति का साधन मानते और जहां तहां जनता में भी कहते फिरते थे। उन्हीं को यहां काषायिक और उन के माने हुए "अहं ब्रह्मास्मि" को मुक्ति का असाधन कहा है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कर्मसंन्यास का खण्डन किया है, वैसे श्रीगुरु नानकदेव जी ने यहां " अहं ब्रह्मास्मि " का निराकरण किया है। आपका निश्चित मत यह है कि जो मनुष्य सब आश्रयों (सहारों) को छोड़ कर एक सत्य ईश्वर का आश्रय (सहारा) लिये हुआ सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करता है और सब प्राणियों में सर्वान्तरात्मा-रूप से ईश्वर को देखता हुआ उसका भक्त होता है, उस पर ईश्वर प्रसन्न होता है और उसे अपना दर्शन देता है। वह ईश्वर के दर्शन से कृतकृत्य हुआ यहां जीवन्मुक्ति को और मरने पर विदेहमुक्ति को पाता है। वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों का और भगवान् श्री कृष्ण का मत भी यही है और यही ठीक है॥ ७॥

"जिस नो बखसे सिफत सालाह। नानक पातसाही पातसाह" ॥ ८॥

यहां गुण का नाम सिफत और सालाह का श्लाघनीय अर्थ है। सिफत विशेष्य और सालाह उसका विशेषण है। दोनों बहुवचनान्त हैं। श्लाघनीय-गुणों से यहां आत्मदर्शन (ईश्वर-दर्शन) के साधन

अमानित्व आदि बीस गुण अभिप्रेत हैं । भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में उनकी गिनती के श्लोक इस प्रकार पढ़े हैं —

"अमानित्वम् अदम्भित्वम्, अहिंसा क्षांतिः आर्जवम्" ।
आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः" ॥ ७ ॥

अर्थ—मानरहितता, दम्भरहितता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, दृढ़ता, मन का निग्रह ॥७॥

"इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहङ्कारः एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अर्थ—इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में राग का न होना और निश्चय अहङ्कार का न होना । जन्म, मरण, जरा, रोग और दुःखों में उनके कारण दोषों का अनुसन्धान ॥८॥

"असक्तिरनभिष्वङ्गः, पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु" ॥९॥

अर्थ—कर्मों में अनासक्ति, पुत्र, स्त्री, घर आदि म न लम्पटता । और इष्ट, अनिष्ट की प्राप्ति में सदा एकसी चित्त की वृत्ति ॥९॥

"मयि चानन्ययोगेन, भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि" ॥ १० ॥

अर्थ—और मुझ में अभेदभाव से न कभी बदलने वाली भक्ति । एकान्त देश का सेवन, लोगों के जमघट में अप्रीति ॥ १० ॥

"अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतद् ज्ञानमिति प्रोक्तम्, अज्ञानं यदतोऽन्यथा" ॥११॥

अर्थ—आत्मा के ज्ञान में नियम से तत्परता और हरएक वस्तु के तत्वज्ञान के लिये शास्त्रों का पर्यालोचन (स्वाध्याय), यह सब ज्ञान (ज्ञान का साधन) है, जो इस से उलटा (मानित्व, आदि) है, वह सब अज्ञान है, ऐसा ऋषियों ने कहा है ॥ ११ ॥ २५ ॥

अनन्ताः निधयो यस्यानन्ताः यस्य च दातयः ।
अनन्ताः याचकास्तेषाम् , अनन्ताश्च गृहीतयः ॥१॥

युद्धस्य याचकाः केचित्, केचिद् अन्नस्य याचकाः ।
केचित् कामोपभोगस्य, भक्ताः भक्तेस्तु याचकाः ॥२॥

"ईश्वरामूल्यदेयगुणपर्व" ॥ २६ ॥

"अमुल्य गुंण, अमुल्य वापार । अमुल्य वापारिये, अमुल्य भण्डार ॥१॥ अमुल्य आंवह. अमुल्य लेजाह । अमुल्य भाए, अमुल्य समाए ॥२॥ अमुल्य धर्म, अमुल्य दीबांण । अमुल्य तुंल, अमुल्य परवाण ॥ ३ ॥ अमुल्य बखससि, अमुल्य नीसान । अमुल्य कर्म, अमुल्य फुरमान ॥ ४॥ अमुल्यो अमुल्य आखिआ नं जाए । आख आख रंहे लिवं लाए ॥५॥ आखे वेदं पाठ पुराण। आखे पंढे करे वखिआन ॥६॥ आखे बरमे आखे इंदं । आखे गोपी तं गोविन्द ॥७॥ आखे ईसरं आखे सिद्ध । आखे कंते कीते बुद्ध ॥ ८ ॥ आखे दानव आखे देवं । आखे सुंर नंर मुंन जंन सेवं ॥ ९ ॥ केते आखे, आखन पांह। केते कंह कंह उंठ उंठ जांह ॥१०॥ एंते कीते होर करेह। तां आख नं सके केई केएं ॥११॥ जेवंड भावे तेवंड होए । नांनक जांने सांचा सोए ॥१२॥ जे को आंखे बोल विगांड़ । तां लिखिये सिरं गांवारा गांवार ॥ १३ ॥ २६ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

अमूल्याः अद्भुताः तस्य दातव्याः गुणाः, अमूल्यो अद्भुतः तस्य दानव्यापारः । अमूल्योऽद्भुतः स व्यापारी, अमूल्योऽद्भुतः तस्य गुणभाण्डारः ॥१॥ अमूल्याः अद्भुताः ते, ये गुणान् लातुम्

आयान्ति, अमूल्याः अद्भुताः, ये तान् लात्वा-यान्ति। अमूल्याऽद्भुता तस्य भक्तिः, अमूल्याः अद्भुताः, ये तत्र भक्त्या समायन्ति ॥२॥ अमूल्योऽद्भुतस्तस्य न्यायधर्मः, अमूल्योऽद्भुतस्तस्य न्यायालयः। अमूल्याऽद्भुता तुला, अमूल्यम् अद्भुतं तुलापरिमाणम् ॥३॥ अमूल्यम् अद्भुतं फलप्रदानम्, अमूल्यम् अद्भुतं तस्य निरवसानम् (अपर्यवसानम्)। अमूल्यमद्भुतं तस्य सर्वं कर्म, अमूल्यमद्भुतं तस्य शासनम् ॥४॥ किं बहुना, स यथा गुणादितोऽमूल्योऽद्भुतः, तथा स्वरूपतोऽप्यमूल्योऽद्भुतो न कथञ्चिदाख्यातुं शक्यते। तमाख्याय आख्याय बहवः स्थकिताः श्रान्ताः वाचो वृत्तेर्लयम् आतिष्ठन्ते, मौनमासते ॥५॥ वेदानां पाठकाः तमाख्यान्ति, पुराणानां पाठकास्तमाख्यान्ति। ये पाठं पाठं व्याख्यानं कुर्वन्ति, ते तमाख्यान्ति ॥६॥ ब्रह्मा तमाख्याति, इन्द्रस्तमाख्याति । तथैव गोपीप्रियो गोविन्दो विष्णुस्तमाख्याति ॥ ७ ॥ ईश्वरः शिवस्तमाख्याति, योगसिद्धाः योगिनस्तमाख्यान्ति। कियन्तो बुद्धाः ज्ञानसिद्धाः कृतकार्यास्तमाख्यान्ति ॥८॥ दानवाः (दनुसूनवो दस्यवः) तमाख्यान्ति, देवाः (आर्याः) तमाख्यान्ति। सुरमुनयः तथा नरमुनयस्तमाख्यान्ति, भक्तजनाः वैष्णवास्तथा शैवास्तमाख्यान्ति ॥९॥ कियन्तः तमाख्यान्ति, कियन्तः आख्यानाय प्रभवन्ति। कियन्तः आख्याय आख्याय उत्तिष्ठन्ति, उत्थाय उत्थाय च गच्छन्ति॥१०॥ एतावन्तो ये तदाख्यानम् अकुर्वत, अपरेऽपि तावन्तः कुर्वीरन्। तथापि ते कियन्तोऽपि स्युः, केऽपि भवेयुः, न जातु तम् आख्यातुं शक्नुवन्ति ॥११॥ यावान् वरिष्ठो महान् भवितुमिच्छति, तावान् वरिष्ठो महान् भवति। अतः स स्वयमेव आत्मानं जानाति॥१२॥ यदि कश्चिद् ऋषिमुनिवाक्यानां विकारकोऽन्यथयिता “ अहं तं

जानामि" इत्याख्यांयाव्।तंदां स ग्रामीणानां शिरोमणिः ग्रामीणो लेख्यो लिखितुं योग्यः, इति नांनकः पश्यति ॥१३॥२६॥

हिन्दीभाषानुवाद।

उस जगत्कर्ता ईश्वर के दान देनेयोग्य गुण अमूल्य अर्थात् अद्भुत हैं, उसका दान देना-रूपी व्यापार (क्रिया) अमूल्य अर्थात् अद्भुत है। वह दान देने के व्यापारवाला (व्यापारी) आप अमूल्य अर्थात अद्भुत हैं, उसके गुणों का भाण्डार (रखने का स्थान) अमूल्य अर्थात अद्भुत है ॥१॥ जो गुणों का दान लेने के लिये आते हैं, वे अमूल्य अर्थात अद्भुत हैं, जो लेकर जाते हैं, वे अमूल्य अर्थात अद्भुत हैं। उसकी भक्ति अमूल्य अर्थात अद्भुत है, जो उस में भक्तिभाव से निमग्न होते हैं, वे अमूल्य अर्थात् अद्भुत हैं॥२॥ उसका न्यायधर्म अमूल्य अर्थात अद्भुत है, उसका न्यायालय अमूल्य अर्थात अद्भुत है। उस की तुला (पुण्य, पाप कर्मों के तोलने की तराजू) अमूल्य अर्थात अद्भुत है, उसके तोलने के माप (वट्टे) अमूल्य अर्थात अद्भुत हैं॥ ३ ॥ उसका फलप्रदान अमूल्य अर्थात अद्भुत है, उस के फलप्रदान का अवसान (हद) से रहित (अनन्त) होना भी अमूल्य अर्थात् अद्भुत है। उस का हरएक कर्म अमूल्य अर्थात् अद्भुत है। उसका अनुशासन अर्थात् आज्ञाप्रदान अमूल्य अर्थात अद्भुत है ॥ ४ ॥ अधिक क्या, वह जैसे गुण आदि से अमूल्य (अद्भुत) है, वैसे स्वरूप से भी अमूल्य है, इसलिये कोई भी उस को स्वरूप से नहीं कह सकता। अनेक उसके स्वरूप को कह कह कर, अन्त में वाणी की वृत्ति को (वाणी के बोलने-रूपी व्यापार को) लय करके अर्थात् कहना बंद करके बैठ रहे (चुप हो गये) हैं ॥५॥ वेदों के पढ़नेवाले, उसके स्वरूप को कहते हैं,

पुराणों के पढ़नेवाले उसके स्वरूप को कहते हैं । वेदों को पढ़ कर व्याख्यान के करने वाले अर्थात् वेदों के भाष्यकर, उसके स्वरूप को कहते हैं ।।६।। ब्रह्मा उसके स्वरूप को कहता है, इन्द्र उसके स्वरूप को कहता है, तथा गोपियों का प्यारा गोविन्द अर्थात् विष्णु उसके स्वरूप को कहता है ।। ७ ।। ईश्वर अर्थात् शिव उसके स्वरूप को कहता है सिद्ध अर्थात योग को सिद्ध किये हुए युञ्जान-योगी उसके स्वरूप को कहते हैं। कितने कीते (किये) हुए कर्तव्यों वाले अर्थात् कृतकार्य आत्मज्ञानी (बुद्ध) उसके स्वरूप को कहते हैं ।।८।। दानव (दस्यु) उसके स्वरूप को कहते हैं, देव (आर्य) उसके स्वरूप को कहते हैं । सुरमुनि नारद आदि, नरमुनि व्यास आदि, तथा भक्तजन वैष्णव और शैव उसके स्वरूप को कहते हैं ।। ९ ।। कितने ही कह रहे हैं, कितने ही कहने का अवसर पा रहे अर्थात् कहने के लिये उद्यत हो रहे हैं । कितने ही कह कह कर उठ उठ चले गये अर्थात् मर गये हैं ।।१०।। इन जितनों ने कहा है, उतने और भी कहें और वे कितने ही हों, कोई भी हों, तो भी उसके स्वरूप को नहीं कह सकते ।। ११ ।। वह जितना वड़ा होना चाहे, उतना वड़ा होता अर्थात् जितना महान् उसे समझा जाये, वह उस से भी महान् होता है। इसलिये वह सच्चा स्वामी आप ही अपने स्वरूप को जानता है, दूसरा कोई नहीं जानता । यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ।।१२।। यदि कोई ऋषियों मुनियों के वाक्यों का विगाड़ने वाला अर्थात् उलटा अर्थ करने वाला कहे कि मैं उसके स्वरूप को जानता हूं। तो वह ग्रामीणों का शिरोमणि ग्रामीण लिखने योग्य है ।।१३।।२६।।

भाष्य—ईश्वर का दानकर्म अनन्त हैं, यह कहा गया । अब उस के देय गुणादि पदार्थ भी अमूल्य अर्थात् अद्भुत हैं, यह अगले पर्व में कहा जाता है। इस पर्व का नाम "ईश्वरामूल्यदेयगुणपर्व" और मन्त्रसंख्या तेरह १३ है । अर्थ अनुवाद से स्फुट है ॥२६॥

———

ब्रह्मेशरमेशवासवमुखाः देवाश्च देवद्विषः,
मर्त्याः वेदपुराणपाठनिरताः सिद्धास्तथा साधकाः ।
दृष्ट्वाऽमूल्यपदार्थभारबहुलान् ईशस्य देवांश्चक्रुः,
ख्यानोद्योगपराहतेन मनसाऽनन्तोऽसि हे-सर्वग ! ॥१॥

"ईश्वरगेहदरशोभापर्व" ॥२७॥

"सो दर केहा सो घर केहा, जित बह सरब संभाले। वाजे नाद अनेक असंखा, केते वावन-हारे ॥१॥ केते राग परी सिओ कहीअन, केते गावन-हारे। गावे तुहनो पौन पानी बैसन्तर, गावे राजा धरम-द्वारे ॥ २ ॥ गावे चित्तगुप्त लिख जाने, लिख लिख धरम वीचारे । गावे ईसर बरमा देवी, सोहन सदा सवारे ॥३॥ गावे इन्द इन्दासन बैठे, देवतिआ दर नाले । गावे सिद्ध समाधि अन्दर, गावन साध विचारे ॥ ४ ॥ गावन जती सती सन्तोखी, गावे वीर करारे । गावन पण्डित पढन रखीसर, जुग जुग वेदा नाले ॥५॥ गावे मोहनिआ मन मोहन सुरगा मच्छ पिआले । गावन रतन उपाये तेरे अठसठ तीर्थ नाले ॥ ६ ॥ गावे जोध महाबल सूरा, गावे खाणी चारे । गावे खण्ड मण्डल वरभण्डा कर कर रक्खे धारे ॥ ७ ॥ सेई तुध नो गावन, जो तुध

भांवन, रत्ते तेरे भगत रसाले । होर केते गावन, से मै चित्त न आवन, नानक क्या वीचारे ॥८॥ सोई सोई सदा सच साहिब, साचा साची नाई । है भी होसी जाए न जासी, रचना जिन रचाई ॥९॥ रंगी रंगी भाती कर कर जिनसी माया जिन उपाई । कर कर वेखे कीता आपना, जिव तिस दी वडिआई ॥१०॥ जो तिस भावे, सोई करसी, हुकम न करणा जाई । सो पातसाह साहा पातसाहिब, नानक रहन रजाई" ॥११॥२७

संस्कृतभाषानुवाद ।

तद् दरं द्वारं कीदृशं ?, तद् गृहं सद्म कीदृशं ?, यत्रासीनो भवान् सर्वं चराचरं जगत् संभालयते । यत्र कियन्ति वाद्यानि अनेकनादानि असंख्यप्रकाराणि वाद्यन्ते, कियन्तो वादनकर्तारो वादयितारो विद्यन्ते ॥१॥ कियन्तो रागाः भैरवादयः परिवारैर्जायापत्यैः संहिताः कथ्यन्ते=गीयन्ते, कियन्तो गानकर्तारो गातारो वर्तन्ते । गायन्ति (गायं गायं कथयन्ति) त्वां महान्तं पवनाः, आपः अग्नयः, गायन्ति त्वां महान्तं धर्मगृहे न्यायवेश्मनि स्थितो धर्मराजः ॥ २ ॥ गायति त्वां महान्तं चित्रगुप्तो, यः प्राणिनां शुभाशुभं कर्म लिखितुं जानाति, येन लिखितं शुभं, लिखितमशुभं फलदानाय धर्मराजो विचारयति विवेचयति । गायति त्वां महान्तं शिवो, ब्रह्मा, देवानां स्वामी विष्णुः, ये त्वया विविधाभिः विभूतिभिः अलंकृताः सदा शोभन्ते ॥ ३ ॥ गायति त्वां महान्तं इन्द्रासने समासीनो देवतानां दलेन सार्धम् इन्द्रः । गायन्ति त्वां महान्तं समाधौ अन्तरे सिद्धाः=योगसिद्धिं प्राप्ताः युञ्जानयोगिनः, गायन्ति त्वां महान्तम् आत्मविचारे निमग्नाः

सौंधवः=संन्यासिनः ॥ ४ ॥ गायन्ति त्वां महान्तं जितेन्द्रियाः ऋतुकालाभिगामिनः सत्यप्रतिज्ञातारो यथालाभसन्तोषिणो गृहस्थाः, गायन्ति त्वां महान्तं करालाकृतयो वीराः शत्रुतापनाः। गायन्ति त्वां महान्तं पण्डिताः पुराणपाठिनः, गायन्ति त्वां महान्तं युगे युगे=स्वस्वकाले वेदैः=वेदमन्त्रैः सौधर्म्, ऋषिवराः मन्त्रदर्शिनः ॥५॥ गायन्ति त्वां महान्तं स्त्रियो मनोमोहनप्रकृतयः, षड्जादिस्वरगायत्र्यो मत्स्याः (मीनाः) इव चपलाङ्गाः प्रेमालयाः (अनुरागमूर्तयः) । गायन्ति त्वां महान्तं तीर्थैरष्टषष्टितमैः सार्धं त्वदुत्पादिताः रत्नाकरप्रभृतयः सर्वे समुद्राः ॥ ६ ॥ गायन्ति त्वां महान्तं तद्वासिनो यानकुशलाः योद्धारो महाबलाः शूराः, गायन्ति त्वां महान्तं खानयश्चतस्रः=चतुर्विधाः जीवयोनयोऽण्डजादयः । गायन्ति त्वां महान्तं निखिलानि खण्डमण्डलब्रह्माण्डानि, यानि कृत्वा कृत्वा=सृष्ट्वा सृष्ट्वा, यथास्थानं धारितानि रक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥ किं बहुना, एते वा, अन्ये वा, ते एव त्वां महान्तं गायन्ति, ये तुभ्यं रोचन्ते, त्वदनुरागानुरक्ताः त्वद्भक्तिरसालयाः तव भक्ताः। अपरे कियन्तस्त्वां महान्तं गायन्ति (गायं गायं कथयन्ति), ते मम नानकस्य चेतसि विचारे चिन्तने कृतेऽपि न आयन्ति, मम स्मृतिपथं नावतरन्ति ॥८॥ स एव स एव सदातनः सत्यः स्वामी, स्वरूपतोऽपि सत्यः, नामतोऽपि सत्यः । सोऽधुनाऽपि अस्ति, अग्रेऽपि भविष्यति, न जायते न जनिष्यते, येन सत्येन स्वामिना रचनेयमरचि ॥९॥ रूपतो नानाविधा, आकारतो नानाविधा कृत्वा, प्रकारतो नानाविधा, योनितो नानाविधा कृत्वा, मायैवात्मनो येन उदपादि=प्रादुरभावि । सोऽस्मिन् कल्पे पूर्वकल्पवत् कृत्वा, पूर्वस्मिन् कल्पे पूर्वकल्पवत् कृत्वा, आत्मनो मायाकृतां जगद्रचनामेना यथावत् प्रवर्तयितुं दिवानक्तं

तथाऽवेक्षते यथा तस्य वरिष्ठता वेविद्यते ॥१०॥ पश्यत जनाः ! यत् तस्मै रोचते, तदेव कुरुते, तत्र नियोगो वा पर्यनुयोगो वा न कर्तुं शक्यते । स सम्राजां सम्राट्, शासितॄणां शासिता, पतीनां पतिः, स्वामिनां स्वामी, तत्प्रसन्नतायामेव सर्वदा वर्तनं=प्रसन्नताप्रकाशनं, श्रेयः इति नानकः पश्यति ॥११॥

हिंदीभाषानुवाद ।

वह दर (दवाजा) कैसा है, वह घर कैसा है, जहां बैठ कर आप सबको संभालते हैं । जहां अनेकप्रकार के शब्दों वाले कितने ही अनेक प्रकार के बाजे बजते हैं और कितने ही उनके बजाने वाले हैं ॥१॥ कितने ही राग, परिवारों के सहित अर्थात स्त्रियों, पुत्रों और पुत्रवधूओं के साथ, गाये जाते हैं और कितने ही उनके गाने वाले अर्थात गवय्या हैं । तुझ महान को अर्थात तुझ महान के गुणों को वायु, जल और अग्नियां गाते अर्थात गा गा कर कहते हैं, तुझ महान को अर्थात तुझ महान् के गुणों को धर्म के घर (न्यायालय) में धर्मराज गाता अर्थात गा गा कर कहता है ॥२॥ तुझ महान् को अर्थात तुझ महान के गुणों को चित्रगुप्त गाता अर्थात गा गा कर कहता है, जो मनुष्यों के पुण्यकर्मों तथा पाप कर्मों का लिखना जानता है और जिसके लिखे हुए पुण्य कर्म को, लिखे हुए पाप कर्म को फल देने के लिये धर्मराज विचारता है । शिव, ब्रह्मा और इन्द्र से लेकर सारे देवताओं का स्वामी विष्णु, जो आपकी दी हुई अनेक प्रकार की विभूतियों से अलंकृत हुए, अपने अपने अधिकार में सदा सोहते अर्थात शोभते हैं, तुझ महान को अर्थात तुझ महान के गुणों को गाते हैं ॥ ३ ॥ देवताओं के दल के सहित इन्द्र, इन्द्रासन पर बैठा हुआ, तुझ महान् को अर्थात तुझ महान के गुणों को गाता है ।

सिद्धे[५५] अर्थात् योग को सिद्ध किये हुए योगी समाधि[५६] के अन्दर[५७] तुझ महान् को अर्थात् तुझ महान् के गुणों को गाते[५८] हैं, आत्मा[५९] के विचार में निमग्न साधु[६०] अर्थात् संन्यासी, तुझ महान् को अर्थात् तुझ महान् के गुणों को गाते हैं ॥४॥ तुझ महान् को अर्थात् तुझ महान् के गुणों को जितेन्द्रिय[६२] (ऋतुकालाभिगामी) सत्यप्रतिज्ञ[६३] और यथालाभ[६४] में सदा सन्तुष्ट, गृहस्थी गाते हैं, तुझ महान् को अर्थात् तुझ महान् के गुणों को करालस्वरूप[६५] अर्थात अत्यन्त भयङ्कर आकारों वाले शूरवीर[६६] गाते हैं। तुझ महान् को अर्थात तुझ महान के गुणों को पुराणों[६७], उपपुराणों के पढ़ने वाले पण्डित[६८] और ऋषियों[६९] में श्रेष्ठ मन्त्रद्रष्टा ऋषि, अपने[७२] अपने[७३] युग में अर्थात् अपने अपने समय में वेदों[७७] (वेदमन्त्रों) के साथ[७८] गाते[७९] हैं ॥५॥ मन[८०] के मोहने[८१] वाली, सातों[८२] स्वरों के गाने वाली, मच्छियों[८३] की नाईं चपल, प्रेम[८२] के आलय (घर) अर्थात प्रेम की मूर्तियां, स्त्रियां[८४], तुझ महान को अर्थात तुझ महान् के गुणों को गाती[८६] हैं। आप[८६] के उत्पन्न[८५] किये हुए रत्नाकर[८७] आदि सब समुद्र, अठसठ[८८] तीर्थों[८८] के सहित[८९] तुझ महान् को अर्थात तुझ महान के गुणों को गाते[९३] अर्थात गा गा कर कहते हैं ॥ ६ ॥ तुझ महान् को अर्थात तुझ महान् के गुणों को उन के निवासी समुद्रयानों (जहाजों) के चलाने में कुशल, योद्धे[९१] महाबली[९२] सूरमें[९३] गाते हैं, तुझ महान् को अर्थात तुझ महान के गुणों को अण्डजादि चारों[९६] खाणियां[९७] गाती हैं। पृथिवी[९८] के नवों खण्ड अर्थात सारी पृथिवी, दूसरे[९९] सभी भूमिमण्डल और सम्पूर्ण[१००] (सारा) ब्रह्माण्ड, जो आप ने उत्पन्न[१०१] कर कर[१०२] अपने अपने स्थानों में ठीकठीक धरे[१०४] हुए अर्थात अच्छी तरह ठहराये हुए रखे[१०३] हैं, तुझ महान को अर्थात तुझ महान के गुणों को गाते हैं ॥ ७ ॥ अधिक क्या, ये सभी हों अथवा

दूसरे कोई हों, वे ही तुझको गाते हैं, जो तुझे (आपको) भाते हैं अर्थात तेरे अनुराग (प्रेम) के रंग में अच्छी तरह रंगे हुए हैं और तेरी भक्ति के अपूर्व रस का आलय अर्थात घर, बने हुए, तेरे भक्त हैं। इन के सिवा और कितने ही तुझ महान् को गाते अर्थात् गा गा कर कहते हैं, वे मुझ नानक के चित्त में विचार (चिन्तन) करने पर भी नहीं आते (स्मरण नहीं होते) हैं ॥८॥ वही वही सनातन सच्चा स्वामी है, वही स्वरूप से भी सत्य (सच्चा) और नाम से भी सत्य (सच्चा) है। अब भी है, आगे भी होगा, न जन्मा है, न जन्मेगा, जिस स्वामी ने यह सब रचना रची है ॥ ९ ॥ रंगों से अनेक प्रकार की, आकारों (शकलों) से अनेक प्रकार की कर के, प्रकारों से अर्थात् अवान्तर भेदों से अनेक प्रकार की और योनियों से (नसलों से) अनेक प्रकार कर के अपनी माया ही जिस ने प्रकट की है। वह इस कल्प में पूर्वकल्प की नाईं करे के, पूर्वकल्प में पूर्व-कल्प की नाईं करके, अपनी माया की की हुई जगत्रूपी रचना को, अपने अपने व्यापार (काम) में ठीक ठीक चलाने के लिए रात-दिन साक्षीरूप से आप देखता है, जैसा उस का बड़प्पन है ॥१०॥ देखो मनुष्यो ! जो उसे भाता (रुचता) है, वही करता है, उस में नियोग (ऐसा कर, ऐसा न कर, इस प्रकार की आज्ञा) अथवा पर्यनुयोग (ऐसा क्यों किया ? इस प्रकार का प्रश्न) नहीं किया जा सकता। वह सम्राटों का सम्राट्, शासकों का शासक, अधिपतियों का अधिपति अर्थात् स्वामियों का स्वामी है, उस की प्रसन्नता में सदा प्रसन्न रहने में ही कल्याण है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ११ ॥२७॥

भाष्य–जिस ईश्वर के देय (देने योग्य) गुणादि पदार्थ, अमूल्य हैं, उसके घर-दर की शोभा अब अगले पर्व में कही जाती है। इसका नाम "ईश्वरगेहदरशोभापर्व" और मन्त्रसंख्या ग्यारह ११ है । उन में से पहले मन्त्र का उत्तरार्द्ध है"**वाजे नाद अनेक असंखा, केते वावन हारे**"। जो शब्द, मेघ की गर्जना जैसा, वाजों से अथवा मनुष्यों के कण्ठ (गल) से निकलता हुआ सुनाई देता है और जिस में अकार, ककार आदि वर्णों का भान नहीं होता, उस शब्द-सामान्य को नाद कहते हैं । नाद का ही दूसरा नाम ध्वनि है । संगीत-शास्त्र के आचार्यों का मत है कि बाहर, आकाशस्थ अग्नि (तेज) और वायु के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है। शरीर के अन्दर आत्मा से प्रेरित हुआ मन, देहज अग्नि पर आघात करता है, आघात पाया हुआ अग्नि, ब्रह्मग्रन्थि (नाभि) में स्थित प्राण को प्रेरता है। अग्नि से प्रेरित हुआ प्राण, अपने स्थान ब्रह्मग्रन्थि से ऊपर चढ़ने लगता है । वह ऊपर चढ़ता हुआ नाभि में अतिसूक्ष्म, हृदय में सूक्ष्म, गल में पुष्ट, सिर में अपुष्ट और मुख में कृत्रिम नाद को उत्पन्न करता है । ऐसे ही वाजों पर हाथ अथवा दण्ड का आघात पहुंचने पर आकाश में अग्नि और वायु के संयोग से नाद उत्पन्न होता है। स्वर, गीत, राग आदि का मूलकारण यही नाद है। इस के विना, स्वर, गीत, राग आदि का होना सम्भव नहीं ॥१॥

"**केते राग परी सिओ कहिअन केते गावन हारे**" । यहां परीवार का संक्षिप्त उच्चारण "परी" है, जैसे "परि त्वा" (ऋ० ७।१।११) मन्त्र में परिचरन्तः का संक्षिप्त उच्चारण "परि" है। सह का उच्चारण सिओ और अर्थ साथ है। संगीतशास्त्र के भारतीय आचार्यों ने मूल राग कुल छे ६ माने हैं। भरत और हनुमान् के मत से भैरव, कौशिक (मालकौस), हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ, ये उन छे रागों के नाम हैं। सोमेश्वर और ब्रह्मा के मत से श्री, वसन्त, पञ्चम, भैरव, मेघ और नरनारायण, ये उन छे रागों के नाम हैं । नारदसंहिता में मालव, मल्लार, श्री, वसन्त, हिंडोल और कर्णाट, ये उन छे ६ रागों के नाम लिखे हैं। नाम के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी संख्या के सम्बन्ध में मत भेद नहीं है। भरत और हनुमान के मत से हर एक राग

की पांच पाच रागिनियां और हर एक राग के आठ आठ पुत्र हैं। सोमेश्वर और ब्रह्मा के मत से हर एक राग की छे ६ छे ६ रागिनिया और हर एक राग के आठ आठ पुत्र और आठ आठ पुत्रवधूआ हैं। आज कल के रागियों में सोमेश्वर और ब्रह्मा का मत अधिक प्रचलित है। गुरुसम्प्रदाय में भरत और हनुमान् का मत ही ठीक माना और ठीक समझा जाता है ॥ १ ॥

"गावे तुहनो पवन पानी वैसन्तर"। वायु का नाम पवन है। सिद्धान्त-शिरोमणि में वायु के आठ भेद लिखे हैं। आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, निवह, परिवह, सुवह और परावह, ये उन आठों भेदों के नाम हैं। वायु का दूसरा नाम मरुत् है। वेदों में तथा आर्षग्रन्थों में मरुतों को इन्द्र का सैनिक-दल और उनके पिता का नाम रुद्र (ऋ० १८।८५।१) लिखा है। मरुतों की संख्या ऊनचास ४९ और सात सात के सात गण माने हैं। शतपथब्राह्मण में मरुतों के गणों के सम्बन्ध में यह वाक्य पढ़ा है— "सप्त सप्त वै मारुतो गणाः" अर्थात् सात सात का निश्चय मरुतों का एक एक गण है (शत० ५।४।३।१७)। वास्तव में वृष्टि लानेवाली वायुओं (मानसून) का नाम मरुत है। अत्रि के पुत्र श्यावाश्व ऋषि ने उनके सम्बन्ध में यह मन्त्र (ऋ० ५।५५।५) उच्चारण किया है—

"उदीरयथा मरुतः ! समुद्रतो यूयं, वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः ।
न वो दस्राः ! उपदस्यान्त धेनवः, शुभं यातामनु रथा अवृत्सत"।

अर्थ—हे मरुतो ! हे जलवालो ! आप समुद्र से उठें और वृष्टि करें। हे दर्शनीयो ! आपकी मेघरूपी गौएं कभी क्षीणपय नहीं होती हैं, शुभकार्य के लिये चलने वाले आपके रथ हमारे अनुकूल होवें ॥५॥

पानी } जल का दूसरा नाम पानी है। यह एक द्रव द्रव्य है और स्थावर जङ्गम, सब प्रकार की जीवसृष्टि के लिये अत्यन्त ही आवश्यक वस्तु है। वायु की नांई इसके अभाव में भी कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। इसी से इसका एक नाम जीवन है। अम्बरीप के पुत्र सिन्धुद्वीप ऋषि ने इसके सम्बन्ध में यह मन्त्र पढ़ा है—

"अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर् विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्" (ऋ० १० । ९ । ६)।

अर्थ—औषधियों के राजा सोमने मुझे कहा है, पानी के अन्दर सब ओषधियां हैं। और वह अग्नि, पानी के अन्दर है, जो सब के स्वास्थ्य सुख को बनाती है ॥ ६ ॥

आधुनिक पदार्थविद्या के अनुसार पानी यौगिक पदार्थ है। अम्लज और उदूजन नाम की दो गैसों के योग से इसकी उत्पत्ति हुई है। ताप-मान की बत्तीस ३२ अंश की गरमी रह जाने पर यह जम कर बर्फ और दो सौ बारह २१२ अंश की गरमी पाने पर भाप हो जाता है। इनके मध्यवर्ती अंशों की गरमी में ही यह अपने प्राकृतरूप अर्थात् द्रवरूप में रहता है। अवस्था विशेष के भेद से इस पानी के अनेक नाम हैं–जैसे भाप, मेघ, बूंद, ओला, कुहरा, पाला, ओस, बर्फ आदि। उन में से बूंद, कुहरा, पाला, ओस आदि, उस के तरल रूप हैं और भाप, मेघ (बादल), दोनों वायव अथवा अर्धवायव-रूप और ओला तथा बर्फ, दोनों घनीभूत रूप हैं।

बैसन्तर} वैश्वानर का अपभ्रंश रूप बैसन्तर और अर्थ विश्व का नेता है। यहां सर्वत्र उसका अर्थ अग्नि विवक्षित है, क्योंकि यह यज्ञ-मात्र का नेता है। अग्नि के श्रौत और स्मार्त, दो भेद हैं। श्रौतों में तीन अग्नियां मुख्य हैं–गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचन)। गृहपति से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् गृहस्थाश्रम में आने के पीछे यथाविधि मन्त्रों से स्थापित की हुई गृहपति (गृहस्थी) की अग्नि को "गार्हपत्य" देवताओं को आहुतियां देने के लिये गार्हपत्य अग्नि से लेकर दूसरे आहवनीय नाम के कुण्ड में प्रज्वलित की हुई अग्नि को "आहवनीय" और जिस कुण्ड की अग्नि पर चरु पुरोडाश आदि हव्य वस्तुएं पकाई जाती हैं, उसको "अन्वाहार्यपचन" कहते हैं। इस अग्नि का कुण्ड अग्न्यागार की दक्षिणदिशा में होता है, इसलिये अन्वाहार्यपचन का ही दूसरा नाम दक्षिणाग्नि है। यहां वैश्वानर अग्नि के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र (ऋ०१।५९।१) उद्धृत करने योग्य है—

"वया[१] इद्[२] अग्ने[३] ! अग्नयस्ते[४] अन्ये[५], त्वे[६] विश्वे[७] अमृता[८] मादयन्ते[९]।
वैश्वानर[१०] ! नाभिर्[११]असि[१२] क्षितीनां[१३], स्थूणा[१४] इव[१५] जनान्[१६] उपमिद्[१७] ययन्थ[१८]" ।

अर्थ—हे वैश्वानर (अग्नि)! दूसरी सब अग्नियां निश्चय तेरी

शाखा अर्थात् शाखा के समान हैं, तेरे होने पर, सब देवता हर्ष को प्राप्त होते हैं । हे सबके नेता ! तू सब प्रजाओं के मध्य में वर्तमान है, तू दृढ़ थम्म की नाई अपने जनों को धारण किये हुआ (थामे हुआ) है ॥१॥

"गावे राजा धर्म-द्वारे"। यहां देहलीदीप न्याय से धर्म का सम्बन्ध राजा और द्वार, दोनों के साथ है । धर्मराजा से प्रेतराट् यम और धर्मद्वार से उसका न्यायालय अभिप्रेत है । यम, विवस्वान् का पुत्र और मनुष्यों को उनके पुण्यपापरूपी शुभाशुभ कर्मों का फल सुख तथा दुःख, धर्मपूर्वक, बिना पक्षपात, ठीकठीक देने वाला न्यायाधीश माना गया है । ऋक्संहिता के दसवें मण्डल के चौदहवें १४ सूक्त में कहा है कि धर्मराज यम के द्वार पर चार चार आंखों वाले चितकबरे रंग के बड़े बड़े दो भयङ्कर कुत्ते खड़े रहते हैं और उसके दूतों से पकड़ कर लाये हुए पापी मनुष्यों को दुःसह दुःख देते हैं (ऋ० १०।१४।११)।

तैत्तिरीयारण्यक में इस यमराज के सम्बन्ध में यह मन्त्र पढ़ा है—
"वैवस्वते विविच्यन्ते, यमे राजनि ते जनाः ।
ये चेह सत्यमिच्छन्ति, ये उ चानृतवादिनः" (तै० अ० ६।५।३)।

अर्थ— विवस्वान् के पुत्र यम राजा के हां वे मनुष्य (स्त्री, पुरुष) अलग अलग किये जाते हैं । जो निश्चय यहां सत्य बोलना चाहते अर्थात् सदा सत्य बोलते हैं और जो निश्चय झूठ बोलने वाले अर्थात् सदा झूठ बोलते हैं ॥३॥

कठोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में स्वयं यम ने पापी मनुष्यों के सम्बन्ध में नचिकेता से यह कहा है—

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर् वशमापद्यते मे" ॥२॥

अर्थ—परलोक का सम्बन्ध, उस मूर्ख को नहीं भासता (दीखता) है, जो असावधान है और धन के मोह से विवेकशून्य है । यही लोक है, दूसरा नहीं है, ऐसा माननेवाला मनुष्य हे नचिकेता ! बार बार मेरे वश में पड़ता है (कठो० १ । ६) ॥२॥

" गावे चितगुप्त लिख जाने, लिख लिख धर्म वीचारे " ।

धर्मराज यम के मुनीम का अर्थात् मुख्य लेखक का नाम चित्रगुप्त है। वह मनुष्यों के पुण्य पापरूपी कर्मों को लिख लिख कर धर्मराज यम के सामने रखता है, धर्मराज यम उन्हें बोल बोल कर मनुष्यों को यथाकर्म फल देता है। पद्मपुराण, गरुड़पुराण, स्कन्दपुराण और भविष्यपुराण नाम के पुराणों में चित्रगुप्त के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कथायें मिलती हैं। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में लिखा है कि 'चित्र' नाम का एक राजा था, जो हिसाब किताब रखने में बड़ा निपुण था। धर्मराज ने चाहा कि उसे अपने हां मनुष्यों के पुण्य, पापरूपी कर्म का लेखा रखने के लिये ले जायें। वह राजा एक दिन नदी में स्नान कर रहा था। धर्मराज यम ने उसे उठा मंगाया और उसका नाम चित्रगुप्त रख कर अपना सहायक बनाया। भविष्यपुराण में लिखा है कि जब ब्रह्मा, सब सृष्टि को बना कर ध्यान में निमग्न हुआ, तब उसके शरीर से एक विचित्र वर्ण का पुरुष, कलम दवात, हाथ में लिये हुए उत्पन्न हुआ। जब ब्रह्मा ध्यान से उठा, तब उस पुरुष ने हाथ जोड़ कर कहा कि मेरा नाम और काम बताईये। ब्रह्मा ने कहा कि तुम हमारे काय अर्थात् शरीर से उत्पन्न हुए हो, इसलिये तुम कायस्थ हुए और तुम्हारा नाम चित्रगुप्त हुआ। तुम मनुष्यों के पुण्य, पापरूपी कर्म का लेखा रखने के लिये धर्मराज यम के पास रहो।

"गावे ईसर बरमा देवी, सोहन सदा सवारे"। यहां ईश्वर का उच्चारण ईसर और ब्रह्मा का उच्चारण बरमा है। देव शब्द से इन् (इ) प्रत्यय आने पर देवी शब्द बना है, जैसे माया से मायी और देवों का स्वामी विष्णु उसका अर्थ है। अनेक विद्वानों का मत है कि देव का छान्दस उच्चारण देवी है, जैसे दुर्गा का छान्दस उच्चारण "दुर्गिः" (तै० आ० १०।१) और अर्थ विष्णु-देव है। ऋक्संहिता के मन्त्रों में विष्णु के लिये विष्णु-शब्द जैसे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, वैसे देव-शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है (ऋ० ७।९९।१-२)। इसलिये देवी का अर्थ सब देवताओं का स्वामी विष्णु-देव, बहुत ठीक है ॥३॥ "गावे इंद इंदासन बैठे देवतिआ दर नाले"। यहां दल का उच्चारण दर है, जैसे अलं का उच्चारण "अरं" (ऋ० १।७०।३) और अर्थ समूह अर्थात् सङ्घ है। इन्द्र, पुराणों में स्वर्गीय देवताओं तथा अप्सराओं का राजा

और पानी का बरसाने वाला लिखा है । उसका वाहन ऐरावत और शस्त्र वज्र (तलवार) है । उसकी स्त्री का नाम शची, सभा का सुधर्मा, नगरी का अमरावती, बन का नन्दन, पुत्र का जयन्त, घोड़े का उच्चैःश्रवा और सारथी का मातलि नाम है । वृत्र, नमुचि, शम्बर, पणी, वलि, विरोचन और अलीविश (इब्लीस), ये सब इसके शत्रु हैं । वैदिक-परिभाषा में देवता और ईश्वर, दोनों का सांझा नाम इन्द्र है । यहां इन्द्र के सम्बन्ध में नीचे का मन्त्र ध्यान में रखने योग्य है—

"यस्माद् इन्द्राद् बृहतः किं च न ईम् ऋते, विश्वानि अस्मिन् सम्भृताऽधि वीर्या । जठरे सोमं तन्वी सहो महो, हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्" (ऋ० २ । १६ । २) ।

अर्थ—जिस सबसे बड़े इन्द्र के विना अर्थात् इन्द्र से खाली, निश्चय कोई भी वस्तु नहीं है, इस इन्द्र में सब बल (शक्तियां) इकट्ठे हुए (एक बल हुए) रहते हैं । पेट में सब ओषधियों (अन्नों) का राजा सोम (अन्न), शरीर में महान् अर्थात् अथाह बल, हाथ में वज्र (तलवार) और सिर में ज्ञान (दानाई) रखता है ॥२॥

"गावन मोहिनियां मन मोहन, सुरगा मच्छ पियाले"। स्त्री-सामान्य का नाम यहां मोहिनी है । शेष सब उसके विशेषण हैं । षड्ज आदि सातों स्वरों को गाने वाली, सुरगा का अर्थ है । शरीर के अन्दर के प्रयत्नविशेष से उत्पन्न होने वाले वागिन्द्रिय के शब्दरूपी व्यापारविशेष का नाम गाना है । उसका पूर्णरूप षड्जादि सात स्वरों से होता है । षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद, ये उन सातों स्वरों के नाम हैं । मत्स्य, का उच्चारण मच्छ और प्रेमालय का उच्चारण पिआले है । मत्स्य लुप्तोपमा-पद और अर्थ मच्छियों की नाईं चपल, है। चपलता स्त्रियों का भूषण और मनुष्यों का दूषण है ।

"गावन रतन उपाये तेरे अठसठ तीर्थ नाले"। यहां नाम का एकदेश रत्न उच्चारण हुआ है । उससे अभिप्रेत रत्नाकर नाम का समुद्र है और बाकी सब समुद्रों का उपलक्षण है। अठसठ तीर्थों से चारों धामों के सहित भारतवर्ष की सब नद नदियां और सरोवर विवक्षित हैं ॥२७॥

ब्रह्मा विष्णुर्महेशः सुरसुरपतयो मृत्युवातानलापः,
लोकाः ताराः दिनेशाः शशिगणसहिताः भूमयो भूधराश्च ।
वृक्षाः नद्याः समुद्राः जनिजनमुनयो रागिणीरागयुक्ताः,
गातारो यस्य गेहे स गुणगणनिधिः पातु वो विश्वकर्ता ॥१॥

"प्रणामानुप्रणामपर्व" ॥२८॥

'मुंदा सन्तोख, सरम-पंत झोली, ध्यान की करे बिभूत । खिन्था कांल कुंआरी कांया, जुंगत डंडा पंरतित ॥१॥ आं ई पंन्थी संगल जंमाती, मंन जीते जंग जीत ॥२॥ आंदेस तिसे आंदेस । आंद अंनील अंनाद अंनाहत, जुंग जुंग एंको वेसं" ॥३॥२८॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

सन्तोषो योगमुद्रा, आश्रमप्रतिष्ठाहेतुः तपश्चर्या दोलिका, ध्यानस्येश्वरप्रणिधानस्य भक्तेः विर्भूतिः भस्म क्रियंते, स्वात्मनि देहे भस्मकरणं मन्यते। केन्था कांलस्य कुंमारी पुत्री कांयस्तनुः, शास्त्रतः प्रतीतो ज्ञातो युंक्ताहारविहारो दंण्डो विद्यते ॥ १ ॥ आंस्तिकतैवं पंन्थाः, संकला जातिः मंण्डली, मंनसि जिते जंगत् जितंमास्थीयते॥२॥ तंस्मै प्रंणामः प्रातः,तंस्मै प्रंणामः सायम् । योऽसौ सर्वस्य जगतःआंदि=कारणं,यस्य नास्ति किञ्चिंदांदि=कारणं, यो नीलांदिवर्णरहितोऽवर्णः, यो न शस्त्रादिभिराहन्यते छिद्यते= अव्रणः, युंगे युंगे यस्यैको वेंषः प्रतिकल्पमेकरसः ॥३॥२८॥

हिंदीभाषानुवाद ।

सन्तोष योगी की मुद्रा है,आश्रम की प्रंतिष्ठा का हेतु (कारण) तपश्चर्या झोली और एंक ईश्वर का सदा ध्यान (भक्ति) विर्भूति कंरना अर्थात् आत्मा-रूपी शरीर पर भस्म लगाना है । कांल की

कुमारी अर्थात् पुत्री देह कन्था (गोदड़ी) और शास्त्रसिद्ध युक्ताहारविहार दण्ड है ॥१॥ आस्तिकता ही पन्थ, सम्पूर्ण (सारी) जाति मण्डली और मन का जीतना, जगत् का जीतना है ॥२॥ प्रणाम है उसको प्रातः, प्रणाम है उसको सायम् । जो सत्र जगत का आदि (कारण) है, जिसका कोई आदि (कारण) नहीं है, जो नील आदि वर्णों (रंगों) से रहित है, जो शस्त्रों से आहत (जखमी) नहीं होता और युग युग में जिसका एक ही वेष है अर्थात् स्वरूप एकरस है ॥ ३ ॥ २८ ॥

भाष्य—जिस ईश्वर के गुण अनन्त और अमूल्य हैं, जिसके घर-दर की शोभा अकथनीय है, वह सदा सांझ सवेले प्रणाम के योग्य है, उसे जितनी बार प्रणाम किया जाये, थोड़ा है, इसलिये अब अगले "प्रणामानुप्रणामपर्व" नाम के चार ४ पर्वों का आरम्भ किया गया है। श्रीगुरु नानकदेव जी के समय, पञ्जाब देश में हठयोग के करने वाले साधुओं का तथा नाथपन्थी योगी नाम के साधुओं का अति-बाहुल्य था। वे जहां तहां यथावकाश श्रीगुरुनानकदेव जी से आ कर मिलते और अपने अपने संस्कारों के अनुसार प्रश्न किया करते थे। श्रीगुरु नानकदेवजी भी प्रायः उनके प्रश्नों का उत्तर वैदिकधर्म के अनुसार सदा आध्यात्मिक दृष्टि से दिया करते थे, जिनको सुन कर समझदार सभी साधु बड़े प्रसन्न होते थे। प्रणामानुप्रणाम-नाम के चारों पर्वों में उन्हीं साधुओं के प्रश्नों को लक्ष्य में रख कर अध्यात्म-विषय का उपपादन हुआ है। चारों पर्वों के सब मन्त्र यथाक्रम तीन, तीन, तीन, तीन अर्थात् बारह १२ हैं। उनमें से पहले पर्व के पहले मन्त्र का पूर्वाध है "मुंदा सन्तोख सरमपत झोली"। मुंदा और मुंद्रा, दोनों 'मुद्रा' शब्द के अपभ्रंश हैं। योग, या साधारण ध्यान अथवा प्रतिदिन सन्ध्या करने के समय सिद्ध, पद्म, आदि नाम के किसी आसन-विशेष से बैठे हुए मनुष्यों के तथा हठयोगी साधुओं के मुंह, आंख, गर्दन, हाथ, पांव आदि शारीरिक अङ्गों की स्थिति-विशेष को और नाथपन्थ के साधु, जो दोनों कानों में काच का अथवा स्फटिक का कुण्डल पहनते हैं, उसको "मुद्रा" कहते हैं। इष्ट वस्तु (सुख तथा सुख-

साधन) की और अनिष्ट वस्तु (दुःख तथा दुःखसाधन) की प्राप्ति में सदा सन्तोष अर्थात् चित्त की प्रसन्नता,योगी साधु की मुद्रा है। आश्रम का उच्चारण यहां श्रम (सरम) है,जैसे वेद में 'आत्मन्' का उच्चारण "त्मन्" (ऋ० ४।४।९)। पत,यह प्रतीति का संक्षिप्त रूप है,जैसे नक्तं का संक्षिप्त रूप ' नक्" (ऋ० ७।७१।१) अथवा रेतस्वी का संक्षिप्त रूप "रेती" (ऋ० १०।४०।११) है। पत अथवा प्रतीति का अर्थ यहां प्रतिष्ठा और आश्रम तथा प्रतीति,दोनों का आपस में बहुव्रीहि सामस और समासार्थतपश्चर्या विवक्षित है । यदि साधु विद्वान् है, आचारवान् है और तपस्वी है, तो उसका आश्रम (चतुर्थाश्रम) प्रतिष्ठत माना जाता है और जनता उस की पूर्णरूप से सेवा करती है। उसे फिर किसी भी आवश्यक वस्तु के रखने के लिये झोली की जरूरत नहीं रहती । इसी दृष्टि से कहा है कि सरम (आश्रम) की पत (प्रतिष्ठा) है जिस से,ऐसी तपश्चर्या,साधु की झोली है॥१॥

"आ ई पन्थी" । यहां आस्तिकता का एक देश 'आ' उच्चारण हुआ है, जैसे "आ भन्दमाने" (ऋ० ३ । ४ । ६) मन्त्र में "आगच्छतां" का एक देश "आ" अथवा "आ यत साकम्" (ऋ० ७ । ३६ ।,५) मन्त्र में "आस्रवन्तु" का एक देश 'आ' उच्चारण हुआ है । ई-निपात है और अर्थ उसका अवधारण (ही) है। योग को साधने वाले साधुओं के और नाथपन्थी साधुओं के अनेक पन्थ हैं । श्रीगुरु नानकदेवजी का कथन है कि एक आस्तिकता ही सब साधुओं का वास्तविक पन्थ है और यही सर्वोत्तम सनातन वैदिक मत है ॥ २ ॥

"आदेस तिसे आदेस" । आदेस का अर्थ यहां प्रणाम विवक्षित है। प्रणाम,प्रातः सायं, दोनों समय किया जाता है, इसलिये आदेस, दो बार उच्चारण हुआ है। प्रातः सायं, दोनों समय प्रणाम करने की परिपाटी सनातनी है, यह ऋक्संहिता के मन्त्र से सिद्ध है। मन्त्र यह है—

"उ॑प त्वा॑ अ॑ग्ने ! दि॑वे दि॑वे दो॑षावस्तर् धि॑या व॑यम् ।
न॑मो भ॑रन्तः ए॑मसि" (ऋ० १ । १ ७)

अर्थ—हे अ॑ग्नि (सब के अग्रणी) ह॑म दि॑न प्र॑तिदिन प्रा॑तः सायं य॑थाबुद्धि (अपनी २ बुद्धि के अनुसार) न॑मस्कार की भें॑ट लिये हुए

आप के समीप आते हैं ॥ ७ ॥

यहां अथर्वसंहिता का मन्त्र भी उद्धृत करने योग्य है—

"नमः सायं नमः प्रातः, नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय च,उभाभ्याम् अकरं नमः" (अथर्व० ११।२।१६) ।

अर्थ—नमस्कार (प्रणाम) है सायं समय, नमस्कार है प्रातः समय; नमस्कार है रात्री में, नमस्कार है दिन में । मैं तुझ जगत् के उत्पादक को और मैं निश्चय जगत् के संहारक को अपने दोनों हाथों से नमस्कार करता हूं ॥१६॥३॥२८॥

सन्तोषो योगिनां मुद्रा, भूतिर्विद्या पराऽवरा ।
मण्डली सकला जातिः, पन्थाः आस्तिकता परा ॥१॥
जिते चित्ते जितं लोकं, मन्यन्ते कर्मयोगिनः ।
नमस्यन्ति च विश्वेशं, प्रातः सायं मनस्विनः ॥२॥

"प्रणामानुप्रणामपर्व" ॥२९॥

"भुगत ज्ञान दया भण्डारण, घट घट वाजे नाद । आप नाथ नाथी सभ जा की, रिद्ध सिद्ध अवरा साद ॥ १ ॥ संजोग विजोग, दुए कार चलावे, लेखे आवे भाग ॥२॥ आदेस तिसे आदेस । आद अनील अनाद अनाहत, जुग जुग एको वेस" ॥ ३ ॥ २९ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

भुक्तिर्भोजनं ज्ञानं, भण्डारिणी तद्भण्डाराधिष्ठात्री भूतदया, ग्रहीतॄणां जिज्ञासूनां कर्मयोगिनां देहे देहे हर्षेण वाद्यमानं=हर्षध्वनिं विदधद् मनोवाद्यं वाद्यभेदो नादः । आत्मा नाथः स्वामी,यस्य सर्वाः देहेन्द्रियक्षणाः नाथ्याः=स्वभूताः स्वाधीनाः प्रजाः, ऋद्धयो रसायनाद्याः,सिद्धयोऽणिमाद्याः अवरैः=निकृष्टैः अनात्मज्ञैःसाध्यन्ते प्राप्यन्ते, न कर्मयोगिभिः ज्ञानभोजनैरात्मज्ञैः ॥१ ॥ इष्टानिष्टयोः

[18]संयोगवि[19]योगौ [20]द्वौ [21]कोलः [22]चालयति=करोति, तौ द्वौ [23]यथालेखं (यस्य शुभं कर्म,तस्येष्टसंयोगोऽनिष्टवियोगः,यस्याशुभं कर्म,तस्येष्ट-वियोगोऽनिष्टसंयोगः, इति ईश्वरीय-कर्मलेखमनतिक्रम्य) [24]यथा-त्रिभागं गतिपुरुषम् [25]एतः आगच्छतः ॥२॥ [26]तस्मै [27]प्रणामः प्रातः, [28]तस्मै [29]प्रणामः सायं, योऽसौ सर्वस्य जगतः [30]आदि कारणं, [31]यस्य नास्ति किञ्चिदादि कारणं, यो नीलादिवर्णरहितोऽवर्णः, यो [32]न शस्त्रा-दिभिराहन्यते छिद्यतेऽव्रणः, [33]युगे [34]युगे [35]यस्यैको [36]वेषः प्रतिकल्प-मेकरसः ॥ २ ॥ २९ ॥

हिंदीभाषानुवाद ।

ज्ञान भोजन है, भूतदया भण्डारन अर्थात् भोजनागार की अधिष्ठात्री है, लेनेवाले कर्मयोगी जिज्ञासुओं के शरीर शरीर में हर्ष से बजरहा मनोरूपी वाजा भृङ्गी नाद है । आत्मा नाथ अर्थात् स्वामी है, जिसकी नाथी (नियम में चलाई हुई) सब शरीर,इन्द्रियां रूपी स्व-नामकी शिष्यरूपी प्रजा है । रसायन आदि ऋद्धियों और अणिमादि सिद्धियों को निकृष्ठ जन (नीचली श्रेणी के मनुष्य) प्राप्त करते अर्थात् पाने का यत्न करते हैं ॥१॥ [18]ईष्ट वस्तु (सुख तथा सुखसाधन) का संयोग और [19]अनिष्ट वस्तु (दुःख तथा दुःखसाधन) का वियोग, [20]दोनों को [21]कोल ही नियम से [22]चलाता अर्थात् बनाता है, वे दोनों [23]ईश्वरीय कर्मलेख के अनुसार, [25]विभाग से हरएक मनुष्य को [24]प्राप्त होते हैं अर्थात् शुभ कर्मवाले को इष्ट वस्तु का संयोग, अनिष्ट वस्तु का वियोग और अशुभ कर्म वाले को अनिष्ट वस्तु का संयोग,इष्ट वस्तु का वियोग होता है ॥ २ ॥ [26]प्रणाम है [27]उसको प्रातः, [28]प्रणाम है [29]उसको सायम्, जो [30]सबका आदि है, जि[31]सका कोई आदि नहीं हैं, जो नीलादि वर्णों से रहित है, [32]जो शस्त्रों से आहत (जखमी) नहीं होता है और [33]युग [34]युग में जिसका [35]एक ही [36]वेष अर्थात् स्वरूप एक रस है ॥३॥२९॥

भाष्य—"भुगत ज्ञान दया भण्डारण" । भुक्ति का उच्चारण भुगत और भाण्डारिणी का उच्चारण यहां भण्डारण है । भुक्ति का अर्थ भोजन और भाण्डारिणी का भाण्डार की अधिष्ठात्री अर्थात् भोजनागार की स्वामिनी अर्थ है । दयाका पर्याय (दूसरा अर्थ) कृपा प्रसिद्ध है । नाथपन्थ के साधु प्रायः सींग का एक छोटा सा वाजा अपने गल में लटकाये रखते हैं और भोजन के समय उसे बजाते हैं । उस बाजे को सींग का बना हुआ होने से "सिंगी नाद" अथवा केवल "नाद" कहते हैं । कर्मयोगी जिज्ञासुओं का मन ही सिंगी-नाद है, जो गुरु की कृपा से ज्ञानरूपी भोजन को पाकर तृप्त हुआ प्रतिक्षण हर्ष की ध्वनि करता है। इसीलिये कहा है "घट घट वाजे नाद" । घटका अर्थ यहां शरीर है । "रिद्ध सिद्ध अवरा साद" । ओषधिविशेष को ऋद्धि कहते हैं। यहां ओषधिविशेष से पारदभस्म अभिप्रेत है। रसायनवेत्ता प्रायः पारद-भस्म को ही मुख्य रसायन कहते और मानते हैं। उनका कहना है कि पारदभस्म के खाने से मनुष्य का शरीर रोगी नहीं होता, वूढा नहीं होता, शरीर का वल, तथा वीर्य वढ जाता और चेहरा खूब-सूरत हो जाता है। पूर्वकाल में हर एक पन्थ का साधु पारदभस्म आदि विविध रसायनों का और इसीप्रकार की दूसरी अचूक ओषधियों का संग्रह यत्न से किया करता था । पर अब उसका अभाव है। सिद्धियों की संख्या आठ मानी है । अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व और यत्रकामावसायित्व, ये उन आठों सिद्धियों के नाम हैं । छोटा होने का नाम अणिमा, हलका होने का नाम लघिमा, बड़ा होने का नाम महिमा, जहां सर्वसाधरण की पहुंच नहीं है, वहां पहुंचजाने का नाम प्राप्ति, इच्छा के पूरा होने में रोक न होने का नाम प्राकाम्य, वश में करने का नाम वशित्व, स्वामी होने का नाम ईशितृत्व, सत्य-सङ्कल्प होने का नाम यत्रकामावसायित्व है। योगदर्शन के सूत्र में कहा है कि ये सव सिद्धियां ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग समाधि में भारी विघ्न हैं, इसलिये ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग में चलने वाला आत्मज्ञ मनुष्य इन सिद्धियों को तुच्छ समझे और भूल कर भी इन की इच्छा न करे । सूत्र यह है—"[1]ते [2]समाधौ [3]उपसर्गाः, [4]व्युत्थाने सिद्धयः" अर्थात् [1]वे (सिद्धियां) [2]ईश्वरप्राप्ति के मार्ग समाधि में [3]विघ्न (प्रतिबन्धक) हैं, जो

व्युत्थानकाल में (समाधि के अभाव काल में) सिद्धियां हैं (योग०३।३६)। "रिद्धसिद्ध अवरासाद" का आशय भी यही है ॥ १ ॥

"संजोग विजोग दोए कार चलावे"। यकार तथा जकार, दोनों का स्थान (तालु) एक होने से, यकार की जगह यहां जकार उच्चारण हुआ है और काल का उच्चारण 'कार' है, जैसे वेद में 'स्थूलं' का उच्चारण "स्थूरं" (ऋ० ८।१।३४) अथवा अलं का उच्चारण "अरं" (ऋ०१।१८७।७) है। अक्षरार्थ अनुवाद से स्फुट है ॥२॥३॥२९॥

योगिनां ज्ञानभाण्डारो दया भाण्डारनायिका।
प्राथिनां लब्धकामानां हर्षनादश्च नादिका ॥ १ ॥
ऋद्धयः सिद्धयः सर्वाः, अज्ञचित्तैकरञ्जिकाः।
योगव्याघ्रैर्न कांक्ष्यन्ते, केवलं मृगतृष्णिकाः ॥ २ ॥

"प्रणामानुप्रणामपर्व" ॥३०॥

"एका मायी जुगत विआई, तिनि चेले परवाण। इक संसारी, इक भंडारी, इक लाये दीबान ॥ १ ॥ जिव तिसु भावे तिवे चलावे, जिवं होवे फुरमाण। ओह वेखे ओना नदर न आवे, बहुता एह विडाण ॥ २ ॥ आदेस तिसे आदेस। आद अनील अनाद अनाहत, जुग जुग एको वेस" ॥ ३ ॥ ३० ॥

संस्कृतभाषानुवाद।

एको मायी मायापतिरीश्वरः मायायोगेन विविधाकारमैति, तस्य त्रैयश्चैलुकाः शिष्याः (शासनार्हाः) प्रमाणाः प्रमाणवन्तः= प्रामाणिकाः। तत्रैकः संसारी=संसारस्य स्थावरजङ्गमस्य प्राणिजातस्य स्रष्टा ब्रह्मा, एकः कर्मफलभाण्डाराधिष्ठाता (कर्मफलदाता) पालको विष्णुः, एकः संसारस्य सृष्टेः प्रलयार्थं दीप्यमानां न्यायसभां लाययति वर्तयति,=प्रलयकालं निरीक्ष्य वीक्ष्य प्रलयं सृष्टिसंहारं

चर्कर्ति, संहर्ता शिवः ॥ १ ॥ यत् तस्मै रोचते यथा तस्याज्ञा भवति, तथा ते स्वाधिकृतं कार्यं चालयन्ति=कुर्वन्ति । स एनान् अवेक्षते, तेषां दृष्टौ च नावयाति, बहुतमम् एतद् बृहत्त्वं महत्त्वं भगवतस्तस्य ॥ २ ॥ तस्मै प्रणामः प्रातः, तस्मै प्रणामः सायम् । योऽसौ सर्वस्यादिः कारणं, यस्य नास्ति किञ्चिदादि कारणं, यो नीलादिवर्णरहितोऽवर्णः, यो न शस्त्रादिभिराहन्यते छिद्यतेऽव्रणः, युगे युगे च यस्य एको वेषः प्रतिकल्पमेकरसः ॥ ३ ॥ ३० ॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

एक मायावाला अर्थात् माया का स्वामी ईश्वर है, वह माया के योग (सम्बन्ध) से विविधाकार को प्राप्त होता अर्थात् अनेक रूप से प्रकट होता है, उस के तीन शिष्य प्रमाणसिद्ध हैं । एक संसारी अर्थात् संसारी जीवोंका बनाने वाला स्रष्टा ब्रह्मा है, एक कर्मफल के भाण्डार का अधिष्ठाता अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल का दाता पालक विष्णु और एक संसार का लय अर्थात् संहार करने के लिये यथासमय दीवान (न्यायसभा) को लगाता है अर्थात् संहारकर्ता (प्रलयकर्ता) शिव है ॥ १ ॥ जो उसे भाता (रुचता) है, जैसे उसकी आज्ञा होती है, वैसे वे तीनों अपने अपने कार्य को चलाते अर्थात् करते हैं, वह उन्हें देखता है, आप उन की दृष्टि में नहीं आता है, यही उसका बड़े से बड़ापण अर्थात् बड़प्पन है ॥ २ ॥ प्रणाम है उस को प्रातः, प्रणाम है उस को सायम् । जो सब का आदि (कारण) है, जिस का कोई आदि (कारण) नहीं है, जो नीलादिवर्णों (रंगों) से रहित है, जो शस्त्रों से आहत (जखमी) नहीं होता है और जिस का युग युग में एक ही वेष अर्थात् स्वरूप एकरस है ॥ ३ ॥ ३० ॥

भाष्य—ऋक्संहिता के मन्त्र में कहा है कि ईश्वर अपनी माया के योग से अनेकरूप होता है। मन्त्र यह है—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते, युक्ताः हि अस्य हरयः शता दश"।१८।

अर्थ—ईश्वर पदार्थ पदार्थ (वस्तु वस्तु) में हर एक पदार्थ के आकार हुआ है, इस का वही यह एक रूप प्रत्यक्ष देखने के लिये है। ईश्वर अपनी माया की शक्तियों से बहुत-रूप अर्थात् अनेक-रूप हुआ प्रतीत होता (दृष्टि में आता) है, इस की शक्तियां सैंकड़े और दस सैंकड़े अर्थात् अनन्त युक्त ही हैं (ऋ० ६।४७।१८)।

वैदिकों का मत है कि ईश्वरके सृष्टिसंकल्पसे उसकी सृष्टि-निर्माणशक्ति माया, तीन गुणों के रूप में प्रकट हो कर जब सब लोकों को, जिनका समष्टि-नाम ब्रह्माण्ड है, बना देती है,तब ईश्वर उन सब लोकों में सृष्टि (उत्पत्ति), पालन (रक्षा) और संहार (नाश) की व्यवस्था करने के लिये अपनी मायारूपी प्रकृति के तीनों गुणों को लेकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से प्रकट होता है। रजोगुण के सम्बन्ध से प्रकट हुए ब्रह्मा को सृष्टि का, सत्त्वगुण के सम्बन्ध से प्रकट हुए विष्णु को पालन का और तमोगुण के सम्बन्ध से प्रकट हुए शिव को संहार का अधिकार दिया जाता है। इस अधिकार को ठीक ठीक काम में लाने के लिये आवश्यक शक्तियां तथा उपयुक्त शिक्षायें भी उन्हें एक ही वार दे दी जाती हैं। वे तीनों उन शक्तियों और शिक्षाओं को पा कर अपना अपना काम ठीक ठीक करते हैं। इसलिये उन तीनों को ईश्वर का शिष्य और शिक्षक होने से ईश्वर को गुरु कहा है। ये तीनों,ईश्वर के शासन (आज्ञा) के अन्दर रहते हुए अपना सब काम करते हैं और ईश्वर उनकी दृष्टि में न आता हुआ अध्यक्ष रूप से उनके हर एक काम को देखता है, बस यही इस पर्व के तीनों मन्त्रों का आशय है॥३०॥

"प्रणामानुप्राणामपर्व" ॥३१॥

"आसन लोए लोए भण्डार। जो किछु पाया सु एका-वार॥१॥ कर कर वेखे सिरजन-हार। नानक

सच्चे की साँची काँर ॥ २ ॥ आँदेस तिसे आंदेस। आँद अनील अनाद अनाहत, जुंग जुंग एँको वेस" ॥३॥३१॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

लोके लोके तेषाम् आसनं स्थितिः, लोके लोके तेषां भाण्डारः कार्यालयः । यत् किञ्चित् तैः प्राप्तव्यं, तद् एकवारमेव प्राप्तं, तेभ्यः ईश्वरेण प्रादायि ॥ १ ॥ कृत्वा सर्वां व्यवस्थां कृत्वा विश्वं जगत्, स सर्वस्रष्टा स्वयं साक्षिभूतोऽवेक्षते। तदेतत् सत्यस्य तस्य सत्यम् अवितथं कार्यमिति नानकः पश्यति ॥ २ ॥ तस्मै प्रणामः प्रातः, तस्मै प्रणामः सायम् । योऽसौ सर्वस्यादिः कारणं, यस्य नास्ति किञ्चिदादि कारणं, यो नीलादिवर्णरहितोऽवर्णः, यो न शस्त्रादिभिराहन्यते छिद्यतेऽव्रणः, युगे युगे च यस्यैको वेषः= प्रतिकल्पमेकरसः ॥३॥३१॥

हिंदीभाषानुवाद ।

लोक लोक में अर्थात् हर एक भूमिमण्डल में उनका आसन (निवास) है, लोक लोक में उनका भाण्डार अर्थात् कार्यालय है, जो कुछ पाना चाहिये, अर्थात् उन्हें देना चाहिये, वह सब एक ही वार उन्होंने पा-लिया अर्थात् उन्हें ईश्वर ने दे दिया है ॥ १ ॥ वह सब जगत् का बनाने वाला ईश्वर, सब जगत् को बना कर और यथायोग्य उसका अधिकार उन्हें दे कर, आप साक्षी हुआ देखता है । निःसन्देह उस सच का यह सब काम सत्य है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ २ ॥ प्रणाम है उसको प्रातः, प्रणाम है उसको सायम् । जो सब का आदि (कारण) है, जिसका कोई आदि नहीं है, जो नीलादि वर्णों (रंगों) से रहित है जो शस्त्रों से आहत (जखमी) नहीं होता है और जिसका युग युग में एक ही वेष अर्थात् स्वरूप एकरस है ॥३॥३१॥

भाष्य—मायापति ईश्वर के तीनों शिष्य, जिन का नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेश है, यथा-आज्ञा तीनों लोकों में स्थित हुए अपने अपने अधिकृत कार्य को यथा-समय ठीक ठीक करते हैं और उसके ठीक ठीक करने के लिये जितनी शक्ति आवश्यक है, उतनी शक्ति उन्हें एक ही बार दे दी गई है, यह ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि के मन्त्र से स्फुट है। मन्त्र यह है—

"तिस्रो मातॄः त्रीन् पितॄन् बिभ्रद्, एकः ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति। मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे, विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्" (ऋ० १। १६४। १०)।

अर्थ—तीनों माताओं को अर्थात् सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती को, जो विश्व की (चराचर प्राणियों की) माताओं की माता होने से माता हैं, और तीनों पिताओं को अर्थात् उन तीनों के पति ब्रह्मा, विष्णु और महेश को, जो विश्व के पिताओं के पिता होने से पिता हैं, यथायोग्य कार्यभार थमाता हुआ अर्थात् तीनों को कार्यभार थामने में सामर्थ्य (शक्ति) प्राप्ति के लिये गृहमेधी बना कर विश्व के सृष्टि, पालन और संहार-रूपी कार्य में नियुक्त करता हुआ आप एकला सब के ऊपर हुआ अर्थात् अधिष्ठाता हुआ स्थित है, वे तीनों अपना अपना काम यथासमय ठीक ठीक करने में नहीं कभी ग्लानि करते अर्थात् नहीं कभी उत्साहहीन होते हैं। वे तीनों, उस द्युलोक के शिखर पर अधिष्ठाता-रूप से स्थित ईश्वर के आज्ञावचन को विचारते अर्थात् यथा-समय ठीक ठीक करने के लिये सदा ध्यान में रखते हैं, जो विश्व के सम्बन्ध में है और जिसे नहीं विश्व जानता है॥ १० ॥ ३० ॥ ३० ॥

एको मायी विश्वकर्ता स्वयम्भूः, शिष्यास्तस्य ब्रह्मविष्णू महेशः।
कार्यं स्वंस्वं सृष्टिरक्षे च भङ्गं, काले काले कुर्वते तन्नियुक्ताः ॥१॥
यस्य ब्रह्मादयो देवाः, शश्वदाज्ञानुवर्तिनः।
तमीशं वशिनं पूर्णं, प्रातः सायं प्रणोनुमः ॥२॥

———

"सोपानसप्तकारोहणपर्व" ॥३२॥

"इक दू जीभों लख होए, लख होवे लख बीस ।
लख लख गेडा आखिये, एक नाम जगदीस ॥ १ ॥ एत राह पत पवडिया, चढिये, होए इकीस (इक+ईस)। सुन गल्ला आकास की, कीटा आई रीस ॥२॥ नानक नदरी पाईये, कूडी कूडे ठीस" ॥३॥३२॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

एकजिह्वातो लक्षं जिह्वाः भवेयुः, ताः लक्षं पुनः प्रत्येकं विंशतिर्लक्षाणि भवेयुः । तासाम् पुनरेककैया लक्षं लक्षं वारं जगदीश्वरस्य एकमेकं नाम आचक्षीत चाकथ्येत ॥ १ ॥ एतेन भावनामयेन श्रद्धातिशयप्रभवेण शुभेच्छानाम्ना मार्गेण-उपायेन जगत्पतेरीश्वरस्य मायिनः प्राप्तिसाधनानि ज्ञानभूमिकानामानि सोपानसप्तकानि शनैः शनैः आरुहेत्, आरोहे चैकेश्वरो भवेत्-ईश्वरः एव केवलः सम्पद्येत, संसाराद् विमुच्येत। आकाशारोहण-कल्पस्य सोपानसप्तकारोहणस्य ईश्वरप्राप्तिसाधनस्य संसारविमुक्ति-कारणस्य वार्ताः भक्तानां गलन्निःसृताः श्रुत्वा संसारकीटानपि विषयासक्तचेतसः कर्महीनान् तदारुरुक्षा कदाचिद् एयाव हृदयेषु तेषामुदियाव ॥२॥ सा कूटाश्रयाणां तेषां मृषा तदारुरुक्षैव केवला, यस्माद् ईश्वरानुग्रहदृष्ट्यैव कर्मतन्त्रया तदारोहः प्राप्यते, संसाराच्च विमुच्यते, न मिथ्याभूतेनेच्छामात्रेणेति नानकः पश्यति ॥३॥३२॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

एक जिह्वा से लाख जिह्वा हों, वे लाख जिह्वायें फिर एक एक, बीस बीस लाख हों । फिर एक एक जिह्वा से लाख लाख बार जगत् के स्वामी मायापति ईश्वर का एक एक नाम उच्चारण किया जाये ॥१॥ इस प्रकार अतिश्रद्धा से उत्पन्न हुए, ईस भावनारूपी शुभेच्छा नाम के मार्ग से अर्थात शास्त्रोक्त उपाय से

जगत के स्वामी ईश्वर की प्राप्ति के साधन ज्ञानभूमिका नाम के सात सोपानों (पौड़ियों) पर सने सने चढ़ा जाये, तो एक ईश्वररूप होता अर्थात् नदीसमुद्र की नाई ईश्वर के साथ एकमेक हुआ संसार के जन्मरण चक्र से सदा के लिये छूट जाता है। ज्ञानभूमिका नाम के सात सोपानों पर चढ़ने की वातों को सुन कर, जो आकाश पर चढ़ने के समान हैं, कदाचित संसार के कीटों को भी अर्थात् कीटों की नाई संसार के विषयों में आसक्त कर्महीन मनुष्यों को भी चढ़ने की इच्छा मन में आती अर्थात् संसार के जन्ममरणरूपी चक्र से छूटने के लिये चढने की कामना (इच्छा) मन में उत्पन्न होती है ॥२॥ परन्तु झूंठ का आश्रय लिये हुए अर्थात् संसार के झूठे विषयों को पकडे हुए उन कीटों की अर्थात कीट तुल्य कर्महीन मनुष्यों की वह इच्छा झूंठी इच्छा ही है, क्योंकि कर्त्तव्यबुद्धि से लगातार कर्मों के करने से प्राप्त होने वाली जगत् के स्वामी ईश्वर की अनुग्रहदृष्टि से ही ज्ञानभूमिका नाम के सातों पर्वों पर चढना प्राप्त होता है, झूठी इच्छा से ही नहीं, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥३॥३२॥

भाष्य---जो ईश्वर सायं प्रातः सदा प्रणाम के योग्य है, जिस ईश्वर की आज्ञा में वर्त्तमान हुए ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीनों लगातार अपने अपने काम को करते हैं, उस ईश्वर की प्राप्ति से ही मनुष्य के जन्ममरण का सिलसिला टूटता है और उसे हमेशा के लिये मुक्ति प्राप्त होती है। जगत्कर्ता ईश्वर की प्राप्ति का अर्थ यहां सर्वत्र ईश्वर का साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान अभिप्रेत है। कर्मयोगी भक्तों की परिभाषा में इसी का नाम ईश्वर-दर्शन है। इस की लालसा से मनुष्य को ईश्वर के सामने उपस्थित होने के लिये उस के दर पर प्रणामानु-प्रणाम-क्रिया के पीछे सात सोपानों पर, जिन्हें आत्मज्ञानी सन्त्य, ज्ञान की सात भूमियां कहते हैं, चढना होता है। जब यह मनुष्य सने सने क्रम से ऊपर चढता हुआ सातवें सोपान पर अर्थात् ज्ञान की सातवीं भूमि पर पहुंचता है; तब वह ईश्वर का दर्शन पाता और तभी उसे ईश्वर प्राप्त हुआ माना जाता है। जैसे ईश्वर की प्राप्ति (दर्शन) ईश्वर के

अनुग्रह विना नहीं हो सकती, वैसे उस के साधन सोपानसप्तक अथवा भूमिसप्तक पर आरोहण अर्थात् चढना भी ईश्वरके अनुग्रह विना नहीं हो सकता। इसलिये हर एक मनुष्य को श्रद्धाभक्ति-पूर्वक कर्त्तव्यबुद्धि से शास्त्रोक्त सब कर्मो को करते हुए ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वरप्राप्ति के साधन सोपानसप्तक (भूमिसप्तक) पर आरोहण का निरन्तर यत्न करना चाहिये, जिस से ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् ईश्वर का साक्षात् दर्शन हो और संसार के जन्ममरणचक्र से हमेशा के लिये छुटकारा मिले, यह कहने के लिए अब अगले पर्व का आरम्भ है। इस पर्व का नाम है "सोपान सप्तकारोहणपर्व" और मन्त्रसंख्या तीन है। तीनों मन्त्रों का अर्थ अनुवाद से व्यक्त है और आरोहणीय (चढने योग्य) सातों सोपानों अर्थात् सातों ज्ञानभूमियों के नाम ये हैं—

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छाऽऽख्या, प्रथमा परिकीर्त्तिता ।
विचारणा द्वितीया स्यात्, तृतीया तनुमानसा" ॥ १ ॥

अर्थ—पहली ज्ञानभूमि शुभेच्छा नाम से कही जाती है अर्थात् ईश्वर के नाम का श्रद्धाभक्ति के साथ प्रेमपूर्वक उच्चारण तथा श्रवण और यथाविधि कर्त्तव्यबुद्धि से कर्मो का करना तथा मन में ईश्वर की प्राप्ति की तीव्र इच्छा का होना, ज्ञान की पहली भूमि (मन्जिल) अथवा ईश्वर के दर्शन का पहला सोपान (ज़ीना) है और उस सोपान का नाम "शुभेच्छा" है। दूसरी भूमि का नाम विचारणा अर्थात् प्रतिदिन नियम से अपने धर्मपुस्तक का पढना, तथा सुनना और ईश्वर के निजरूप का ठीक ठीक समझना, दूसरी भूमि है और उस का नाम "विचारणा" है। तीसरी भूमि तनुमानसा है अर्थात् ईश्वर का स्वरूप ठीक ठीक समझ कर उस के साक्षात्काररूपी अपरोक्ष ज्ञान (दर्शन के लिये मन को एकाग्र करके प्रतिदिन निदिध्यासन (ध्यान) करना तीसरी भूमि है और उसका नाम "तनुमानसा" है ॥ १ ॥

"सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्, ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता" ॥ २ ॥

अर्थ—चौथी भूमि सत्त्वापत्ति है अर्थात् निदिध्यासन से ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार (दर्शन) होना चौथी भूमि है और उस का नाम

सत्त्वापत्ति है, उस के पीछे जगत् के सब पदार्थों (विषयों) में मन की आसक्ति का अभाव हो जाना पांचवीं भूमि है और उस का नाम असंसक्ति है। व्यवहार के अभावकाल में ईश्वर के सिवा किसी दूसरी वस्तु (पदार्थ) का सामने न आना छठी (छेवीं) भूमि है और उसका नाम पदार्थाभावनी है, सातवीं भूमि का नाम तुर्या है, यहां पहुंचने पर व्यवहार और परमार्थ, स्वार्थ और परार्थ, श्रेय और प्रेय, संसार और असंसार; दोनों एक हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि दोनों का अभाव हो जाता है। यही सब से ऊंची भूमि है, यही अन्तला सोपान (ज़ीना) है। बस आगे सामने भक्तवत्सल त्रिलोकीनाथ जगत्कर्ता ईश्वर का जाज्वल्यमान सिंहासन है, जिसके प्रकाश के सामने करोड़ों सूर्यों का प्रकाश मात पड़ जाता है, अथवा यों कहो कि सर्वथा अप्राकश हो जाता है। इसी को लक्ष्य में रख कर कठोपनिषद् के श्रुतिवाक्य में यह कहा है—

"न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० २।२।५)।

अर्थ—हे नचिकेता! वहां न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्रमा, न तारे, न ये बिजलियां प्रकाशती हैं, यह अग्नि तो कहां से प्रकाशेगी। सूर्य आदि सब, निश्चय उस प्रकाशते हुए (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) के पीछे प्रकाशते हैं, उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशता है ॥५॥

जब कर्मयोगी ईश्वरभक्त यहां पहुंचता है, उसके नेत्र एकदम बेकार हो जाते हैं, मन में दर्शन की लालसा अत्यन्त बढ़ जाती है, कुछ उपाय बन नहीं पड़ता, तब दोनों हाथ जोड़ कर सामने खड़े हुए के मुख से सहसा थथलाती हुई वाणी से यह प्रार्थना-मन्त्र निकलता है—

"पूषन्! एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य! व्यूह रश्मीन् समूह तेजः। यत् ते रूपं कल्याणतमं, तत् ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः, सोऽहमस्मि" (यजु० ४०। १६)।

अर्थ—हे जगत्पोषक! हे अद्वितीय-द्रष्टा! हे सबको नियम में रखने वाले! हे सूरियों से (विद्वान् कर्मयोगी भक्तों से) प्राप्त होने योग्य!

हे प्रजापतियोंकेप्रजापति ! अपने मुख की किरणों को बखेर और अपने शरीर के प्रकाश को इकट्ठा कर । तेरा (आपका) जो सबसे बढ़कर मंगलमय स्वरूप है, उस का मैं दर्शन करूं, जो वह वह चिरकाल से वियुक्त हुआ (विछड़ा हुआ) तेरा जन है, वह मैं हूं ॥ १६ ॥

इस प्रार्थनामन्त्र को सुनकर परम प्रसन्न हुआ ईश्वर अपने कर्मयोगी भक्त को दर्शन देता है, वह दर्शन पाते ही निहाल हो जाता है, उस का मनुष्यजन्म सफल, उसकी जननी कृतार्थ और उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे हमेशा के लिये संसार से छुटकारा मिलता है ॥३२॥

ईशगेहे प्रवेशाय, पर्वारोहोऽनुशिष्यते ।
प्रवेशे पुरतः साक्षाद्, ईशः प्रत्यक्षमीक्ष्यते ॥१॥
ईश्वरगेहपर्वाणि, सप्ताहुरीशदर्शिनः ।
आरोढव्यानि धैर्येण, भक्त्या दर्शनकांक्षिणः ॥२॥

"बलाहेतुतापर्व" ॥ ३३ ॥

"आखन जोर, चुपे नह जोर । जोर न मंगन, देने न जोर ॥ १ ॥ जोर न जीवन, मरण नह जोर । जोर न रांज माल मन सोर ॥ २ ॥ जोर न सुरती, ज्ञान वीचार । जोर न जुगती छुटे संसार ॥३॥ ।जिसै हथ जोर, कर वेखे सोए । नानक उत्त नीचे न कोएं" ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

आख्यानस्य वाग्व्यापाररूपस्य व्याख्यानस्य बलेन न संसाराद् जन्ममरणलक्षणाद् विमुच्यते, मौनस्य=वाग्व्यापारनिरोधात्मकस्य तूष्णीम्भावस्य बलेन न संसाराद् विमुच्यते । प्रार्थनायाः याञ्चायाः बलेन न संसाराद् विमुच्यते, दानस्य दक्षिणायाः बलेन न संसाराद् विमुच्यते॥१॥ जीवनस्य चिरजीवनसाधनस्य समाधेः बलेन न संसाराद् विमुच्यते,मरणस्य प्रयागादिषु तीर्थेषु आत्मघातस्य बलेन न संसाराद् विमुच्यते। राज्यस्य धनस्य चा-

सधिकस्य मनसि विक्षेपोत्पादकस्याशान्तिजनकस्य बलेन न संसाराद् विमुच्यते ॥२॥ श्रुत्यर्थज्ञानस्य बलेन, तदर्थविचारस्य बलेन च न संसाराद् विमुच्यते। तर्कस्य निराश्रयस्य बलेन न संसाराद् विमुच्यते ॥ ३ ॥ यस्य हस्ते करे सविधे किमपि बलमस्ति, स तद् बलं कृत्वा=प्रयुज्य अवेक्षेत,=परीक्षेत, तत्र (बलप्रयोगे) नास्ति कश्चिदुत्तमो, नास्ति कश्चिन्नीचः, इति नानकः पश्यति ॥४॥३३॥

हिंदीभाषानुवाद ।

आख्यान के अर्थात व्याख्यान के बल से और चुप के अर्थात मौन के बल से, संसार के जन्म-मरण-चक्र से (संसार में वार वार आने से) नहीं छूटा जाता। मांगने के अर्थात प्रतिदिन की प्रार्थना के बल से संसार के जन्ममरणचक्र से नहीं छूटा जाता। दान के अर्थात् दक्षिणा के बलसे संसार के जन्ममरणचक्र से, नहीं छूटा जाता ॥१॥ जीने के अर्थात संसार में चिरकाल तक जीता रहने के साधन समाधि के बल से, संसार के जन्म-मरण-चक्र से नहीं छूटा जाता, मरने के अर्थात प्रयागादि-तीर्थों में आत्मघात करने के बल से, संसार के जन्म-मरण-चक्र से नहीं छूटा जाता । मन में शोर को अर्थात विक्षेप को उत्पन्न करने वाले राज्य और अति अधिक धन के बल से भी संसार के जन्म-मरण-चक्र से नहीं छूटा जाता ॥२॥ श्रुतियों के ज्ञान के बल से तथा उनके अर्थों के विचार (मीमांसा) के बल से भी, संसार के जन्म-मरण-चक्र से नहीं छूटा जाता। युक्तियों के अर्थात् निराधार शुष्क तर्कों के बल से संसार के जन्ममरणचक्र से नहीं छूटा जाता ॥३॥ जिसके हाथ में अर्थात जिसके पास, इन सब बलों में से कोई भी बल है, वह उसे लगा कर देखे ले अर्थात परीक्षा कर ले, इसमें ऊँचे, अथवा नीचे की कोई बात नहीं, यह नानक का दर्शन अर्थात नानक की दृष्टि है ॥४॥३३॥

भाष्य—ईश्वर की प्राप्तिरूपी अर्थात् ईश्वर का साक्षात् दर्शनरूपी बल ही संसार से छूटने अर्थात् संसार के जन्ममरण चक्र से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय है, दूसरा कोई बल उसका उपायनहीं, यह कहने के लिये अब अगला पर्व आरम्भ होता है। इसका नाम "बलाहेतुतापर्व" और मन्त्रसंख्या चार ४ है। चारों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है॥४॥३३॥

योगाः योगबलं प्राहुः, ज्ञानं च ज्ञानिनो बलम् ।
कर्मिणो यज्ञदानादि, राज्यं च लौकिकाः बलम् ॥१॥
साधवः कर्मसंन्यासं, बलं सर्वमकारणम् ।
मुक्तये सर्वदुःखेभ्यो, भक्तियोगस्तु कारणम् ॥२॥

"धर्मखण्डपर्व" ॥३४॥

"राती रुत्ती थिती वार, पवन पानी अगनी पाताल। तिस विचं धरती थाप रखी धरमसाल ॥१॥ तिसै विचे जीअ जुगत के रंग। तिनं के नाम अनेक अनन्त ॥२॥ करमी करमी होएं वीचार। सचा आप, सच्चा दरबार ॥३॥ तित्थे सोहन पंच परवाण। नदरी करम पवे नीसेन ॥४॥ कंच पकाई ओथे पाए। नानक गया जाप जाए" ॥५॥३४॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

दिवसं, रात्री, तिथयः, ऋतवः, वायुः, आपः, अग्निः अन्तरिक्षम्=आकाशम्। तेषाम् अन्तरे पृथिवी धर्मशाला=धर्मानुष्ठानभूमिका वेदिनामिका संस्थाप्य स्थिरीकृत्य निश्चित्य, अरक्षि रक्ष्यते ॥ १ ॥ तस्यामन्तरे नानावर्णैः युक्ताः जीवाः प्राणिनो=जीवभेदाः मनुष्या उत्पादमुत्पादं रक्ष्यन्ते। तेषां नामानि अनेकानि अनेकप्रकाराणि च वर्तन्ते ॥२॥ कर्मभिः शुभैः, कर्मभिरशुभैः तेभ्यो मनुष्येभ्यो देयस्य सुखस्य दुःखस्य च फलस्य विचारो

निर्णयो बोभूयते, यस्य शुभं कर्म, तस्मै सुखं दीयते, यस्याशुभं, तस्मै दुःखं दीयते । सर्वान्तरात्मा जगदीश्वरः सत्सः, तस्य दर्शनीयद्वारो लोकोऽपि सत्सः ॥३१॥ तत्र गताः ते सर्वे प्रमाणाः प्रमाणवन्तः प्रामाणिकाः पञ्चजनाः शोशुभ्यन्ते, यैः कर्मभिरीश्वरानुग्रहदृष्ट्या निरवासानोऽसौ लोकः प्राप्यते ॥ ४ ॥ यदाऽऽमाः कषायाः कर्मभिः पच्यन्ते, तदा तदनुग्रहदृष्टिप्राप्त्या अमुष्मिन् लोके गन्तुं पार्यते । यश्च तत्र गतोऽस्ति, तं लोकं प्राप्तोऽस्ति, तेन एव एतद् ज्ञापयितुं शक्यते नान्येन, इति नानकः पश्यति ॥५॥३४॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

दिन, रात, तिथियां, ऋतुएं, वायु, जल, अग्नि और अन्तरिक्ष अर्थात आकाश, उन के मध्य में पृथिवी को धर्म की शाला अर्थात् शुभ कर्मों के करने की जगह(वेदि) ठहरा कर रक्खा है॥१॥ उस (पृथिवी) के बीच अनेक रंगों से युक्त अर्थात अनेक रंगों के जीव अर्थात प्राणि-विशेष मनुष्य, उत्पन्न करके रक्खे हैं। उनके नाम अनेक और अनेक प्रकार के हैं ॥२॥ शुभ कर्मों से और अशुभ कर्मों से उनके सुख दुःख का विचार (निर्णय) होता अर्थात सुख दुःख रूपी फल उन्हें दिया जाता है । वह सब का अन्तरात्मा ईश्वर सत्स है और उसका दर्शनीय द्वार वाला घर भी अर्थात लोक भी सत्स है ॥३॥ वहां गये हुए वे प्रमाणसिद्ध पाँचों (चारों वर्ण और अन्त्यज) ही सोहते अर्थात शोभा को पाते हैं, जिन्होंने अपने कर्मों से उस ईश्वर की अनुग्रहदृष्टि से वह अवसान से अर्थात् अन्त से रहित ईश्वर का सत्यलोक प्राप्त किया है ॥ ४ ॥ जब शुभ कर्मों के करने से मन के पाप तथा पापवासानारूपी कच्चे मल पक जाते हैं, अर्थात एकदम निवृत्त हो जाते हैं, तब मनुष्य ईश्वर की अनुग्रह-दृष्टि से वहां जाना पाता है और जो वहां गया है, वही उसे जना सकता है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥ ५ ॥ ३४ ॥

भाष्य—ईश्वर की प्राप्तिरूपी साक्षात्-दर्शन के सिवा दूसरा कोई मुक्ति का उपाय नहीं, यह कहा गया और यह भी अनेक बार कहा गया कि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कर्तव्यबुद्धि से सदा शुभ कर्मों का करना ही ईश्वर की प्राप्तिरूपी साक्षात् दर्शन का उपाय है। जो भद्र मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सदा ही कर्तव्यबुद्धि से शुभकर्मों को करते हैं, वे निर्मल अन्तःकरण हुए ईश्वर के अनुग्रह से उसको प्राप्त होते अर्थात् ईश्वर का दर्शन पाते और मुक्त हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि ईश्वर के स्वरूपभूत-लोक में जिसका दूसरा नाम सच्च-खण्ड (सत्यलोक) अर्थात् ब्रह्मलोक अथवा परमपद है, सदा का निवास लभते हैं, यह अब अगले पर्व में कहा जाता है। इसका नाम "धर्मखण्डपर्व" और मन्त्रसंख्या पांच है।

पहले मन्त्र का उत्तरार्ध है "तिस विच धरती थाप रखी धरमसाल"। धरित्री का उच्चारण यहां धरती और उस का अर्थ पृथिवी है। धर्मशाला का उच्चारण धरमसाल और उसका अर्थ, धर्म के अनुष्ठान की (यथाविधि करने की) जगह अर्थात् वेदि और लोकशास्त्रविहित कर्मों का अर्थात् सब प्रकार के शुभकर्मों का, धर्म (पुण्य) का जनक होने से नाम यहां धर्म है। उन सब शुभ कर्मों में से यज्ञ, दान और तप, ये तीन शुभ-कर्म मुख्य हैं। उनके सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण ने यह कहा है—

"यज्ञदानतपःकर्म, न त्याज्यं कार्यमेव तद्।
यज्ञो दानं तपश्चैव, पावनानि मनीषिणाम्" (गी० १ ।५)।

अर्थ—यज्ञ, दान और तप, ये तीनों कर्म त्यागने योग्य नहीं, वे निःसन्देह सदा करने योग्य हैं। क्योंकि यज्ञ, दान और तप, तीनों निश्चय बुद्धिमानों के मनको सदा पवित्र करनेवाले हैं ॥५॥

ये तीनों शुभ कर्म नियम से पृथिवी पर ही किये जाते हैं, इसलिये पृथिवी को धर्मशाला कहा है। इस धर्मशाला-रूपी पृथिवी पर प्रथम तो सब मनुष्य, शुभ कर्म नहीं करते और जो करते हैं, वे भी कर्तव्यबुद्धि से नहीं करते, किन्तु फल की कामना से करते हैं और साथ ही अनेक प्रकार के अशुभ कर्म भी करते हैं। इसलिये उन्हें अपने शुभाशुभ कर्मों का फल सुख और दुःख, यहां अवश्य भोगना पड़ता है। शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख है, यह सभी आचार्यों का निश्चित मत है और यही अटल सिद्धान्त है ॥१॥

"कच पकाई ओथे पाए" । जब मनुष्य, भरसक यहां शुभ कर्मों को ही करते हैं, अशुभ कर्मों को नहीं करते, तब उनके मन, पाप तथा पापवासना-रूपी कच्चे मलों के पक कर गिर जाने से (निवृत्त हो जाने से) निर्मल होजाते हैं। निःसन्देह वे फिर ईश्वर का साक्षात् दर्शन-रूपी ज्ञान, पाने के योग्य होजाते हैं और उसका दर्शन पाते हैं, यह महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है—"कषायपक्तिः कर्माणि, ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्के, ततो ज्ञानं प्रवर्तते" अर्थात् मलों के पकाने के साधन कर्म हैं और ज्ञान, सब से ऊंची गति का अर्थात् सब से ऊंची स्थिति रूपी मुक्ति का साधन है। जब कर्मों से मन के मल पक कर गिर जाते हैं, तब ज्ञान (दर्शन) होता है (महाभार० शां० २६९, ३८) ॥५॥३४॥

कर्मणो धर्मलोकस्य, धरित्री वेदिरुच्यते ।
कार्यबुद्ध्या विधातव्यं, कर्म तत्रोपदिश्यते ॥१॥

कामबुद्ध्या नराः सर्वे, विविधं कर्म कुर्वते ।
इष्टानिष्टं फलं तेन, नियमेवोपभुञ्जते ॥२॥

"ज्ञानखण्डपर्व" ॥३५॥

"धरमखंड का एहो धरम । ज्ञानखंड का आखहु करम ॥१॥ केते पवन पानी वैसंन्तर, केते कान महेस । केते बरमे घाडत घड़िये, रूप रंग के वेस ॥ २ ॥ केतियां करम-भूमि मेर, केते केते धू उप-देस । केते इन्द चंन्द सूर, केते केते मण्डल देस ॥ ३ ॥ केते सिद्ध बुद्ध नाथ, केते केते देवी वेस । केते देव दानव मुन, केते केते रतन समुंद ।४। केतिया खाणी, केतिया बाणी, केते पात नरिन्द। केतिया सुरती सेवक केते, नानक अन्त न अन्त" ॥५॥३५॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

धर्मलोकस्य शुभाशुभकर्मात्मकस्य, एष एव असाधारणो धर्मः, यः सुखदुःखदानलक्षणः पूर्वमाख्यातः। सम्प्रति ज्ञानलोकस्य विद्यालक्षणस्य, कर्म=विषयः, आख्यायते कथ्यते ॥१॥ कियन्तो वायवः, आपो वैश्वानराः अग्नयः। कियन्तः कृष्णावतारिणो विष्णवो लोकपालकाः, कियन्तो महेश्वराः शिवाः जगत्प्रलयकारिणः। कियन्तः प्राणिसृष्टिकर्तारो ब्रह्माणः प्राणिसृष्टयै घाटयितव्याः निर्मातव्याः घाट्यन्ते प्रतिपलं निर्मीयन्ते नानाकाराः नानावर्णाः नानावेषाः ॥२॥ कियत्यः कर्मभूमयः पृथिव्यः, कियन्तस्तासां भूमीनामुदीचीनाः मेरवः, कियन्तोऽपाचीनाः ध्रुवाः उपमेरवः, कियन्तस्तेषां देशाः, कियन्तस्तेषाम् उपदेशाः। कियन्तः इन्द्राः (विद्युतः), कियन्तश्चन्द्राः, कियन्तः सूर्याः, कियन्ति ग्रहमण्डलानि, कियन्तो ग्रहमण्डलदेशाः ॥ ३ ॥ कियन्तोऽणिमादिसिद्धाः, कियन्तो ज्ञानसिद्धाः, कियन्तः प्रजानाथाः गृहस्थाः, कियन्तस्तेषां देवीयाः दिव्याः वेषाः, कियन्तो देवाः, कियन्तो दानवाः, कियन्तोऽगस्त्यादयो मुनयः समुद्रशोषणाः, कियन्तो रत्नाकरादयः समुद्राः ॥ ४ ॥ कियत्यः खानयः (जीवयोनयः), कियत्यो वाण्यः, कियन्तः सम्राजः, कियन्तो नरेन्द्राः राजनः, कियन्तः सुवृत्तयः आचार्याः, कियन्तस्तेषां सेवकाः शिष्याः, किं बहुना, नास्त्यन्तः नास्त्यन्तः, इति नानकः पश्यति ॥५॥३५॥

हिंदीभाषानुवाद

धर्मलोक का अर्थात् धर्म, अधर्म के आश्रयविशेष शुभाशुभ-कर्मरूपी लोक का यही असाधारण धर्म है, जो सुख, दुःख देना-रूपी, पीछे कहा गया है। अब ज्ञानलोक का अर्थात् ज्ञान के आश्रयविशेष विद्यारूपी लोक का कर्म अर्थात् विषय=ज्ञेय पदार्थ कहा जाता है ॥१॥ कितने ही (अनेक ही) वायु, जल (पानी) और

वैश्वानर अर्थात अग्नियां हैं। कितने ही लोकपाल कृष्णावतारी विष्णु, कितने ही संहारकारी महेश्वर अर्थात शिव हैं। कितने ही जीवों की सृष्टि करने के लिये घड़ने योग्य अर्थात जीवसृष्टि के बनाने में अत्यन्त कुशल, अनेक आकारों (शकलों) के, अनेक रंगों के और अनेक वेषों के ब्रह्मा घड़े जाते हैं अर्थात प्रतिक्षण बनाये जाते हैं ॥२॥ कितनियां ही कर्मभूमियां अर्थात धर्मशाला-रूपी पृथिवियां, कितने ही उनके उत्तरमेरु, कितने ही ध्रुव अर्थात दक्षिणमेरु, कितने ही उन के देश और कितने ही उनके उप-देश, कितने ही इन्द्र (बिजलियां), कितने ही चन्द्रमा (चांद), कितने ही सूर्य, कितने ही ग्रहमण्डल, और कितने ही उनके देश हैं ॥३॥ कितने ही सिद्ध अर्थात अणिमादि-सिद्धियों वाले योगी, कितने ही बुद्ध अर्थात् ज्ञानरूपी सिद्धियों वाले ज्ञानी, कितने ही प्रजानाथ अर्थात् बड़े बड़े परिवारों वाले गृहस्थ और कितने ही उन गृहस्थों के देवताओं जैसे अद्भुत वेष हैं। कितने ही देव (आर्य), कितने ही दानव (दस्यु), कितने ही मुनि (ऋषि), कितने ही रत्नाकर आदि समुद्र ॥४॥ कितनियां ही जीवों की योनियां (जातियां), कितनियां ही जीवों की वाणियां, कितने ही सम्राट्, कितने ही नरेन्द्र अर्थात् राजे, कितने ही अच्छी वृत्तियोंवाले अर्थात् सदाचारी आचार्य, कितने ही उनके सेवक अर्थात् शिष्य हैं, अधिक क्या, ज्ञान के लोक में, ज्ञान के विषय ज्ञेय वस्तुओं का अन्त नहीं है, अन्त नहीं है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥५॥२५॥

भाष्य—पृथिवी धर्मशाला है। यहां पर मनुष्य, सदा शुभ कर्मों को न करते हुए जो शुभ तथा अशुभ, दोनों प्रकार के कर्मों को करते और उनका फल सुख तथा दुःख भोगते हैं, उसका कारण उनका केवल अज्ञान है। वे यथासमय विद्या नहीं पढ़ते, विद्या के यथासमय न पढ़ने से उनका ज्ञान विकसित नहीं होता, ज्ञान के पूरा पूरा विकसित न होने से

उनको ईश्वर की इस अनन्त रचना का कुछ भी पता नहीं लगता और नहीं उन्हें इस से मुक्ति पाने का यथार्थ उपाय (साधन) ही सूझता है। मनुष्यों को चाहिये कि वे पहले जगत्कर्ता ईश्वर की इस अनन्त रचना को ठीक ठीक जानें और फिर उस से मुक्त होने के यथार्थ उपाय को यत्नपूर्वक समझें। ईश्वर की इस अनन्त रचना का ठीक ठीक जानना ज्ञान के विकास पर निर्भर है। इसलिये अब धर्मखण्ड के स्वभाव को दुहरा कर ज्ञान का और उसके विषय ईश्वर की अनन्त रचना का कुछ निरूपण अगले पैंतीसवें ३५ पर्व में किया जाता है। इस पर्व का नाम "ज्ञानखण्डपर्व" और मन्त्रसंख्या पांच ५ है। उन में से पहला मन्त्र है—

"धर्म-खण्ड का एहो धर्म। ज्ञान-खण्ड का आखहु, कर्म" ॥ १ ॥

धर्म, यहां अधर्म का उपलक्षण है। वस्तु के एक भाग (एक हिस्सा) को खण्ड कहते हैं। यहां पर खण्ड का अर्थ लोक अर्थात् आश्रयविशेष विवक्षित है। धर्म, अधर्म का (पुण्य पाप का) लोक (आश्रय) शुभ, अशुभ कर्म है, इसलिये धर्मखण्ड का अर्थ शुभाशुभ—कर्म, होता है। दूसरे धर्म पद का यहां अर्थ असाधारण धर्म अर्थात् शुभाशुभ कर्म का स्वभाव या प्रकृति अभिप्रेत है। एषो (ऋ० १।४६।४) का उच्चारण "एहो" है। ज्ञानखण्ड का अर्थ ज्ञान का लोक (आश्रय) और कर्म का अर्थ यहां ज्ञान का विषय अर्थात् ज्ञातव्य वस्तु है। जैसे धर्म अधर्म का लोक (आश्रय) शुभाशुभ कर्म है, वैसे ज्ञान का लोक नानाप्रकार की विद्या है, क्योंकि शुभाशुभ कर्म से धर्माधर्म की नाईं नानाविध विद्या से ही ज्ञान का प्रादुर्भाव और विकास होता है। इसलिये धर्मलोक का अर्थ शुभाशुभ-कर्मरूपी लोक और ज्ञानलोक का अर्थ विद्यारूपी लोक, बहुत संगत है ॥ १ ॥

"केते इन्द चन्द सूर, केते केते मण्डल देस"। इन्द का इन्द्र, चन्द का चन्द्र (चन्द्रमा) और सूर का सूर्य अर्थ है। इन्द्र के सम्बन्ध में पीछे लिखा गया है। चन्द्रमा, एक छोटा सा उपग्रह है और हमारी इस पृथिवी से दो लाख अठतीस हजार आठ सौ २३८८०० मील दूर है। इस का व्यास दो हजार एक सौ बासठ २१६२ मील और परिमाण पृथिवी से ४९ है। यह सदा हमारी इस पृथिवी की परिक्रमा करता है। इसे पृथिवी की परिक्रमा करने में सताईस २७ दिन, सात ७ घंटे, तिताली‍स ४३ मिनट और साडे ग्यारह ११½ सेकंड लगते हैं।

परन्तु व्यवहार में इस का महीना ऊनतीस २९ दिन, बारह १२ घंटे चवालीस ४४ मिनट और २८⅟₁ सेकंड का माना जाता है। भारतीय ज्योतिषियों ने चन्द्रमा को ग्रह माना है, पर यह ठीक नहीं है। जो जो भूमिमण्डल, सूर्यकी परिक्रमा करते अर्थात् सूर्य के इरद गिरद घूमते हैं, उन को ग्रह और जो भूमिमण्डलों के इरद गिरद घूमते हैं, उनको उपग्रह कहते हैं। चन्द्रमा हमारी इस पृथिवी के इदर गिरद घूमता है, सूर्य के इरद गिरद नहीं घूमता, इसलिये यह ग्रह नहीं, उपग्रह है।

पीछे कहा गया है कि सूर्य ही एक मुख्य मण्डल है, शेष सब ग्रह अर्थात् भूमिमण्डल उसके अनुचर हैं और सदा नियम से उस के इरद गिरद घूमते हैं। हमारी पृथिवी की धुरि, सूर्य के इरद गिरद घूमते समय सीधी न रह कर कुछ टेढी रहती है और उसके घूमने के मार्ग की कक्षा गोल न होकर कुछ अण्डाकार होती है। इसलिये सूर्य कुछ महीनों तक भूमध्यरेखा अर्थात् विषुवदूरेखा (विषुव) के उत्तर में और कुछ महीनों तक दक्षिण में उदय होता (चढ़ता) दिखाई पड़ता है। ज्योतिःशास्त्र में इन दोनों को उत्तर-अयन तथा दक्षिण अयन कहते हैं, अर्थात् भूमध्यरेखा या विषुवदूरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की गति का नाम उत्तर-अयन और दक्षिण की ओर गति का नाम दक्षिण–अयन है। इस को यों समझिये कि भूमध्यरेखा, मेष, वृष मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनुष् , मकर, कुम्भ और मीन, इन बारह १२ राशियों में विभक्त है। उन में से मकर राशि से मिथुन राशि तक की छे ६ राशियों में सूर्य के उदय का नाम उत्तर--अयन (उत्तरायण) और कर्क से धनुष् राशि तक की छे ६ राशियों में सूर्य के उदये का नाम दक्षिण–अयन(दक्षिणायन) है। अयन का अर्थ यहां गति है। जिस दिन सूर्य भूमध्य रेखा से उत्तर तथा दक्षिण में उदय न होकर केवल भूमध्य रेखा पर ही उदय होता है, उस दिन को"सायन"कहते हैं। उस दिन, रात्री और दिन, दोनों बराबर होते हैं अर्थात् जितनी घड़ी अथवा घंटे का दिन होता है, उतनी ही घड़ी अथवा घंटे की रात्रि होती है। ऐसा दिन वर्ष में दो बार आता है–एक तो मेष राशि में अर्थात् सौर चैत्र मास की नवीं ९ तिथि को अथवा इंग्रेजी–इक्कीस २१ मार्च को और दूसरा सौर आश्विन मास की नवीं ९ तिथि को अथवा इंग्रेजी बाईस २२सतम्बर को आता है। इस लिये इक्कीस २१ मार्च और बाईस २२ सतम्बर का

दिन सायन माना जाता है । ज्योतिःशास्त्र के अनुसार सूर्य कर्क-राशि में आ कर दक्षिण की ओर बढ़ने लगता है और मकर-राशि में पहुंचने तक भूमध्य-रेखा के दक्षिण ही रहता है । धनुष्-राशि से फिर उत्तर की ओर बढ़ने लगता है और कर्क राशि में पहुंचने तक भूमध्य-रेखा के उत्तर ही रहता है। अर्थात् इक्कीस २१ जून को सूर्य उत्तरीय अयन-सीमा पर (कर्क राशि पर) पहुंच जाता है और फिर बाईस २२ जून से दक्षिण की ओर बढ़ने लगता है । प्रायः बाईसी २२ दसम्बर तक दक्षिणीय अयन सीमा पर (मकर राशि पर) पहुंच जाता है। इसीलिये बाईस २२ जून का दिन बड़े से बड़ा और तेईस २३ दसम्बर की रात्री बड़ी से बड़ी मानी जाती है। अथवा यों कहो कि छोटी से छोटी रात्री बाईस २२ जून को होती और छोटे से छोटा दिन तेईस २३ दसम्बर को होता है। पूर्वकाल में सूर्य का वर्ष तीन सौ साठ ३६० दिन का और आजकल तीन सौ पैंसठ ३६५ दिन, पांच ५ घंटे, अठतालीस ४८ मिनट और छयालीस ३६ सेकंड का माना जाता है। ऐसा ही मानना ठीक है ॥ ३ ॥

"केते देवी वेस" । यहां देवीय का संक्षिप्त उच्चारण देवी और अर्थ देवताओं के समान अर्थात् दिव्य या अद्भुत, विवक्षित है । वेष का उच्चारण वेस और देवी, उसका विशेषण है ।

"केते रत्न समुंद" । रत्नाकर का एक देश रत्न और समुद्र का उच्चारण समुंद है । रत्नाकर से सब समुद्र अभिप्रेत हैं ॥ ४ ॥

"केतिआ खानी, केतिआ वाणी" । जीवयोनि का नाम यहां खानि है । अण्डज,जरायुज,स्वेदज और उद्भिज्ज,ये चार ४ जीवयोनियां, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी,ये चार ४ वाणियां हैं । पक्षी आदि जीवों का नाम अण्डज, मनुष्य, पशु आदि जीवों का नाम जरायुज, जूआं, मक्खी, मच्छर आदि जीवों का नाम स्वेदज और वृक्ष, गुल्म, लता आदि जीवों का नाम अद्भिज्ज है । नाभि (ब्रह्मग्रन्थी) में उत्पन्न हुई सूक्ष्मतम नाद-रूपी बाणी का नाम परा, हृदय तक पहुंची हुई सूक्ष्मतर वाणी का नाम पश्यन्ती,गल तक पहुंची हुई सूक्ष्म वाणी का नाम मध्यमा और कण्ठ, तालु आदि के संयोग से उत्पन्न होकर मुख से निकली हुई क, ख, आदि वर्ण-रूपी स्थूल बाणी का नाम वैखरी है ॥५॥३५॥

विद्यया तव प्रपद्यन्ते, यत्र कामाः परागताः ।
ज्ञेयाः ब्रह्मादयः सर्वे, ज्ञायन्ते देवनिर्मिताः ॥ १ ॥
ज्ञानलोकः समाख्यतः, सैषा देवी सरस्वती ।
सदा यत्नेन सङ्ग्राह्या, श्रीदाऽनेककलावती ॥ २ ॥

"आश्रमखण्डपर्व" ॥३६॥

"ज्ञान-खण्ड मह-ज्ञान प्रचण्ड । तित्थे नाद विनोद कोड अनन्द ॥१॥ स्रम-खण्ड की बांणी रूप । तित्थे घाडत घडिये बहुत अनूप ॥२॥ ताँ कीआ गल्ला कथीआ नां जाह । जे को कहे पिच्छे पछताए ॥ ३ ॥ तित्थे घडिये सुरत मंत मन बुद्ध । तित्थे घडिये सुरा सिद्धा की सुद्ध ॥ ४ । ३६ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

ज्ञानलोके विद्यायां ज्ञानमेव वस्तूनां प्रचण्डायते=भ्रमसंशयरहितं देदीप्यते । तत्र नानाविधाः नानाजातीयाः वाद्यनादाः, विविधाः विनोदाः, कोटिशो महोत्सवानन्दाः, ज्ञानिनां विदुषां गेहे नित्यं वोभूयन्ते ॥१॥ आश्रमलोकस्याश्रमिलक्षणस्य ब्रह्मचारिप्रभृतिसंज्ञकस्य वांणी भाषा (परिभाषा) संज्ञा, रूपेण असाधारणेन धर्मेण, वरीवृत्यते । तत्र घाटयितव्यं निर्मातव्यं वस्तु बहुतरम् अनुपमम् उपमाशून्यं घाट्यते निर्मीयते ॥२॥ तासां घाटयितव्यघटनानां वार्ताः कथाः कालभेदेन असंख्येयत्वात् न कथयितुं शक्यन्ते । यदि कश्चित् कथयेत, पश्चात् पश्चात्तापं कुर्यात् ॥३॥ तत्र सुवृत्तयो, मतयो, मनांसि, बुद्धयो ज्ञानानि च घाट्यन्ते । तत्र भूसुराणां ब्राह्मणानां, ज्ञानसिद्धानां संन्यासिनाम् उपदेशकानां च शुद्धयः शोधनानि याथातथ्यतो धर्मप्रचारार्थं घाट्यन्ते=विधीयन्ते ॥४॥३६॥

हिंदीभाषानुवाद ।

ज्ञान के लोक विद्या में वस्तुओं का ज्ञान ही प्रचण्ड (जाज्वल्यमान) होता है। वहां (ज्ञान के लोक विद्या में) अनेक जाति के अर्थात अनेक प्रकार के बाजों के शब्द तथा अनेक प्रकार के विनोद(हास्यविलास) और अनेक ही महोत्सवों के आनन्द ज्ञानियों के घरों में सदा होते हैं ॥१॥ आश्रमलोक की अर्थात ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लोक अर्थात् आश्रयविशेष ब्रह्मचारी, गृहस्थ,वानप्रस्थ आदि नाम के आश्रमियों की वांणी (भाषा) अर्थात परिभाषा (संज्ञा),रूप से अर्थात उनके असाधारण धर्म-रूपी स्वरूप से होती है । वहां (आश्रमलोक में) घडने योग्य (बनाने योग्य) वस्तु, बहुत ही अनुपम घडी जाती (बनाई जाती) है ॥२॥ उनके घडने (बनाने) की बातें, काल के भेद से असंख्येय होने के कारण, नहीं कहीं जा सकती । यदि कोई कहेगा, पीछे पछतायेगा ॥ ३ ॥ वहां अच्छी वृत्तियां (अच्छे ख्याल), घडी जाती हैं, मतियां अर्थात् (समझां) घडी जाती हैं,मन और वस्तुओं के ज्ञान घडे जाते अर्थात् बनाये जाते हैं, वहां भूसुरों अर्थात् ब्राह्मणों की और ज्ञानसिद्धों संन्यासियों की शुद्धियां घडी जाती अर्थात ठीक ठीक धर्मप्रचार के लिये समय समय पर उनके संशोधन किये जाते हैं ॥४।३६॥

भाष्य—ऊपर जिस ज्ञानके लोक नानाप्रकारकी विद्या का कर्म अर्थात् विषय, सामान्यरूप से कहा गया है,वह ज्ञान,जब प्राकृत पदार्थों से लेकर सर्वान्तरात्मा ईश्वर तक पहुंचा हुआ संशय,तथा विपर्यय से रहित होता है, तब प्रचण्ड अर्थात् देदीप्यमान होता है, उसके देदीप्यमान होने से मनुष्यों का हृदयकमल विकसित और विशाल हो जाता है। उससे वे रात्रिन्दिवा ईश्वरभक्ति में निमग्न होकर कर्तव्यबुद्धि से आश्रमोचित कर्मों को करते हुए सदा आनन्द में निमग्न रहते हैं। और आश्रमों की मर्यादा का पालन करते हुए उन्हें सुव्यवस्थित रखना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। वे धर्म के प्रचारक ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को सदा

सीमाबद्ध रखते हुए उनके आचार, प्रचार, ज्ञान तथा विचार पर पूरी पूरी दृष्टि रखते हैं और समय समय पर उनका संशोधन भी यथायोग्य करते रहते हैं, जिससे आश्रमों की मर्यादा ज्यूं की त्यूं सुव्यवस्थित रहे और किसी को उसके उलांघने का साहस न पड़े, यह अब कहने के लिये अगले पर्व का आरम्भ हुआ है। इसपर्वका नाम "आश्रमखण्डपर्व" और मन्त्रसंख्या चार ४ है। उन में से दूसरे मन्त्र का पूर्वार्ध है "सरम खंड की वाणी रूप"। यहां आश्रम (आसरम) के स्थान में श्रम (सरम) उच्चारण पूर्ववत् छान्दस है, जैसे वेद में आत्मन् के स्थान में "त्मन्" (ऋ० ५।४३।९) उच्चारण। खण्ड का अर्थ यहां पूर्ववत् लोक (आश्रय) अभिप्रेत है। वाणी का अर्थ भाषा (परिभाषा) अर्थात् मनुष्यकृत संज्ञा (आश्रमनाम) और रूप का अर्थ असाधारण स्वरूप अर्थात् गुण, कर्म के भेद से अपना अपना एक दूसरे से अलग अलग (व्यावृत्त) स्वरूप है। जैसे हिन्दुधर्म में मनुष्यमात्र का विभाग पांच श्रेणियों में या अन्त की दोनों श्रेणियों को इकट्ठा करके चार श्रेणियों में माना है, वैसे मनुष्य-मात्र की आयु का विभाग चार ४ आश्रमों में माना है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, ये उन चारों आश्रमों के नाम हैं। पहले ब्रह्मचर्याश्रम में अर्थात् गर्भ से आठवें ८ बरस की आयु से लेकर चौवीस २४ बरस की आयु तक, अपनी सब इन्द्रियों को वश में रखते हुए धार्मिक, नैतिक तथा व्यावहारिक आदि नाम की अनेकविध विद्याओं तथा कलाओं का सम्पादन (हासिल) करना और फिर गार्हस्थ्याश्रम में अर्थात् पच्चीस २५ बरस की आयु से लेकर अठसठ ६८ बरस की आयु तक अपने अनुरूप पत्नी (स्त्री) का यथाविधि पाणिग्रहण करके अच्छी सन्तान उत्पन्न करना, अपने तथा अपनी धर्मपत्नी और अपनी सन्तान के सुखपूर्वक जीवनभर के निर्वाहार्थ अनेक सदुपायों तथा व्यवसायों से अनेक प्रकार का स्थावर तथा जंगम धन संग्रह करना और एक सर्वा-न्तरात्मा ईश्वर में अटल श्रद्धाभक्ति रखते हुए कर्तव्यबुद्धि से आश्रमोचित कर्मों को यथाविधि करना होता है। वानप्रस्थाश्रम में अर्थात् ऊनहत्तर ६९ बरस की आयु से सत्तर ७० बरस की आयु तक तपस्वी जीवन बनाना और पुनः संन्यासाश्रम में अर्थात् एकसत्तर ७१ बरस से ऊपर की सम्पूर्ण आयु में आध्यात्मिक-योग्यता का बढ़ाना तथा सांसारिक सुखसम्भोग से दूर रहना होता है। बस यही इन चारों ४ आश्रमों का

असाधारण स्वरूप अर्थात् गुण तथा कर्म के भेद से एक दूसरे से जुदा जुदा अपना अपना रूप है। और इसी रूप के अनुसार उनके लोक आश्रमियों की ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि मनुष्यकृत संज्ञा अर्थात् परिभाषा या वाणी है। इन चारों आश्रमों में से पहला और दूसरा आश्रम, नियत होने से यथासमय हर एक को अवश्य कर्तव्य है। तीसरा और चौथा आश्रम, अनियत होने से सबको अवश्य कर्तव्य नहीं। इसके सिवा संन्यासाश्रम में उस मनुष्य का ही अधिकार है, जो विद्वान् है, तपस्वी है और अच्छे आचरण वाला है। स्त्री का अधिकार बिल्कुल नहीं। जैसे वर्णनाम की श्रेणियों में अपनी अपनी श्रेणी के अनुरूप आचरण के अर्थात् गुण और कर्म के न होने से अधोयान (नीचे जाना) और प्रशस्त गुण, कर्म के होने से ऊर्ध्वयान (ऊपर जाता) होता है, वैसे यहां उपदेशक-श्रेणी के गृहस्थों तथा वानप्रस्थियों और संन्यासियों में भी अधोयान और ऊर्ध्वयान होता है। ब्रह्मचारियों और गृहस्थों को अपने अपने आश्रमके कर्म ठीक ठीक करने के लिये सदा बाधित और न करने पर कदाचित् दंडित भी करना होता है। परन्तु ब्रह्मचर्य को पूरा किये विना कोई भी व्यक्ति गृहस्थ नहीं हो सकता और गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर फिर कोई उसे नियत अवधि के अन्दर छोड़ नहीं सकता। हां पुत्रों के गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर सब काम संभाल लेने पर वानप्रस्थी या संन्यासी के तौर पर घर में ही रह सकता है। बस सब शास्त्रों का यही निचोड़ अर्थ है और यही साम्प्रदायिक मत है और यही इस पर्व में कहा गया है ॥३६॥

नृणां कर्माश्रितो भागो, वर्णः शास्त्रेषु भाष्यते ।
तेषामेवायुषो भागः, आश्रमः परिभाष्यते ॥१॥
ब्रह्मचर्यं च गार्हस्थ्यं, मुख्यमेवाश्रमद्वयम् ।
वर्णोऽपि च तथैवैकः, क्षत्रियो मतमुत्तमम् ॥२॥

"कर्मखण्डपर्व" ॥३७॥

"[1]करम-खण्ड की [2]बाणी [3]जोर । [4]तित्थे [5]होर [6]न [7]कोई [8]होर ॥ १ ॥ [9]तित्थे [10]जोध [11]महाबल [12]सूर । [13]तिन मे [14]राम [15]रहिआ [16]भरपूर ॥ २ ॥ [17]तित्थे [18]सीतो [19]सीता [20]महिमा-माह ।

तां के रूप नं कंथने जाए ॥ ३ ॥ नां ओह मरे नं ठगे जाह । जिनके रांम वसे मन-माह ॥ ४ ॥ तित्थे भगत वसे के लोएं। करे अनन्द सचा मन सोए ॥५॥ सच-खण्ड वसे निरंकार । कर कर वेखे नदर निहाल ॥६॥ तित्थे खण्ड मण्डल वरभण्ड । जे को कथे तं अन्त नं अन्त ॥ ७ ॥ तित्थे लोए लोए आकार। जिवं जिवं हुकम तिवे तिवं कार ॥ ८ ॥ वेखे विगसे कर वीचार। नानक कथना करडा सार" ॥ ९ ॥ ३७ ॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

कर्मलोकस्य ऐश्वर्यलक्षणस्य वाणी=भाषा परिभाषा (संज्ञा), बलेन=ऐश्वर्यहेतुना शौर्येण क्रियते विधीयते। तत्र बलादन्यद् अपरं किञ्चित् कारणं न विद्यते ॥ १ ॥ तत्र योद्धारो महाबलाः शूराः वीराश्च विजेजीयन्ते। तेषु अङ्गे अङ्गे रोम्णि रोम्णि रामः कर्मतः आचारतः परिपूर्णं वेविद्यते ॥२॥ तत्र सीतोपमाः सीता याः महिम्नि पातिव्रत्ये धर्मे वर्तमानाः कुलस्त्रियो राराज्यन्ते। तासां रमणीयाकृतयः सुन्दरशरीरयष्टयो न कथयितुं शक्यन्ते ॥३॥ न ते कदाचिद् रोगेण म्रियन्ते, न वा क्वचित् नैतिके व्यवहारे केनचित् स्थगितुं वञ्चयितुं पार्यन्ते। येषां मनसि चेतसि रामो वावस्यते ॥४॥ तत्र लोके कियन्तः कर्मयोगिनो भक्ताः निवसन्ति, ये सर्वं लोकम् आनन्दमयं कुर्वन्ति, तेषां मनसि स सत्योऽजस्रं प्रतितिष्ठति, न जातुचिद् विस्मरणं याति ॥ ५ ॥ सत्यलोके सत्यस्येश्वरस्यात्मभूते ब्रह्मलोकाख्ये लोके निराकारो जगदीश्वरो निवसति विराराज्यते, स उत्पाद्य उत्पाद्य सर्वं चराचरं जगत् पितेव पुत्रं प्रसन्नदृष्ट्याऽवेक्षते ॥६॥ तत्र खण्ड-मण्डल-ब्रह्माण्डानि निखिलानि समायान्ति।

यदि कश्चित् कथमिति कथयेत् ? तदा ब्रूयात् नास्ति तस्यान्तः, नास्ति तस्यान्तः ॥ ७ ॥ तत्र ऊर्ध्वलोकानाम् अधोलोकानां च सर्वेषां चित्राकाराः सूक्ष्माकृतयो वरीवृसन्ते । यथा यथाऽऽज्ञा भवति, तथा तथा कार्यं निखिलं बोभवीति ॥ ८ ॥ सोऽवेक्षते, कार्यस्य विचारं कृत्वा च विचाकस्यते=प्रसासद्यते । तस्य प्रसन्नमूर्त्तेः भगवतो जगत्कर्तुः स्वरूपस्य कथनं लोहवत् कठिनम् अशक्यं, वाङ्मनसागोचरत्वादिति नानकः पश्यति ॥९॥३७॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

कर्मलोक की अर्थात् यज्ञदानादि कर्मों के लोक=साधनरूपी आश्रयविशेष सांसारिक ऐश्वर्य की वाणी अर्थात् परिभाषा (संज्ञा) बल से होती अर्थात् मनुष्यों के बल के अनुसार की जाती है। उस में (कर्म के लोक सांसारिक ऐश्वर्य में) बल से भिन्न दूसरा कोई कारण (साधन) नहीं है ॥१॥ वहां योद्धे, महाबली, सूरमें ही उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। उनके अङ्ग अङ्ग में, रोम रोम में राम, कर्म और आचार से भरपूर हुआ रहता है ॥ २ ॥ वहां सीता के तुल्य सीता के महत्त्व में अर्थात् पतिव्रत-धर्म में वर्तमान हुई कुलस्त्रियां देदीप्यमान होती हैं। उन के रमणीय आकारों की अर्थात् सुन्दर शरीरों की उपमा नहीं कही जा सकती ॥ ३ ॥ वे न कभी रोग से मरते हैं और नहीं कभी राजनैतिक व्यवहारों में किसी दूसरे से ठगे जाते हैं,जिनके मन में श्रीराम जी सदा बसते हैं ॥१.४॥ उस कर्म के लोक ऐश्वर्य में कितने ही कर्मयोगी भक्त रहते हैं,जो अपने आचरणसे और अपनी भक्तिके रससे सबको आनन्दित करते अर्थात रात-दिन सुप्रसन्न रखते हैं, उनके मन में वह सच्चा (सत्य) जगदीश्वर निरन्तर निवास करता अर्थात क्षण-भर भी नहीं भूलता है ॥५॥ सचलोक में अर्थात सत्य ईश्वर के अपने

आत्मारूपी लोक में,जिसका दूसरा नाम ब्रह्मलोक(सचखण्ड) है,आप निराकार जगदीश्वर रहता है। वह,स्थावर (अचर) को उत्पन्न कर, जंगम (चर) को उत्पन्न कर स्थावर, जंगम, सभी जगत् को माता-पिता की नाई प्रसन्नता की दृष्टि से देखता अर्थात् देखता है ॥६॥ उसमें (सत्यलोक में) सभी देश, सभी भूमिमण्डल, सब का सब ब्रह्माण्ड, समाया हुआ है। यदि कोई, कैसे ? ऐसा कहे अर्थात् पूछे, तो 'उसका अन्त नहीं है, अन्त नहीं है, अर्थात् वह बड़े से बड़ा है, यह उत्तर है ॥ ७ ॥ उस में ऊपर के सभी लोकों के और नीचे के सभी लोकों के सूक्ष्म आकार (चित्र) रहते हैं। जैसे जैसे आज्ञा होती है, वैसा वैसा कार्य होता है ॥८॥ वह सब कार्यों को देखता है और आज्ञा के अनुसार हुए विचार कर (देख कर) प्रसन्न होता है। उसके स्वरूप का ठीक ठीक कहना लोहे के समान कठिन अर्थात् मनुष्य की शक्ति से बिल्कुल बाहर है, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥९॥३७॥

भाष्य—आश्रमों को अच्छी तरह सुव्यवस्थित रखना और यज्ञ, दान, आदि आश्रमोचित कर्मों को ठीक ठीक यथासमय करना,ऐश्वर्य के बिना अर्थात् धन धान्य आदि विविध सम्पत्ति के बिना नहीं होसकता। जो मनुष्यसमुदाय (मनुष्य जाती) संसार के ऐश्वर्य से रहित है,अर्थात् जिसके पास कोई सम्पत्ति या विभूति नहीं है, वह दीन और पीडित होने से यज्ञ,दान आदि आश्रमोचित कर्मों को नहीं कर सकता,नहीं कभी आश्रमों को सुव्यवस्थित रख सकता है और नहीं आश्रमों की सुव्यवस्था के लिये आश्रमधर्म के प्रचारक ब्राह्मणों और साधुओं अर्थात् संन्यासियों का समय समय पर यथोचित संशोधन ही कर सकता है। निःसन्देह यथासमय आश्रमोचित कर्मों को करने और आश्रमों को सुव्यवस्थित रखने के लिये सब प्रकार के ऐश्वर्य की बड़ी आवश्यकता है। शतपथ-ब्राह्मण के श्रुतिवाक्य में इस का निरूपण मनुष्य की इच्छा के रूप में इस प्रकार किया है—"तस्माद् अपि एतर्हि एकाकी कामयते जाया मे स्याद् अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्याद् अथ कर्म कुर्वीय इति"

अर्थात् ईसी से पहले की नाई अब भी एकला (इकेल) मनुष्य यह इच्छा करता है कि मेरे स्त्री हो, तब मैं प्रजा-रूप से प्रकट होवूं (पुत्रों पौत्रों वाला होवूं), फिर मेरे धन (ऐश्वर्य) हो, तब मैं कर्म करूं (शत० १४।४।२।३०)। इतना ही नहीं। मनुष्यों को यावदायु अपना जीवन सुख से विताने और मनुष्य-समुदाय में इज़्ज़त तथा आदर की ज़िन्दगी बसर करने के लिये भी हर एक प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्य की आवश्यकता है। समस्त भूमिमण्डल पर जितने प्रकार का सांसारिक ऐश्वर्य है,जितने प्रकार की सम्पत्ति या विभूति है,उस सबका साधन (कारण) एकमात्र वल है। जिसके पास वल नहीं,वह कोई भी ऐश्वर्य,कोई भी सम्पत्ति या विभूति नहीं प्राप्त कर सकता। सब प्रकार के ऐश्वर्य या सम्पत्ति अथवा विभूति की प्राप्ति के लिये हर एक मनुष्य में शारीरिक-वल, धर्मवल, विद्यावल और नीतिवल, ये चार वल पहले अवश्य होने चाहिये। जिस मनुष्य के पास ये चारों वल हैं, उसके पास पांचवां सामाजिक वल, अपने आप आ जाता है। क्योंकि ये चारों वल ही सामाजिक-वल की नींव हैं। सामाजिक-वल के मिल जाने से संसार का सब ऐश्वर्य, विना आयास अपने आप मिल जाता है। इसी-लिये गाधि के पुत्र विश्वामित्र ऋषि ने ईश्वर से यह प्रार्थना की है—

"बलं धेहि तनूषु नो, बलमिन्द्र ! अनुडुत्सु नः। बलं तोकाय तनयाय जीवसे, त्वं हि बलदा असि"। (ऋ० ३।५३।१८)।

अर्थ—हे परमैश्वर्यवान् ! हमारे शरीरों में बल दे, हमारे इन्द्रिय-रूपी बैलों (घोड़ों) में बल दे। हमारे पुत्रों को पौत्रों को बल दे, सुखपूर्वक जीने के लिये, क्योंकि तू बल का देने वाला है ॥१८॥ यहां गृत्समद-ऋषि का मन्त्र भी उद्धृत करने योग्य है—

"इन्द्र ! श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां, स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्" ॥६॥

अर्थ—हे परमैश्वर्यवान् ! हमको श्रेष्ठ (अपने बल से कमाया हुआ) धन दे, धन के साधन बल का ज्ञान दे और सौभाग्य अर्थात् सब प्रकार का बढ़िया ऐश्वर्य हमको दे। धनों की (सब प्रकार के ऐश्वर्य की) प्रतिदिन बढ़ती, शरीरों की अरोग्यता, वाणी की मधुरता और जीने के दिनों का सुख से बीतना हमको दे (ऋ० २।२१।६)।

स्त्री हो चाहे पुरुष, हर एक आत्माभिमानी तथा देशाभिमानी मनुष्य का तथा मनुष्यसमुदाय का (जाति का) मुख्य धर्म यह है कि वह आश्रमों को सुव्यवस्थित रखने, आश्रमोचित यज्ञ, दान आदि कर्मों को यावदायु यथासमय यथाविधि करने और यावदायु अपने जीवन को सुख से बिताने के लिये ऐश्वर्य और उसके अचूक साधन बल का भरसक सम्पादन करे, यह उपदेश देने के लिये अब अगले पर्व का आरम्भ है। इस का नाम "कर्मखण्डपर्व" और मन्त्रसंख्या नौ ९ है। उनमें से पहले मन्त्र का पाठ है "कर्मखण्ड की वाणी जोर। तित्थे होर न कोई होर"। कर्मखण्ड का अर्थ यहां कर्म का लोक अर्थात् यज्ञ, दान आदि कर्मों का साधन अर्थात् कारणरूप से आश्रयविशेष ऐश्वर्यरूपी लोक और वाणी का अर्थ भाषा (परिभाषा) अर्थात् मनुष्यकृत संज्ञा या नाम है। जोर बल को कहते हैं! जितना बल जिसके पास है, उसके अनुसार ही उसका ऐश्वर्य होता है और उसके अनुसार ही उसकी संज्ञा होती है–जैसा कि लक्षपति, कोटिपति, ग्रामाधीश, प्रान्ताधीश, देशाधिपति, सेनाधिपति, अमात्य, महामात्य, राजाधिराज, महाराज, सम्राट्, विराट् इत्यादि। यद्यपि ऊपरली दृष्टि से ये सब संज्ञायें मनुष्यों की प्रतीत होती हैं। पर वास्तव में मनुष्यों की संज्ञायें नहीं हैं, किन्तु उनके ऐश्वर्य की संज्ञायें हैं, क्योंकि उसके होने पर ही होती और न होने पर नहीं होती हैं। इसीलिये मन्त्र में ऐश्वर्यवाले मनुष्यों की संज्ञा का कारण बल न कह कर उनके ऐश्वर्य की संज्ञा का कारण बल कहा है। ऐश्वर्य की प्राप्ति में एकमात्र बल का ही उपयोग है, दूसरी किसी वस्तु का उपयोग नहीं, यह इस पहले मन्त्र का आशय ॥१॥

"तित्थे जोध महाबल सूर। तिन में राम रहिआ भरपूर" ॥२॥

कर्म के लोक ऐश्वर्य में, वे ही योद्धा, महाबली, सूरमें (शूरवीर) उत्कर्ष (विजय) को प्राप्त होते हैं, जो शारीरिक-बल, धर्मबल, विद्याबल तथा नीतिबल में श्रीराम के बराबर हैं, या यों कहो कि जिनके अङ्ग अङ्ग में और रोम रोम में शारीरिक-बल, धर्मबल, विद्याबल और नीतिबल के द्वारा साक्षात् श्रीराम जी भरपूर हैं। योगदर्शन के सूत्रों में लिखा है कि "बलेषु हस्तिबलादीनि" अर्थात् हाथी, सिंह, बाघ आदि महाबली पशुओं के बलों में धारणा, ध्यान, समाधि-रूपी दृढ़ भावना नाम का संयम करने से मनुष्यों को हाथी, सिंह, बाघ आदि पशुओं के बल प्राप्त होते हैं

(योग० ३।३३)। योद्धाओं में,बलियों में और ऐश्वर्यवालों में श्रीरामजी सबसे अधिक सर्वमान्य हैं। जो योद्धा, महाबली सूरमें, श्रीराम जी के स्वरूप का स्थिर मन से चिन्तन करते हैं, वे निःसन्देह श्रीराम जी के समान बलवान्, विद्वान्, धर्मज्ञ और नीतिज्ञ होते हैं, उनका ऐश्वर्य निश्चय श्रीराम जी के समान होता है। प्रत्येक मनुष्य को श्रीराम जी के सच्चरित्र, अतुल बल, उत्कृष्ट ज्ञान (विद्या), निष्कपट धर्म और गम्भीर नीति का चिन्तन करते हुए वैसा ही सच्चरित्र, बलिष्ठ, वरिष्ठ, धर्मज्ञ और नीतिज्ञ होना चाहिए, यह मन्त्र का हार्द है ॥२॥

"तित्थे सीतो सीता महिमा माह"। सीतोपमा के अर्थ में यहां "सीतो" उच्चारण छान्दस है, जैसे वेद में इमानि के अर्थ में "इमो" (ऋ० ७।१।१८) उच्चारण। जिस देश में, जिस जाति में, जिस कुल में श्रीराम जी महाराज के समान बलवान्, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, सच्चरित्र और ऐश्वर्यवान् पुरुषव्याघ्र उत्पन्न होते हैं, उस देश में, उस जाति में उस कुल में श्रीमहारानी सीताजी के सदृश रूपवती और पतिव्रता स्त्रियां भी उत्पन्न होती हैं, जिनकी प्रार्थना, ईश्वर से यह होती है—

"मम पुत्राः शत्रुहणो अथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया, पत्यौ मे श्लोकः उत्तमः" ॥३॥

अर्थ—'मेरे घर में शत्रुओं के मारने वाले पुत्र हों और विविध (अनेक प्राकार के) गुणों से चमकने वाली कन्या मेरे घर में हो। मैं अपनी इन्द्रियों को अच्छी तरह जीते हुई (पतिव्रता) होवूं और मेरे पति का ऊँचे से ऊँचा यश सारे लोक में हो (ऋ० १०।१५९।३)। निःसन्देह यह सब माहात्म्य ऐश्वर्य का है। ऐश्वर्य ही देशों में,जातियों में और कुलों में पुरुषशार्दूल पैदा करता और ऐश्वर्य ही स्त्री-रत्न उत्पन्न करता है। इसलिये स्त्री हो चाहे पुरुष, हरएक मनुष्य को समष्टि और व्यष्टि-ऐश्वर्य के लिये सदा लालायित रहना चाहिये और जैसे हो सके, वैसे ऐश्वर्य सम्पादन करना चाहिये,यह रहस्य है। यहां ऐतरेय ब्राह्मण के तेतीसवें ३३ अध्याय का निम्न श्रुतिवाक्या सदा स्मरण रखने योग्य है—

"आस्ते भग आसीनस्य, ऊर्ध्व तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य, चरति चरतो भगः" ॥ ३ ॥

अर्थ—[3]बैठे हुए (घुटनों पर हाथ रख कर बैठे हुए) का [2]ऐश्वर्य बैठ जाता है, उठ कर खड़े हुए का खड़ा होता है। टांगे पसार कर पड़े हुए का (सोये हुए का) सो जाता है, चलने वाले का (पुरुषार्थी का) ऐश्वर्य पीछे पीछे चलता है ॥३॥३।४।१॥

जब ये मनुष्य अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त हुए भी जगत्कर्ता ईश्वर को नहीं भूलते और उसके परम-प्रेम में, उसकी परा भक्ति में पूरे पूरे निमग्न हुए अपने आश्रमोचित सभी कर्मों को सदा कर्तव्यबुद्धि से करते हैं, तब ईश्वर बड़ा प्रसन्न हुआ उन्हें अनुग्रह की दृष्टि से देखता है, उस से उनका ऐश्वर्य लगातार बढ़ता ही रहता है,एक तिलभर भी न्यून नहीं होने पाता । वह बड़ा दयालु है और सर्वदा प्रसन्नमुख है, निष्काम और आप्तकाम है,सच्चा माता-पिता है,उसे अपने सब पुत्रों का कर्तव्यबुद्धि से आश्रमोचित कर्मों को करना बड़ा ही पसन्द है। उसका आनन्दमय स्वरूप जिसे कर्मयोगी भक्त ही देखते हैं,इन्द्रियों के सर्वथा अगोचर है, और वाणी की पहुंच से परे है, उसका वर्णन मनुष्य की शक्ति से बाहर है,यह पर्व के शेष सब मन्त्रों का हृदय है ॥३७॥

वर्णाः वाऽऽश्रमिणो वाऽपि, यज्ञकर्माधिकारिणः ।
ऐश्वर्येण विनाऽशक्ताः, भवन्त्यैश्वर्यशालिनः ॥ १ ॥
ऐश्वर्यं कर्मणो लोकः, इति वेदानुशासनम् ।
धर्मनीतियुतं तस्य, बलमेकं तु कारणम् ॥ २ ॥

———

"अमृतपर्व" ॥३८॥

"[1]जत [2]पहारा, [3]धीरज [4]सुनिआर । [5]अहरन [6]मत, वेदुँ [8]हथिआर ॥१॥ [9]भौ [10]खल्हा [11]अगन [12]तप [13]ताओ। [14]भाण्डा [15]भाओ [16]अमृत [17]तितु [18]ढाल । [19]घड़िये [20]सबद [21]सची [22]टकसाल ॥ २ ॥ [23]जिन को [24]नदर [25]करम [26]तिन [27]कार । [28]नानक [29]नदरी [30]नदर [31]निहाल" ॥३॥३८॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

जितेन्द्रियता निर्माणशाला, विपदि सम्पदि धैर्यं स्वर्णकारः। कूटो मतिरवबोधः, हथारोऽयोघनो वेदो ज्ञानम् ॥ १ ॥ लोक-

शास्त्रेश्वरभयं भेस्त्रा, तपः सुतप्तो अग्निः । भावो भक्तिः=भक्त्या पूर्णं मनो, भाण्डं=मूषानाम-पात्रम् । तत्र परिणामयितव्यम् ईश्वरतत्त्वम् अमृतं सुवर्णम्, अस्यां सत्यरूपायां निर्माणशालायां परिणामितम् अमृतं सदीश्वरतत्त्वं यथाशब्दं यथोपदेशं घटयितव्यं साक्षात्कर्तुं मुहुर्मुहुश्चिन्तयितव्यं निदिध्यासितव्यम् ॥ २ ॥ यैः महाभागैः आत्मकर्मभिः ईश्वरस्य सतोऽमृतस्य कृपादृष्टिः प्रापादि, तेषाम् एतत् कार्यम् । ते कृपालोरीश्वरस्य कृपादृष्ट्या सुफलमनोरथाः सुप्रसन्नाः अमृताः भवन्ति, इति नानकः पश्यति ॥३॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

जितेन्द्रियता पहारा अर्थात् निर्माणशाला है और विपद् तथा सम्पद् में धैर्य (धृति) सुवर्णकार अर्थात् सुनार है। मति अर्थात् वस्तुकी समझ अहरन और वेद अर्थात् वस्तु का ज्ञान हथिआर अर्थात् हथौरा है ॥१॥ लोक, शास्त्र और ईश्वर का भय भेस्त्रा अर्थात् धौकने की खल्ला और द्वन्द्वों का सहनरूपी तप, तपी हुई अग्नि है। ईश्वर की भक्ति से भरपूर मन, ढालने का भाण्डा अर्थात् कुडियाली नाम का पात्र और उसमें ढालने की वस्तु सत्-ईश्वर-तत्त्व अमृत अर्थात् सुवर्ण (सोना) है। इस सच्ची (यथार्थ) निर्माणशाला में ढाला हुआ अर्थात् श्रद्धा-भक्ति के साथ मन से ग्रहण किया हुआ (जाना हुआ) सुवर्णरूपी सदीश्वरतत्त्व, गुरु के शब्द (उपदेश) के अनुसार घड़ना चाहिये अर्थात् निदिध्यासन नाम के बारंबार चिन्तनरूपी अभ्यास से साक्षात् करना चाहिये।।२।। जिन महाभगों ने अपने कर्मों से सत ईश्वर की कृपादृष्टि को प्राप्त किया है, उन्हीं का यह काम है और वे ही कृपालु सत ईश्वर की कृपादृष्टि से निहाल (सुफल-मनोरथ) होते अर्थात् अमरपद को पाते हैं, यह नानक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥३॥३८॥

भाष्य—ईश्वर का स्वरूप मनुष्यों की इन्द्रियों के अगोचर है, मन

और वाणी की पहुंच से परे है, यह ठीक है। पर जो मनुष्य सांसारिक ऐश्वर्य को भोगते हुए भी उसमें लिप्त नहीं हैं, जिन के मन में संसार के जन्ममरण चक्रसे सदा का छुटकारा पाने के लिये जगद्गुरु ईश्वर के दर्शन की तीव्र लालसा है और जितेन्द्रियता आदि सभी साधनों से युक्त हैं, श्रद्धा तथा भक्ति के साथ कर्तव्यबुद्धि से यज्ञ, दान आदि कर्मों को करते हुए भी दर्शन के लिये उपदेष्टा गुरु के उपदेशानुसार ईश्वर के स्वरूपका रात्रिन्दिवा चिन्तन करते हैं, उन पर वह परम दयालु ईश्वर प्रसन्न होता है, अनुग्रह करता है और साक्षात् दर्शन देता है। वे उसके दर्शन से निहाल हो जाते (अमर हो जाते) अर्थात् हमेशा के लिये संसार के जन्मरणरूपी चक्र से छूट जाते हैं, यह कहने के लिये अब अगले पर्व का आरम्भ है। इसका नाम "अमृतपर्व" और मन्त्रों की संख्या तीन है। वक्तव्य अर्थ को दर्शनाभिलाषी ईश्वरभक्तों के मन में ठीक ठीक बैठाने के लिये अमृत-नाम से सुवर्ण और सुवर्णकार का अलङ्कार उपयोग में लाया गया है । अमृत, ईश्वर और सुवर्ण, दोनों का सांझा नाम है और अमृत ईश्वर के साक्षात्कार से अर्थात् अमृत ईश्वर की प्राप्ति से मनुष्य अमृत (अमर) होता है, यह इस सारे पर्व का सार अर्थ है और इसी लिये इसका नाम अमृतपर्व है। जैसे सुवर्णकार कटक, कुण्डल आदि अनेक रूप से दृश्यमान सुवर्ण के विशुद्ध (निर्मल) तात्त्विक(वास्तव)स्वरूप का दर्शन करना (पाना) चाहता हुआ कुडियाली नाम के पात्रविशेष में डालकर उसको तीक्ष्ण अग्नि के प्रचण्ड ताप से तपाता और ढालता अर्थात् पिघलाता है और पुनः (फिर) उसको अयोघन (अहरन) पर रख कर हथौड़ा से बारंबार घड़ कर (कूटकर) उसके विशुद्ध वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता (पाता) है, वैसे ही मुमुक्षु भक्त, जब सुवर्णरूपी ईश्वर के विशुद्ध निर्मल वास्तविक स्वरूप का दर्शन पाना (साक्षात्करना) चाहता हुआ उसको श्रद्धाभक्ति से भरपूर मनरूपी कुडियाली पात्र (भाण्डे) में डाल कर अर्थात् मन से ठीकठीक जानकर उपदेष्टा गुरुके उपदेशानुसार वारंवार घडता (कूटता) अर्थात् उसका वारंवार ध्यान (चिन्तन) रूपी निदिध्यासन करता है, तब ईश्वर प्रसन्न हुआ अपने कर्मयोगी भक्त को अपने वास्तव-स्वरूप का दर्शन देता है। बस दर्शन पाते ही भक्त निहाल (अमृत) हो जाता अर्थात् हमेशा के लिये जन्ममरण के भय से मुक्त हो जाता है। इसका

वर्णन अथर्व-संहिता के मन्त्र में इस प्रकार किया है—

"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चन ऊनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः,आत्मानं धीरम् अजरं युवानम्"।

अर्थ—इच्छा से रहित, धैर्यवाला, अमृत अर्थात् न मरने वाला, अपने आप होने वाला, आनन्द से पूर्ण और जो किसी से भी न्यून नहीं है। उस ही न जीर्ण होने वाले, सदा युवा, सदा बुद्धिवाले आत्मा (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) को जानता हुआ मृत्यु से नहीं डरता अर्थात् जन्ममरणके भय से मुक्त हो जाता है (अथर्व १०।८।४४)।

यजुःसंहिता के मन्त्र में कहा है कि दर्शन पाते ही कर्म योगी भक्त साक्षात् अमृत ईश्वर हो जाता है। मन्त्र यह है—

"परि द्यावापृथिवी सद्यः इत्वा परि लोकान परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य, तदपश्यत तदभवत् तदासीत्"।

अर्थ—द्युलोक और पृथिवीलोक, दोनों की झटिति अर्थात् मरने से पहले परीक्षा करके (निःसार जान कर),और रात्री में दृश्यमान सब तारागणों की परीक्षा करके, उनकी दिशाओं तथा उपदिशाओं की परीक्षा करके, दृश्य अदृश्य सब पदार्थों की परीक्षा करके, सद् ब्रह्म (ईश्वर) के फैलाये हुए माया-जाल को चीरकर उस ब्रह्म को देखता है और वही होजाता है, क्योंकि वही था (यजु० ३२।१२)।

कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् के निम्न श्रुतिवाक्यों में भी कहा है कि ईश्वर का दर्शन पाने वाला पानी में पानी की नाई ईश्वर में मिल जाता है—

"यथा उदकं शुद्धे शुद्धम् आसिक्तं, तादृग् एव भवति । एवं मुनेः विजानतः आत्मा भवति गौतम !" (कठो० २।४।१५) ।

अर्थ—जैसे निर्मल पानी निर्मल पानी में डाला हुआ वैसा ही हो जाता है। ऐसे सद् ब्रह्म ईश्वर को जानने वाले मुनि का आत्मा हे-गोतमवंशी ! ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मरूप (ईश्वररूप) हो जाता है।

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"।

अर्थ—जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में लीन हो जाती हैं, अपने अपने नाम और रूप (आकार) को छोड़ कर। वैसे ब्रह्म का

अर्थात् सर्वान्तरात्मा ईश्वर का जानने वाला, नाम और रूप से अत्यन्त छूटा हुआ परले से (अव्यक्त प्रकृति से) परले अद्भुत पुरुष परमात्मा में मिल जाता है (मुं० ३ । २ । ८) ।

यहां बृहदारण्यकोपनिषद् का यह श्लोक भी स्मरण रखने योग्य है—

"इह एव सन्तोऽथ विद्मस्तद् वयं, न चेद् अवेदीः महती विनष्टिः ।
ये एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति, अथ इतरे दुःखमेवापियन्ति"।

अर्थ—अब हम इस लोक (शरीर) में होते हुए (रहते हुए) ही उस (ब्रह्म) को जान सकते हैं, यदि न जाना, तो बड़ा विनाश अर्थात् बारंबार मरना है । जो इस (ब्रह्म) को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं और दूसरे, दुःख ही दुःख पाते हैं (मुं० ४।४।१४)॥३॥३८॥

असक्तः सर्वदैश्वर्यैः, पुत्रैर्दारैर्गृहैर्वृतः ।
रक्षाविस्तारयोस्तस्य, लग्नो ज्ञानेन संयुतः ॥१॥
तुल्यो द्वन्द्वेषु सर्वेषु, भक्त्या कर्मणि वर्तते ।
वर्तयन् निखिलान् लोकान्, सोऽमृतं पदमश्नुते ॥२॥

"उपसंहारश्लोक" ॥१॥

"पवन गुरु पानी पिता, माता धरत महत ॥ १ ॥
दिवस रात दुए दाई दाया, खेले सगल जगत ॥ २ ॥
चंगिआईआ बुरिआईआ वाचे धरम हदूर ॥३॥ करमी आपो आपनी, के नेडे के दूर ॥४॥ जिन्नी नाम ध्याया गये मसक्कत घाल ॥५॥ नानक ते मुख उज्जले, केती छुट्टी नाल" ॥६॥१॥

संस्कृतभाषानुवाद ।

पवनः पावनो जगत्कर्ता ईश्वरो गुरुः, आपो द्यौः पिता, महती पृथिवी माता ॥१॥ दिवसो रात्री द्वौ धात्री-धातरौ, तयोः उपस्थे बालः इव सकलं चराचरं जगत् क्रीडति ॥२॥ स्वैः स्वैः कर्मभिः अर्जितानि पुण्यानि पापानि तस्य सत्काराहो धर्मराजो

वाचयति ॥३॥ वाचयित्वा चोभयानि तानि, केभ्यो नेदिष्टे केभ्यश्च किञ्चिद् दूरे यथायथं फलं ददाति ॥ ४॥ यैः, ईश्वरस्य नाम ध्यातं=त्वमेव नः शरणमिति कृत्वा चिन्तितं, ते कर्मयोगिनो भक्ताः, तस्यानुग्रहदृष्ट्या, कष्टानि=दुःखानि सर्वाणि समूलघातं घातयित्वा, अमृतं सदीश्वरतत्त्वं गताः सरितः इव समुद्रं प्राप्ताः॥५॥ ते महापुण्यात्मानो महाभागाः अत्रामुत्रोभयत्र उज्ज्वलमुखाः निर्मलाननाः अभूवन्, तैश्च सार्धं कियती प्रजाः जन्ममरणदुःखात् संसारादमुच्यत, सदमृतमीश्वरतत्त्वमगादिति नानकः पश्यति॥६॥१॥

हिन्दीभाषानुवाद ।

पवन अर्थात् सब को पवित्र करने वाला जगत्कर्ता ईश्वर गुरु है, पानी अर्थात् पानी का दाता द्यौ अर्थात् द्युलोक पिता और सदा पूजा के योग्य, धरती अर्थात् पृथिवी, माता है॥१॥ दिन और रात, दाई और दाया हैं, दोनों की गोदी में, यह सब चराचर जगत् बालक की नाईं खेलता है ॥ २ ॥ यहां अपने अपने कर्मों से इकट्ठे किये हुए हर एक के पुण्यों और पापों को माननीय धर्मराज बांचता और उनका फल सुख तथा दुःख, कईओं को तुरत और कईओं को दूर अर्थात् कुछ काल पीछे देता है ॥४॥ जिन्होंने ईश्वर का नाम सदा ध्याया है अर्थात् दूसरे सब सहारों को छोड़ कर केवल एक ईश्वर के सहारे का चिन्तन करते हुए सदा कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को किया है, वे ईश्वर की अनुग्रहदृष्टि से संसार के सब कष्टों को अर्थात् जन्ममरणरूपी दुःखों को मूल-सहित नष्ट (दूर) करके अमृतरूपी ईश्वरतत्त्व को पहुंचे गये अर्थात् मुक्त हुए हैं॥५॥ वे यहां और वहां, दोनों लोकों में उज्ज्वल मुख हैं और उनके साथ कितनी ही दूसरी प्रजा संसार के जन्ममरणरूपी कष्टों(दुःखों) से छूट गई अर्थात् नदियों की नाईं सदीश्वररूपी समुद्र में

मिल गई है, सदीश्वर में मिल गई है,यह नौनक का दर्शन अर्थात् नानक की दृष्टि है ॥६॥१॥

भाष्य—जो मनुष्य सच्यार हुए अर्थात् सब आश्रयों को छोड़कर एक सत्य ईश्वर के आश्रय हुए, कर्तव्यबुद्धि से कर्मों को करतेहैं, अनेक प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्य को रखते हुए और भोगते हुए भी उस में आसक्त (लिप्त) नहीं हैं, जितेन्द्रिय, तपस्वी, सच्चरित्र और धीर, वीर, बलवान्, विद्वान्, धर्मज्ञ, नीतिज्ञ और समदर्शी हैं, ईश्वर के सच्चे भक्त हैं, उसके भाणे (इच्छा) में सदा खुश हैं, उसके नाम का सदा प्रेमके साथ उच्चारण करते और उसके स्वरूप का सदा ध्यान (चिन्तन) करते हैं,मन में उसके साक्षात् दर्शन की अत्यन्त चाह(लालसा) है,वे धन्य हैं,उनके माता पिता धन्य हैं । निःसन्देह परमदयालु ईश्वर उनको अपना दर्शन देता है, वे दर्शन पा कर केवल आप ही सदा के लिये संसार के जन्ममरण रूपी चक्र से नहीं छूटते, किन्तु अपने संगी साथियों को भी छुडाते हैं । वे यहां और वहां,दोनों लोकों में उज्ज्वल-मुख हैं,निर्मलयश हैं,सदा अनुकरीण और वन्दनीय है,यह अब अन्त के श्लोकमें कहा जाता है । इस श्लोक के छे ६ पाद हैं । उनमें से पहले पाद का पाठ है—"पवन गुरु पानी पिता,माता धरत महत"। पवित्र करने वाले का नाम पवन है । वायु, सब को पवित्र करता है, इसलिये उसको पवन कहते हैं । ईश्वर पवित्र करने वालों का भी पवित्र करने वाला है, इसलिये ईश्वर का नाम भी पवन है । जैसे देवदत्त के शरीर का अन्तरात्मा, देवदत्त नाम से कहा जाता है, वैसे वायु आदि जड़ चेतन सब पदार्थों का अन्तरात्मा होने से ईश्वर भी वायु आदि नामों से कहा जाता है । इसी अभिप्राय से यह कहाहै—

"तदेव अग्निः, तदादित्यः, तद् वायुः तद् उ चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म, ताः आपः, स प्रजापतिः" (यजु० ३२ । १) ।

अर्थ—वह (सर्वान्तरात्मा ब्रह्म) ही अग्नि है, वही सूर्य, वही वायु और वही चन्द्रमा है । वह ही तेजस्वी क्षत्रिय, वही ब्राह्मण, वही यज्ञ और वही फल का दाता प्रजापति है ॥१॥

उपदेष्टा का नाम गुरु है। ईश्वर उपदेष्टाओं का भी उपदेष्टाहै,इस

लिये कहा है "पवन गुरु"। आकाश के जिस प्रदेश (भाग) को सूर्य, अपनी रश्मियों से पूरा पूरा घेरे हुआ है, उसको द्यौ या द्युलोक कहते हैं। सूर्य की रश्मियां भूमि के पानी को ऊपर ले जा कर द्युलोक में इकट्ठा करती हैं और वहां से वह कुछ काल के पीछे अन्तरिक्षलोक में मेघ बनकर वर्षा(वृष्टि)के रूपमें भूमि पर आता है। इस प्रकार पानी की वृष्टि करने वाला होने से द्युलोक पानी कहा जाता है। सूर्य की किरणां भूमिष्ठ पानी को ऊपर द्युलोक में ले जाती हैं और वह फिर वृष्टि के द्वारा भूमि पर आता है, यह ऋक्संहिता के निम्न मन्त्र से स्पष्ट है—

"अमूः याः उत सूर्ये, याभिः वा सूर्यः सह। ताः नो हिन्वन्तु अध्वरम्" अर्थात् वह जो पानी सूर्य के समीप द्युलोक में है, अथवा जिस पानी के साथ सूर्य है। वह पानी वृष्टि के द्वारा हमारे यज्ञ में अर्थात् हमारी भूमि पर आवे (ऋ० १।२३।१७)।

निरुक्त के कर्ता यास्क मुनि ने पिता का अर्थ पालक (निरु० ४।२१) किया है। द्युलोक वृष्टि के द्वारा स्थावर-जंगम सब भूतों की पालना करता है, इसलिये पिता है। यहां धरित्री का धरती और धरती का धरत उच्चाण तथा महती का महत उच्चारण छान्दस है, जैसे भूमि का भूम (ऋ०१।८५।५) उच्चारण। माता का निर्माता अर्थ है। धरती अर्थात् पृथिवी अन्न,फल आदि के द्वारा जड़ चेतन सब भूतों के शरीरों को बनाती है, इसलिये माता है। माता सदा पूजा के योग्य होती है,इसलिये धरती को महती अर्थात् पूजनीय कहा है। ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने द्युलोक को पिता और पृथिवी को पूज्य माता कहा है—"द्यौः मे पिता, माता पृथिवी महीयम्" अर्थात् द्यौ (द्युलोक) मेरा पिता और यह पृथिवी मेरी पूजनीय माता है (ऋ०१।१६४।३३)। मान के पुत्र अगस्त्य ऋषि ने भी अपने मन्त्र में सब को सम्बोधन करके ऐसा ही कहा है"द्यौः वः पिता,पृथिवी माता"अर्थात् द्यौ तुम सबका पिता और पृथिवी माता है (ऋ० १।१९१।६)।

यहां ऋक्संहिता के ये दो मन्त्र भी स्मरण रखने योग्य हैं—

"द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति, यदन्तरा पितरं मातरं च" (ऋ०१०। २२। १५)।

अर्थ—मैं ने मनुष्यों के लिये दो मार्ग सुने हैं—एक पितरों अर्थात् कर्मियों का मार्ग, जिसका नाम पितृयाण है और दूसरा देवों अर्थात् उपासकों का मार्ग, जिसका नाम देवयान है। उन दोनों मार्गों से यह सब मनुष्यवर्ग जाता हुआ लगातार चला जाता है, जो माता पृथिवी और पिता द्यौ के अन्दर है ॥ १५ ॥

"तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं, तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः" (ऋ० १ । ८९ । ४) ।

अर्थ—सब का प्राण अर्थात् सबका जीवन अन्तरात्मा ईश्वर हमें वह अपना स्मरण-रूपी औषध, जो यहां वहां सुख को देने वाली है, सदा दे, वही (औषध) माता पृथिवी और वही पिता द्यौ हमें दे ॥४॥

श्लोक के शेष सब पदों का अर्थ अनुवाद से स्फुट है ॥१॥

यो दर्शनेषु सर्वेषु, वेदान्तादिषु विस्तराम् ।
अकरोद् वैदिकीं वृत्तिं, मूर्तिपूजामथापराम् ॥ १ ॥
सन्ध्यायाः वैदिकं भाष्यं, तथा स्वाध्यायसंहिताम् ।
आतनोद् वेदसर्वस्वं, लघ्वीं च सामसंहिताम् ॥ २ ॥
गुरूणां श्रीमतां प्रीत्यै, सोऽयं विद्वद्वराग्रणीः ।
श्रीजपसंहिताभाष्यं, व्यदधाद् वैदिको मुनिः ॥३॥
हेयं वा तदुपादेयं, मानमत्र मनीषिणः ।
अदोषाः गुणदोषज्ञाः, साधवो गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्यनिखिलशास्त्रनिष्णात-
पण्डितस्वामिहरिप्रसादवैदिकमुनिकृतं
जपसंहिताभाष्यम् ।

पृष्ठं	पंक्तिः	शुद्धम्	अशुद्धम्
६	१६	अवतीर्णम्	अवातीर्णम्
१६२	१३	नन्तरूपं सुरासुराः	नन्तं रूपं सुरासुराः
१७२	७	देवांश्चकुः	देयांश्चकुः

श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णात-पण्डित-
स्वामी हरिप्रसाद-वैदिकमुनि जी की
बनाई हुई पुस्तकें—

१—वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः	५।)
२—न्यायसूत्रवैदिकवृत्तिः	२॥=)
३—वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्तिः	१॥=)
४—सांख्यसूत्रवैदिकवृत्तिः	१)
५—योगसूत्रवैदिकवृत्तिः	॥।)
६—वैदिकसन्ध्याभाष्यम्	॥)
७—इषे त्वा-ऊर्जे त्वा-भाष्यम्	=)

———

८—वेदसर्वस्व	१)
९—सामवेद-भाषानुवादसहित	।)
१०—हिन्दुजाति का परमधर्म	।–)
११—वैदिकसन्ध्या-भाषानुवादसहित	)॥
१२—योगदर्शन-भाषानुवादसहित	।–)
१३—स्वाध्यायसंहिता अर्थात् हिन्दुधर्मपुस्तक	४।)
१४—हिन्दु-नाम	=)
१५—जपसंहिता अर्थात् जपजी-भाष्य	१।)

मिलने का पता—

मैनेजर—महेशौषधालय,

पोस्ट-बक्स नं० १४

पापड़मण्डी, शाहआलमी गेट, लाहौर।